एक सिंहावलोकन

जैन धर्म एवं वैदिक धर्म
की
सांस्कृतिक एकता

जैन धर्म एवं वैदिक धर्म की सांस्कृतिक एकता

लेखक:

संघशास्ता, जैनशासनसूर्य, आचार्यकल्प गुरुदेव मुनिश्री रामकृष्ण जी महाराज के सुशिष्य, विद्यावाचस्पति, संघशास्ता

आचार्य श्री सुभद्र मुनि जी महाराज

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन

नई दिल्ली-110 002

पुरोवाक्

इस दुनिया में अशांति व तनाव का जो वातावरण है, उसका प्रमुख कारण है– सत्य को न जानना। सारी कठिनाइयों व समस्याओं का मूल है– सत्य की जानकारी न होना। सत्य का यथार्थ दर्शन ही वह प्राथमिक भूमिका है जहां से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। भगवान् महावीर ने कहा– सच्चं खु भगवं (प्रश्नव्याकरण– 2/2), अर्थात् सत्य ही भगवान् है। सत्य का दर्शन भगवान् का साक्षात्कार है। सत्य और भगवान् की समता का सम्भवतः एक कारण यह है कि जैसे भगवान् निर्विकार होते हैं, वैसे ही सत्य का स्वरूप भी निर्विकार व पक्षपातहीन होता है। राग-द्वेष के विकार सत्य पर असत्य की कलंकित छाया (आवरण) डाल देते हैं और सत्य के यथार्थ दर्शन में बाधक बनते हैं। विकारग्रस्त व्यक्ति को सत्य का दर्शन नहीं हो पाता। वह कभी-कभी असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझ बैठता है।

सत्य के दर्शन में बाधाएं

कोई भी वस्तु स्वयं में अच्छी या बुरी नहीं होती। वस्तु का मात्र वस्तु रूप होना 'सत्य' है। किन्तु सांसारिक व्यक्ति रागवश उसे अच्छा मानता है। जब कि द्वेषवश दूसरा व्यक्ति उसे

बुरा समझता है। उस वस्तु पर अच्छा या बुरा होने का आरोप उस वस्तु के यथार्थ दर्शन को आवृत कर देता है। इसीलिए उपनिषद् का ऋषि प्रार्थना करता हैः— **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये** (बृहदा. उप.—5/15/1), अर्थात् 'स्वर्णिम पात्र ने सत्य को ढक रखा है, हे सूर्य! उस आवरण को हटाएं ताकि सत्य-धर्म (स्वरूप) को मैं देख सकूं'।

सत्य की दर्शिकाः अनेकान्त दृष्टि

दर्पण यदि धुंधला है, उस पर परदा पड़ा है, या वह स्थिर नहीं है तो प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्ट नहीं उभरेगा। इसी तरह, मन रूपी दर्पण में यदि आग्रह, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, आसक्ति, पक्षपात-भावना आदि के आवरण हों या उन विकारों द्वारा मन डावांडोल हो, अस्थिर हो तो सत्य स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित नहीं हो पाएगा।

भगवान् महावीर के धर्म-शासन की जो विरासत हमें प्राचीन आचार्य-परम्परा के माध्यम से मिली है, उसमें सत्य को जानने-समझने की प्रमुख पद्धति का भी संकेत है। वह पद्धति है— एक ही वस्तु में विरोधी बातों के सह-अस्तित्व को स्वीकारना। विरोधों का सह-अस्तित्व सत्य का आधारभूत स्वभाव है। अनेकान्त दृष्टि सापेक्ष दृष्टि को विकसित करती है, हमारे आग्रह-दुराग्रह या एकांगी मान्यता का निवारण करती है और सत्य तक पहुंचने में व्यक्ति को सक्षम बनाती है। वह अनेकता में एकता को देखने का, विरोधों में भी समन्वय-सामंजस्य ढूंढ़ने का मार्ग प्रशस्त करती है और सहिष्णुता के सुखद वातावरण का निर्माण करती है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अनेकान्त दृष्टि को व्यावहारिक पृष्ठभूमि में इस प्रकार समझाया हैः—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।

अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननिव गोपी॥

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय– 225)

सारांश यह है : एक ग्वालन दूध से मक्खन निकालने की प्रक्रिया में लगी है। वह दूध बिलौते हुए एक हाथ आगे ले जाती है, फिर दूसरा पीछे लाती है। इस प्रकार, दोनों हाथों को क्रमशः आगे-पीछे लाने की प्रक्रिया चलती रहती है। रस्सी का एक छोर आगे आता है तो दूसरा छोर पीछे हो जाता है, फिर वही छोर आगे आ जाता है। दोनों ही छोर ग्वालिन के हाथों में रहते हैं। उक्त क्रमिक प्रक्रिया से ग्वालिन को मक्खन की प्राप्ति होती है। यदि वह ग्वालिन रस्सी के एक ही छोर को पकड़े रखे तो मक्खन कभी नहीं निकल पाएगा।

इसी तरह, किसी वस्तु के एक धर्म को प्रमुखता देते हुए दूसरे विरोधी धर्म को गौण रूप में स्वीकारना, और पुनः उसी गौण धर्म को प्रमुखता देते हुए प्रमुख धर्म को गौण रूप में रखना– इस प्रकार दोनों ही धर्मों को क्रमशः प्रमुखता देना– यह एक प्रक्रिया है जिससे नवनीत रूप वस्तु-स्वरूप 'सत्य' की उपलब्धि हो पाती है। दुराग्रहपूर्वक एक ही बात (कथन) को सही समझने और दूसरे को नकारने से सत्य-दर्शन बाधित ही होगा।

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त-दृष्टि का अनुयायी व्यक्ति वस्तु-सम्बन्धी दो विरोधी विचारों को एक ही सत्य के दो अंगों के रूप में मानता है और तटस्थ होकर समन्वित व समग्र वस्तु-स्वरूप को– उसके सत्य को जानने-देखने का प्रयास करता है।

अध्ययन-अनुसन्धान की उदार जैन दृष्टिः

सत्य की अन्वेषणा जिज्ञासा व स्वाध्याय के माध्यम से प्रारम्भ होती है। जैन परम्परा में स्वाध्याय को एक महान् तप माना गया है—(**न वि अत्थि न विअ होही सज्झायसमं तवो कम्मं, बृहत्कल्पभाष्य**–1169) संसार से प्रव्रजित हो चुके मुनि के लिए भी अपेक्षित है कि वह जीवन-चर्या को ध्यान व स्वाध्याय— इन दोनों में नियोजित करे (द्र. उत्तराध्ययन–26/12)। स्वाध्याय की महत्ता तथा सत्य को भगवान् का रूप मानना— ये दोनों बातें जैन-परम्परा में सत्यान्वेषण की प्रियता को रेखांकित करती हैं।

यहां यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि उक्त स्वाध्याय क्या जैन ग्रन्थों का ही किया जाय या अन्य परम्परा के ग्रन्थों का भी किया जाय। इस विषय में मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि जैन परम्परा उदारवादी रही है, वह स्वाध्याय को सीमित दायरे में नहीं बांधती है। जैन अनेकान्त दृष्टि ने अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र में उदार दृष्टि का सूत्रपात किया है और धर्मसंघ में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र को व्यापक बनाया है। मैं प्रांसगिक रूप में कुछ तथ्य यहां रखना चाहता हूं।

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज ने 'आचार्य' के लिए स्वसमयवित्, परसमयवित् तथा नानाविधदेशभाषाविज्ञ होना अपेक्षित माना है (द्र.जैनतत्त्वकलिका, पृ.–174-179), अर्थात् उसे जैन व जैनेतर— दोंनों के सिद्धान्तों का तथा अनेक भाषाओं का भी ज्ञाता होना चाहिए।

आ. सिद्धसेन (ई. 5वीं शती) ने भी स्पष्ट कहा था— ज्ञेयः परसिद्धान्तः (द्वात्रिंशिका, 8/19) अर्थात् अन्य परम्परा के सिद्धान्तों को भी जानना-पढ़ना चाहिए। आ. जिनभद्र गणि (ई. 5-6 शती) ने भी विशेषावश्यक भाष्य में स्वाध्याययोग्य शास्त्रों

के सम्बन्ध में एक व्यापक व उदार दृष्टि प्रस्तुत की है—

जेण सुहप्पज्झयणं अज्झप्पाणयणमहियमयणं वा।

बोहस्स संजमस्स व मोक्खस्स व जं तमज्झयणं॥

(विशेषावश्यक भाष्य– 958)

अर्थात् (यथार्थ) अध्ययन (स्वाध्याय) वह है जिससे चित्त निर्मल हो, अथवा जो चित्त-वृत्ति को अध्यात्म में नियोजित करे, तथा जिससे सज्ज्ञान, संयम व मोक्ष की प्राप्ति होती हो। तात्पर्य यह है कि संयम-साधना व मोक्ष-साधना के अलावा सज्ज्ञान की प्राप्ति हेतु किया गया स्वाध्याय ही यथार्थतः स्वाध्याय है। स्पष्ट है कि उक्त अध्ययन जैन ग्रन्थों का भी हो सकता है और जैनेतर ग्रन्थों का भी, बशर्ते सज्ज्ञान प्राप्त हो।

सर्वमान्य 'सत्य' के अन्वेषण की प्रेरणा :

जैनेतर शास्त्रों के अध्ययन को जैन परम्परा ने समर्थन तो दिया, किन्तु शर्त के साथ। शर्त यह थी कि समीचीन दृष्टि रख कर ही अध्ययन-मनन-अनुसन्धान किया जाय। समीचीन दृष्टि से तात्पर्य है कि सत्य को, मात्र सर्वमान्य तथ्य को, तटस्थ भाव से ग्रहण करने की दृष्टि। यह दृष्टि तभी सम्भव है, जब हम विभिन्न धर्मों में, परम्पराओं में जो सर्वमान्य तथ्य हैं, जो साम्य-सूत्र हैं, उसे ग्रहण करने की भावना रखें। इस दृष्टि के सद्भाव में, किसी भावी विवाद या विरोध की सम्भावना नहीं रहती, अपितु परस्पर-समन्वय का स्वस्थ वातावरण ही निर्मित होता है। इसीलिए स्वाध्याय का उद्देश्य यह होना चाहिए कि उन सर्वमान्य नैतिक मूल्यों, आदर्शों, सांस्कृतिक मूल सिद्धान्तों को रेखांकित किया जाय जो सर्वमान्य 'अहिंसा धर्म' को परिपुष्ट करने वाले हों। ऐसी ही समीचीन दृष्टि रखकर आचार्य सिद्धसेन ने समस्त शास्त्रों का

अध्ययन-अनुशीलन किया था और उन्होंने अपनी समीचीन दृष्टि को इस प्रकार अभिव्यक्त किया थाः—

सुनिश्चितं नः परतंत्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः।

तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिताः, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥

(द्वात्रिंशिका— 1/30)

अर्थात् (हे जिनेन्द्र!) परकीय (अर्थात् जैनेतर) शास्त्रों की युक्तियों में जो कुछ सुवचन-निधि प्रतिबिम्बित या दृष्टिगोचर हो रही है, वह सब तुम्हारी ही है, तुम्हारे ही उपदेश-रूपी समुद्र से निकली (निधियां ही) हैं। इस प्रकार जिनवाणी की बूंदें ही समस्त विश्व के लिए प्रमाणभूत (सत्य) हैं— यह हमें अब निश्चित हो गया है।

सम्भवतः आचार्य सिद्धसेन ने परस्पर-समन्वय तथा सर्वमान्य सत्य के अन्वेषण की दिशा में यह सर्वप्रथम सफल प्रयास किया था। परवर्ती आचार्यों ने भी यथासमय उक्त परम्परा को जीवित रखते हुए, सभी धर्मों व दर्शनों में अनुस्यूत एकसूत्रता के अन्वेषण का प्रयास जारी रखा और एक समन्वित भारतीय संस्कृति का दिव्य रूप उपस्थापित किया है।

ऐसे सत्प्रयासों की पृष्ठभूमि में जैन आगम 'नन्दीसूत्र' का निम्नलिखित निर्देश भी सदा मार्गदर्शन करता रहा हैः—

चत्तारि य वेया संगोवंगा...... एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं।

(नन्दीसूत्र—4/67)

— अर्थात् सांगोपांग वेद (वैदिक साहित्य) भी 'सम्यक् श्रुत' है (पठनीय-मननीय है), यदि सम्यग्दृष्टि व्यक्ति इन्हें 'सम्यक्त्व' (समीचीन, सत्यान्वेषण की दृष्टि) के साथ ग्रहण करे।

इसी तथ्य को आचार्य जिनदास गणि ने भी इस प्रकार व्यक्त किया हैः

परसमयो उभयं वा सम्मद्दिट्ठिस्स ससमओ चेव।

(विशेषावश्यक भाष्य, 951)

अर्थात् (वैदिक परम्परा का तथाकथित) परकीय सिद्धान्त भी समीचीन दृष्टि वाले के लिए 'स्वकीय' सिद्धान्त ही है।

तात्पर्य है कि सम्यग्दृष्टि अनुसन्धाता-अध्येता व्यक्ति जिस परम सत्य का दर्शन अपने (जैन) शास्त्रों में करता है, वही सत्य उसे अन्य शास्त्रों में भी दिखाई पड़ता है। उसे एक सर्वांगीण-सर्वमान्य सत्य का दर्शन होता है। अतः उसके लिए अपना और पराया शास्त्र– इस प्रकार की भेदरेखा ही समाप्त हो जाती है।

पूज्य गुरुदेव की सत्यान्वेषण की दृष्टि :

मेरी अनन्त-अनन्त आस्था-श्रद्धा के केन्द्र परम श्रद्धेय गुरुदेव आचार्यकल्प मुनिश्री रामकृष्ण जी महाराज सर्वदा भगवान् महावीर के अनेकान्तवाद के प्रबल पक्षधर थे। वे सत्य के आजीवन अन्वेषक रहे। उनका समग्र जीवन पन्थ, सम्प्रदाय व संकीर्ण दीवारों में प्रतिबद्ध न रहकर धार्मिक उदारता व सहिष्णुता के वातावरण की स्थापना में समर्पित था। उन्होंने न केवल जैन आगमों का ही अध्ययन किया, अपितु वैदिक आदि अन्य परम्पराओं के ग्रन्थों व सिद्धान्तों का भी अनाग्रह दृष्टि से गहन अध्ययन किया था। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे, इसीलिए उन्हें विविध परम्परा के ग्रन्थों के पढ़ने-समझने में कोई असुविधा नहीं होती थी।

प्रस्तुत कृति की वैचारिक पृष्ठभूमि :

पूज्य श्री गुरुदेव आचार्यकल्प मुनिश्री रामकृष्ण जी महाराज के पावन सान्निध्य में रहकर समन्वयात्मक अध्ययन व अनुसन्धान की प्रेरणा मुझे प्राप्त हुई। उन्हीं की प्रेरणा व प्रभावक मार्गनिर्देशन में मेरी रुचि समस्त भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अध्ययन व अनुसन्धान में जागृत हुई और प्रस्तुत कृति उसी का एक मूर्तिमन्त रूप है।

प्रस्तुत कृति में वैदिक व जैन– दोनों धर्मों में अनुस्यूत-एकता, एकसूत्रता व समन्वित दृष्टि को रेखांकित करने का मेरा प्रयास रहा है। यद्यपि यह एक प्राथमिक प्रयास है और ऐसे अनेक अछूते आयाम अवशिष्ट हैं, जिन्हें लेकर अभी काफी अध्ययन-अनुसन्धान अपेक्षित है।

वैदिक व जैन– इन दोनों परम्पराओं को एक-दूसरे के निकट लाने और सांस्कृतिक एकता को रेखांकित करने की दिशा में मेरा यह लघु प्रयास है। इस प्रयास में मैं कितना सफल हुआ हूं और यह कृति कितनी सार्थक है– यह निर्णय मैं विज्ञ पाठकों व अनुसन्धाता मनीषियों पर छोड़ता हूं।

–सुभद्र मुनि

प्रथम खण्ड

(पृष्ठभूमि और परम्परा)

॥ अनुक्रम ॥

द्वितीय खण्ड

(जैन एवं वैदिक कथाओं में एकता का स्वर)

तृतीय खण्ड

(सिद्धान्त-समन्वय)

ॐ ॐ ॐ

जैन धर्म एवं वैदिक धर्म की सांस्कृतिक एकता

(एक सिंहावलोकन)

प्रथम खण्ड

पृष्ठभूमि और परम्परा

जैन धर्म और वैदिक धर्म की सांस्कृतिक एकता

(पृष्ठभूमि और परम्परा)

संस्कृति है क्या?

संस्कृति का वास्तविक अर्थ क्या है– इस विषय में अनेक परिभाषाएं विद्वानों की ओर से प्राप्त होती रही हैं। एक विद्वान् के अनुसार, 'संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने आप को परिचित करना 'संस्कृति' है।' एक अन्य विद्वान् के मत में शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढीकरण या विकास अथवा उनसे उत्पन्न अवस्था का नाम 'संस्कृति' है। कुछ विद्वानों ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है– मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि ही 'संस्कृति' है।

भारतीय संस्कृति: सामासिक संस्कृति

भारतीय संस्कृति को समग्र रूप से देखें तो इसमें अनेक सांस्कृतिक विचारधाराओं का एक समन्वित रूप दिखाई पड़ता है। अनेक प्रमुख विचारधाराएं तथा अनेकानेक छोटी-बड़ी उपधाराएं मिलकर एक दूसरे को प्रभावित करते हुए और एक दूसरे से प्रभावित होते हुए विकास-पथ पर बढ़ती रही हैं जिन्हें हम समग्र रूप से भारतीय संस्कृति के रूप में जानते-समझते हैं। संक्षेप में, भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और यह क्रमशः परिष्कृत, विकसित होती रही है।

धर्म क्या है?

भारतीय संस्कृति का प्राण 'धर्म' है। इसीलिए इसे धर्मप्रधान संस्कृति माना जाता है। धर्म की परिभाषाएं पाश्चात्य विचारकों ने इस प्रकार की हैं—

(1) अनन्त का साक्षात्कार करने के लिए, जो आन्तरिक शक्ति प्रयत्न करती है, वह धर्म है। **—मैक्समूलर**

(2) आकाश गंगा के निर्माता तथा अच्छे शासक के प्रति और उसके जीवों के प्रति प्रेम ही मेरा धर्म है अर्थात् ईश्वर और उसके बनाये गये प्राणधारियों से प्रेम करना धर्म है। **—एडम्स**

(3) धर्म वह चेतना है जो उन कर्त्तव्यपरायणों एवं भक्तों में आती है, जो ज्ञान द्वारा उच्चतम मूल्यों को जानकर उनके प्रति सच्चे रहते हैं और शाश्वत तत्त्व के पक्ष में रहकर उनकी सहायता करते हैं। **—जानवेली**

(4) आदर्श लक्ष्य की ओर क्रिया-इच्छा का प्रबल निर्देशन-स्वामित्व ही धर्म है अर्थात् आदर्श की दिशा में उज्ज्वल प्रयत्न धर्म है। **—जे. एस. मिल**

(5) धर्म, एक ऐसे तत्त्व का दिव्यदर्शन है, जो हमारे भीतर-बाहर परे है। जो यथार्थ है किन्तु जिसकी प्राप्ति की प्रतीक्षा है, जिसकी प्राप्ति अन्तिम कल्याण है पर जो हमारी पहुंच के बाहर है जो अन्तिम आदर्श तथा निराशाजनक खोज है। **—ह्वाइट हेड**

(6) धर्म, भाग्य पर शान्तिपूर्ण भरोसा है; दुर्जेय के प्रति शान्ति-युक्त आत्मसमर्पण है, आशंका और दुःख में रहने की प्रवृत्ति है, जीवन से ऊबना तथा मृत्यु के साथ मित्रता है। **—इनाजोनितोबे**

भारतीय विचारकों के अनुसार व्यक्तित्व को, समाज को, परिवार को या राष्ट्र को धारण करनेवाला तत्त्व 'धर्म' है। वह मानवता को परिभाषित करनेवाला, पशु-जगत् से उसे पृथक् रख कर उसकी

विशेषता को रेखांकित करनेवाला आन्तरिक घटक है। वह व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य सम्बन्ध का नियामक है और परिवार, समाज व राष्ट्र को एकसूत्रता में बांधने की क्षमता रखता है।

दोनों धर्मों/संस्कृतियों का मौलिक स्वरूप

भारतीय संस्कृति की संघटक विभिन्न विचारधाराओं को प्रमुख रूप से दो प्रमुख वर्गों में बांटा जा सकता है। वे हैं– (1) यज्ञीय संस्कृति तथा (2) आत्मविद्या-प्रधान संस्कृति। इनमें वैदिक धर्म व वैदिक संस्कृति में मूलतः यज्ञीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व दृष्टिगोचर होता है तो जैन (श्रमण) धर्म व जैन संस्कृति के मूल में आत्मविद्या की प्रधानता है। कुछ विद्वानों के मत में वैदिक संस्कृति मूल में प्रवृत्तिप्रधान धर्म से जुड़ी है तो जैन संस्कृति मूलतः निवृत्तिप्रधान धर्म को आत्मसात् किए हुए है। सर्वप्रथम, दोनों धर्मों की मौलिक मान्यताओं को प्रमुख वैचारिक बिन्दुओं के रूप में उपस्थापित करना उपयोगी होगा–

वैदिक धर्म/संस्कृति की मान्यता	जैन धर्म/संस्कृति की मान्यता
1. धर्म-आचार के विषय में वेद की ही सर्वोच्च प्रामाणिकता है।	1. सर्वज्ञ तीर्थंकर और उसकी वाणी की सर्वोच्च प्रामाणिकता है।
2. यज्ञीय विधान को प्राथमिकता और उसमें हिंसा भी मान्य है।	2. तप व कर्म-नाशक विधि-विधानों की प्राथमिकता और प्रत्येक कार्य में अहिंसा को यथाशक्ति प्रमुखता देना।
3. सृष्टि दैवी शक्तियों से संचालित/नियन्त्रित है, और सृष्टिकर्ता ईश्वर है– यह मानना।	3. सृष्टि अनादि व अनन्त है। ईश्वर या परमेश्वर वह सर्वोत्कृष्ट आत्मा है जो वीतराग हो और कर्म-कलंक से शुद्ध हो।
4. ईश्वर संसार पर करूणा कर, धर्म-मर्यादा की स्थापना हेतु अवतार लेता है और दुष्ट-संहार व भक्त-त्राण करता है।	4. ईश्वर वीतराग होता है और सांसारिक कार्यों से अस्पृष्ट रहता है।
5. वर्ण-व्यवस्था व आश्रम-व्यवस्था के अनुरूप जीवन-चर्या को समर्थन (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, संन्यास– इनका क्रमशः पालन)।	5. जाति तात्त्विक नहीं है। संन्यास किसी भी आयु में स्वीकार किया ना सकता है।

दोनों परम्पराओं की प्राचीनता

भारतीय संस्कृति के सर्वप्राचीन उपलब्ध साहित्य 'वैदिक साहित्य' में वैदिक व जैन– दोनों परम्पराओं के अस्तित्व के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वेदों में बार्हत और व्रात्य– इन दो विचारधाराओं का उल्लेख मिलता है जो क्रमशः यज्ञीय संस्कृति व आर्हत (श्रमण) संस्कृति की प्राचीनतम रूप प्रतीत होते हैं। यज्ञीय संस्कृति, बार्हत परम्परा, वैदिक धर्म, ब्राह्मण धर्म– ये सब एक ही विचारधारा या परम्परा से अनुस्यूत हैं।

इसी तरह, 'व्रात्य' परम्परा, श्रमण परम्परा, जैन परम्परा भी एक ही परम्परा या विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती हैं। वैदिक-परम्परा के पुराणों में 'असुर संस्कृति' के रूप में भी जिस विचारधारा को प्रस्तुत किया गया है (द्र. महाभारत, 12/227 अध्याय), उसमें भी यज्ञविरोधी या निवृत्तिप्रधान आत्मसाधना की जो विचारधारा अन्तर्निहित है, वह भी श्रमण या जैन संस्कृति का बहुत अंशों में प्रतिनिधित्व करती है, यद्यपि प्रतिरोधी भावना से इसकी प्रस्तुति होने से यह अपने पूर्णतः शुद्ध रूप में अभिव्यक्त नहीं हुई है।

ऋग्वेद (1/85/4) में बार्हत' परम्परा का उल्लेख है जो 'बृहती' अर्थात् 'वेदवाणी' की उपासना करने वाली थी। वैदिक या ब्राह्मण संस्कृति के पुरस्कर्त्ता ये 'बार्हत' ही हैं– ऐसा विद्वानों का मत है। यह परम्परा प्राकृतिक शक्तियों को प्रमुख मानती थी और यज्ञ-भाग के माध्यम से इन शक्तियों की उपासना किया करती थी।

बार्हत परम्परा के समानान्तर प्रचलित विरोधी विचारधारा का व्रात्य-परम्परा के रूप में वैदिक साहित्य में निरूपण प्राप्त होता है। व्रात्य परम्परा की आस्था यज्ञीय विधि-विधानों के प्रति न होकर 'व्रत' (विरति, संयम) के प्रति थी। यह कर्मवाद को मानती थी और कर्म-क्षय हेतु तप या व्रत के अनुष्ठान को प्रधानता देती थी। यह

आत्मवादी विचारधारा की समर्थक थी— अर्थात् यह मानती थी कि 'आत्मा ही परमात्मा है' किन्तु कर्म-कलुषता के कारण वह सामान्य जीव के रूप में संसार में भटक रहा है'। अथर्ववेद के 15 वें काण्ड का नाम 'व्रात्य काण्ड' है जो व्रात्य परम्परा की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराता है।

आचार्य सायण के अनुसार, इस काण्ड में चर्चित 'व्रात्य' एक ऐसे विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है जो वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी होता हुआ भी महान् पुण्यशाली, श्रेष्ठ विद्वान् व विश्वपूज्य अवस्था को प्राप्त हो गया है। विद्वानों के अनुसार, इस काण्ड में जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (जो मुक्ति-पथ पर अग्रसर हैं) की कठोर व्रत-साधना को प्रतीक-भाषा में चित्रित किया गया है। (द्रष्टव्यः उत्तराध्ययनः एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 15)

उक्त व्रात्य परम्परा में ही परवर्ती 'आर्हत', श्रमण, जैन आदि के बीज निहित हैं। प्रसिद्ध इतिहास-विज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने व्रात्यों को 'आर्हत' धर्म का अनुयायी मानते हुए अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं— 'वैदिक से भिन्न मार्ग बुद्ध और महावीर से पहले भी भारतवर्ष में थे। आर्हत लोग बुद्ध से पहले भी थे... और उन आर्हतों के अनुयायी 'व्रात्य' कहलाते थे जिनका उल्लेख अथर्ववेद में हैं' (द्र. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, 1 भाग, पृ. 52)।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में अर्हन्त परमेष्ठी को तुच्छ संसार पर दया करने वाला बताया गया है— **अर्हन् इदं दयसे विश्वमभ्वं** (ऋग्वेद, 2/4/33/1)।

जैन परम्परा में सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले 'अर्हन्त' या 'अर्हत्'/ अर्हन् देव के अनुयायी 'आर्हत' हुए और वे ही श्रमण, समण व जैन संस्कृति के अनुयायी भी कहलाए। इन सब का प्राचीनतम रूप 'व्रात्य' परम्परा के रूप में था।

निवृत्तिप्रधान संयमतपोनिष्ठ श्रमण-परम्परा के अनुयायी तपस्वियों का 'वातरशना' मुनियों के रूप में निर्देश भी ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में है जिससे इस परम्परा की प्राचीनता ही रेखांकित होती है:-

मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिन् यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

(ऋग्वेद- 1/11/136/2)

'वातरशना' से तात्पर्य है- ऐसे कठोर तपस्वी जो वायु पीकर जीवित रहते थे। भागवतपुराण (5/6/19) में वातरशना मुनियों की परम्परा से आदितीर्थंकर ऋषभदेव को जोड़ा भी गया है। अतः यह स्पष्ट है कि निश्चित ही उक्त मुनि कठोर तप-साधना में निरत जैन साधुओं के पूर्वज रहे होंगे। अनेक पुरतात्त्विक साक्ष्य इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि श्रमण-परम्परा वैदिककालीन सभ्यता से भी प्राचीन है। मोहनजोदडो व सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में श्रमण परम्परा की अध्यात्म-साधना के निदर्शन उपलब्ध हुए हैं।

मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त नग्न मूर्तियां और कायोत्सर्ग (अर्थात् खड़ी) मुद्रा में योगी की मूर्ति स्पष्ट रूप से किसी ध्यानस्थ जैन तीर्थंकर की प्रतिमूर्ति प्रतीत होती हैं। प्रसिद्ध इतिहासविज्ञ श्री कामताप्रसाद जैन के विचार में योगी की उक्त मूर्ति तीर्थंकर सुपार्श्व या पार्श्वनाथ की प्रतीत होती है।

एक वैदिक मन्त्र में स्पष्टतः जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव (ऋषभदेव) की स्तुति करते हुए जो उद्‌गार व्यक्त किया गया है, वह जैन संस्कृति की मान्यताओं के सर्वथा अनुरूप है। यद्यपि दार्शनिक वयाख्याकारों ने अपने अपने दर्शनों के अनुरूप व्याख्या करने का प्रयास किया है, तथापि 'वृषभ' शब्द निश्चित ही वृषभ चिन्ह वाले प्रथम तीर्थंकर को संकेतित करता हुआ संगत होता है:-

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

(ऋग्वेद, 4/58/3)

अर्थात् जिस के चार शृंग (अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य) हैं, तीन पाद (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) हैं, दो शीर्ष (कैवल्य और मुक्ति) हैं और सात हस्त (सात व्रत) हैं तथा जो मन, वचन और काय— इन तीन योगों से बद्ध (संयत) है, उस वृषभ (ऋषभ देव) ने घोषणा की है कि महादेव (परमात्मा) मनुष्य के भीतर ही आवास करता है।

एक अन्य वैदिक मन्त्र में 'हिरण्यगर्भ' परमेश्वर की महिमा का गान किया गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजुर्वेद- 13/4, 23/1, 25/1, ऋग्वेद- 1/121/1)

—अर्थात् सर्वप्रथम 'हिरण्यगर्भ' हुए और वे जगत् के एकमात्र स्वामी हुए। उन्होंने पृथ्वी को धारण किया, उस अनिर्वचनीय देव की हम अर्चना करते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र में 'हिरण्यगर्भ' रूप में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की महिमा का निरूपण है। ऋषभदेव का एक नाम 'हिरण्यगर्भ' भी है क्योंकि इनके गर्भ में आने पर सुवर्ण की वृष्टि हुई थी (द्र. आदिपुराण- 12/95)। उन्होंने असि-मसि-कृषि की शिक्षा देकर, विषादग्रस्त धरतीवासियों को सुरक्षा प्रदान की और अमर्यादित-अनुशासनहीन जीवन द्वारा होने वाले उनके भावी संकट का निवारण किया था।

भगवान् ऋषभदेव ने लौकिक विद्या के साथ-साथ अध्यात्मविद्या का भी उपदेश दिया था। सम्भवतः इन्हीं हिरण्यगर्भ व ऋषभदेव को महाभारत (12/349/65) में योग-विद्या का उपदेशक बताया गया है–

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

भागवत पुराण में भगवान् ऋषभदेव को नानायोगचर्या में निरत (भागवत- 5/5/35) बताया गया है। उन्हें योगविद्या का उपदेश देते हुए भी निरूपित किया गया है (भागवत- 5/5 अध्याय)।

इसी प्रकार, जैन परम्परा के 22 वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का भी स्तुतिपरक निरूपण वैदिक मन्त्र में प्राप्त होता है–

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः।

(ऋग्वेद- 1/89/6, यजुर्वेद- 25/19,)

उपर्युक्त निरूपणों से वैदिक काल में भी जैन परम्परा के गौरवमय अस्तित्व की पुष्टि होती है।

हिन्दू संस्कृति यानी भारतीय संस्कृति

आज समग्र भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति के नाम से भी पुकारा या समझा जाता है। 'हिन्दू' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां व अर्थ किये गये हैं, वे सब वैदिक व जैन– दोनों धर्मों या संस्कृतियों की समष्टिगत विशेषताओं व मान्यताओं को ही इंगित करते हैं। अतः दोनों धर्मों को हिन्दू संस्कृति की व्यापक परिधि में ही प्रतिष्ठित समझना चाहिए।

'हिन्दू' शब्द का प्रचलन इस्लाम धर्म के प्रादुर्भाव से भी हजार-डेढ हजार वर्ष पूर्व होने लगा था। ईरानी लोगों में 'स' को 'ह' बोलने की प्रवृत्ति थी, अतः सिन्धु को व 'हिन्दू' पुकारते थे। वे भारतवासियों को, जो सिन्धु नदी के आसपास रहते थे, 'हिन्दू' कहा करते थे। इस शब्द का प्राचीनतम उल्लेख पारसी धर्मग्रन्थ

'अवेस्ता' में प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा के 'कालिका पुराण' में भी हिन्दू-शब्द का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता हैः—

बलिना कलिनऽऽच्छन्ने धर्मे कवलिते कलौ।
यवनैरवनी क्रान्ता हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्॥

— जब बलवान् कलिकाल ने सभी को अपनी चपेट में लेकर धर्म को अपना ग्रास बना लिया, और यवन लोगों ने पृथ्वी पर आक्रमण किया, तब हिन्दू लोग विन्ध्य की ओर प्रस्थान कर गये।

'शार्ङ्गधर पद्धति' में भी इसी भाव का श्लोक मिलता है। निष्कर्ष यह है कि हिन्दू शब्द 'सिन्धु' के समीपवर्ती जाति या समुदाय का वाचक होता हुआ, परवर्ती काल में पूरे भारतीयों के लिए प्रयुक्त होने लगा। अतः वैदिक व जैन— दोनों धर्म इसी क्षेत्र की देन हैं, उपज हैं, इसी क्षेत्रवासियों के पृथक्-पृथक् सांस्कृतिक विचारधाराओं के अंग हैं, इसलिए 'हिन्दू संस्कृति' शब्द को भारतीय संस्कृति का ही पर्याय मानना असंगत नहीं।

हिन्दू कौन?

'हिन्दू' किसे कहें— इस सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों ने विविध विचार प्रकट किए हैं। वीर सावरकर ने निम्नलिखित परिभाषा दी है जो अत्यधिक चर्चा में रही हैः—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव, स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

अर्थात् सिन्धु से लेकर समुद्र-पर्यन्त विस्तृत भू-खण्ड में बसने वाले सभी लोग —जो भारत को पितृभूमि व पुण्यभूमि मानते हैं— 'हिन्दू' कहलाने के अधिकारी हैं।

महात्मा विनोबा जी ने भी 'हिन्दू' की परिभाषा इस प्रकार दी हैः—

हिंसया दूयते चित्तं तेन हिन्दुरुदीरितः॥

अर्थात् जिसका हृदय हिंसा से दुःखी होता है, पीडित होता है, वह हिन्दू कहलाने लायक है।

मगध-दिग्विजय नामक ग्रन्थ में 'हिन्दू' का अर्थ इस प्रकार बताया गया हैः–

ऊंकारमूलमंत्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः।
गोभक्तो भारतगुरुः हिन्दुर्हिंसनदूषकः॥

अर्थात् जो ओंकार (प्रणव) को मूल मन्त्र मानते हैं, पुनर्जन्म में जिनका दृढ विश्वास है, गोभक्त हैं, भारत का गौरव बढाते हैं और हिंसा को पाप (दोष) मानते हैं, वे हिन्दू हैं।

शब्दकल्पद्रुम कोष में 'हिन्दू' का अर्थ इस प्रकार दिया गया है– 'हीनं दूषयति इति हिन्दूः'– जो हीनता को अंगीकार नहीं करता, वह हिन्दू है।

पारिजातहरण नामक एक प्राचीन नाटक का एक श्लोक विद्वानों द्वारा उद्धृत किया जाता रहा है। वह इस प्रकार हैः–

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्।
हेतिभिः शत्रुवर्गं च स हिन्दुरभिधीयते॥

– अर्थात् जो तपस्या से दैहिक व मानसिक पापों को नष्ट करता है और वीरता से शत्रुओं को भी नष्ट करता है, वह (आत्मीय व दैहिक शक्ति का धारक व्यक्ति) हिन्दू है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो वैदिक व जैन –दोनों धर्म हिन्दू संस्कृति या हिन्दू परिवार के अंगभूत सिद्ध होते हैं, क्योंकि इन दोनों के अनुयायियों का भी पुनर्जन्म में विश्वास है, उनकी ऊंकार पर मन्त्र रूप में आस्था है, वे आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट करने वाली तपस्या को अंगीकार करते हैं, हिंसा को पाप एवं अहिंसा को परम धर्म मानते हैं, भारतभूमि को पवित्र एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं तथा हीनाचरण से दूर रहते हैं।

दोनों ही सनातन धर्म :-

वैदिक व जैन– ये दोनों परम्पराएं स्वयं को 'सनातन' धर्म के रूप में विख्यापित करती हैं। महाभारत के अनुसार ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट अहिंसादि धर्म 'सनातन' हैः–

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

– मन, वाणी व क्रिया द्वारा समस्त प्राणियों के साथ कभी द्रोह न करना तथा दया व दान –ये सभी 'सनातन' धर्म हैं। मनुस्मृति (4/138) में भी 'सनातन' धर्म नाम का निर्देश किया गया है।

जैन परम्परा भी तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म को 'सनातन धर्म' के नाम से प्रचारित करती हैः–

ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः।

(आदिपुराण- ५/198)

– सभी प्रकार से इस सनातन धर्म की रक्षा करनी चाहिए।

तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी।

(आदिपुराण- ५/1९)

– तीर्थंकरों ने यह सनातन धर्म-सृष्टि की है।

निष्कर्षतः अहिंसा-धर्म, चाहे वैदिक परम्परा में हो चाहे जैन परम्परा में, सनातन– अनादि मानवीय धर्म है और वह समग्र भारतीय संस्कृति का 'प्राण' है।

भारतीय संस्कृति की समन्वय-प्रियता

भारतीय संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस सांझी संस्कृति से है जिसमें वैदिक/ब्राह्मण व श्रमण/जैन संस्कृतियों का अपूर्व संगम है। इस अपूर्व संगम में भी दोनों संस्कृतियों की मौलिकता सुरक्षित भी है और कालक्रम से हुए परिष्कारों/विचार-परिवर्तनों के कारण

दोनों की वैचारिक एकता के सूत्रों को रूपायित करती हुई सांझी संस्कृति की विचारधारा भी स्पष्ट परिलक्षित हो रही है।

वस्तुतः 'भारतीय संस्कृति' की समन्वय-भावना व पाचन-शक्ति बड़ी ही अद्‌भुत है। उसका लचीलापन ऐसा है जो प्रतिरोधी विचारधारा को आत्मसात् करने में उसे सक्षम बनाती है। इस संस्कृति ने अनेकानेक देशी-विदेशी विचारधाराओं, विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं को आत्मसात् कर अपने को समृद्ध ही किया है।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर डाडवेल ने लिखा है कि 'भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है जिसमें अनेक नदियां आ-आकर विलीन होती रही हैं।' अनेक विचारधाराओं के सम्मेलन से इस संस्कृति में एक विश्वजनीनता उत्पन्न हुई जिसे देखकर सारा विश्व आश्चर्यचकित है।

समन्वय में जैन अनेकान्तवाद की भूमिका

भारतीय सांस्कृतिक विचारों में, विशेषकर दार्शनिक विचारधाराओं में, परस्पर-संघर्ष को मिटा कर उनमें सह-अस्तित्व, सहिष्णुता व उदारता का संचार करने में जैन परम्परा के 'अनेकान्तवाद' की एक बड़ी भूमिका रही है। व्यावहारिक जगत् में प्रत्येक शाब्दिक व्यवहार सापेक्षता से जुड़ा हुआ होता है। वह सापेक्ष कथन वस्तु के पूर्ण सत्य को कहने में अक्षम होता है। वह तो सत्य का आंशिक निरूपण ही कर पाता है। क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है, अर्थात् उसमें परस्पर-विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व है। अतः कोई भी कथन किसी दृष्टिविशेष से, और वस्तु के किसी धर्म-विशेष को प्रमुखता देकर वस्तु का सापेक्ष कथन होता है, इसलिए वह वस्तु के पूर्ण सत्य स्वरूप का वाचक नहीं हो पाता। उक्त सत्य को अनेकान्त दृष्टि हृदयंगम कराती है और एक सापेक्ष कथन-विशेष को सत्यांश मानने के साथ-साथ विरोधी वचन को भी सत्यांश

का दर्जा देती है। विरूद्ध सापेक्ष कथन को भी सत्यांश मानते हुए अपने सापेक्ष कथन को सत्यांश मानना– यह अनेकान्त दृष्टि है। उदाहरणार्थ- वस्तु जहां नित्य है, वहां अनित्य भी है, दोनों में सापेक्ष दृष्टि पृथक्-पृथक् है। अतः 'वस्तु नित्य' यह कथन सत्यांश है तो 'वस्तु अनित्य है' यह कथन भी सत्यांश है। दोनों में परस्पर सहयोग व सहिष्णुता रख कर ही सत्य को पूर्णता या प्रामाणिकता दी जा सकती है।

जैन परम्परा की यह अनेकान्त दृष्टि अनेकता में एकता और एकता में अनेकता को लेकर चलती है। यह सब वादों और विवादों को सुलझा देती है। यह सब कदाग्रहों और हठाग्रहों को दूर हटा देती है। यह वह संजीवनी है जो अभिमान एवं कदाग्रह की व्याधियों को नष्ट कर देती है। यह वह अमृत है जो एकान्त के विष को निष्प्रभावी कर देता है। इस अनेकान्त दृष्टि को न केवल शास्त्रों तक सीमित रखना चाहिए, अपितु जीवन-व्यवहार में भी उतारना चाहिए।

यदि जीवन व्यवहार में अनेकान्त दृष्टि आ जाती है तो सर्वत्र शान्ति ही शान्ति प्रतीत होने लगती है। यदि यह अनेकान्त दृष्टि व्यवहार में नहीं आती है तो वहां क्लेश, विवाद, संघर्ष और अशान्ति ही मची रहती है।

सापेक्षता के सिद्धान्त की स्थापना कर जैन परम्परा ने बौद्धिक अहिंसा का नया आयाम प्रस्तुत किया। उस समय अनेक दार्शनिक तत्त्व के निर्वाचन में बौद्धिक व्यायाम कर रहे थे। अपने सिद्धान्त की स्थापना और दूसरों के सिद्धान्त की उन्मूलना का प्रबल उपक्रम चल रहा था। उस वातावरण में जैन परम्परा ने दार्शनिकों से कहा– 'तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या नहीं है। पर तुम अपेक्षा के धागे को तोड़कर उसका प्रतिपादन कर रहे हो, खण्ड को अखण्ड बता रहे हो, इस कोण से तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है।

अपेक्षा के धागे को जोड़कर उसका प्रतिपादन करो, मिथ्या सत्य हो जाएगा और खण्ड अखण्ड का प्रतीक।' सिद्धसेन दिवाकर ने यही बात काव्य की भाषा में कही है—

उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

(द्वात्रिंशिका- 4/15)

— जैसे समुद्र में सारी नदियां मिलती हैं, वैसी ही तुम्हारे दर्शन में सारी दृष्टियां मिली हुई हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टियों में तुम नहीं दीखते जैसे नदियों में समुद्र नहीं दीखता।

इस प्रकार, अनेकान्तवाद ने विभिन्न विचारधाराओं में परस्पर समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। यही कारण था कि आज विभिन्न दर्शन, परस्पर विचार-भिन्नता रखते हुए भी दार्शनिक क्षेत्र में स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए हैं और एक सांझी संस्कृति के निर्माण में सहयोगी रहे हैं।

दोनों संस्कृतियों/धर्मों में परस्पर समन्वय की पृष्ठभूमि

प्रारम्भ में वैदिक/ब्रह्मण संस्कृति तथा निवृत्तिप्रधान श्रमण/जैन संस्कृति— इन दोनों में उग्र वैचारिक मतभेद था। निश्चित ही यह स्थिति भगवान् महावीर के पूर्व तक तो थी ही। महर्षि पाणिनि (ई. पू. 5 वीं शती, तथा इसके महाभाष्यकार पतञ्जलि) (ई. पू. 2-3 शती) ने दोनों धर्मों के पारस्परिक भेद व विरोध का संकेत भी किया है (द्र. येषां च विरोधः शाश्वतिकः, अष्टाध्यायी सूत्र- 2/4/9, तथा इस पर महाभाष्य— श्रमण-ब्राह्मणम्)। किन्तु, कालान्तर में यह विरोध घटा और दोनों विचारधाराओं में परस्पर-समन्वय के द्वार खुलते गए और फलस्वरूप एक सांझी संस्कृति का सूत्रपात हुआ।

ऐतिहासिक अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि कालक्रम से, दोनों संस्कृतियों में एक दूसरे के विचारों का आदान-प्रदान

होता रहा और उनकी अनेक प्रारम्भिक विचारधाराओं में थोडा-बहुत परिवर्तन-परिवर्धन-परिष्करण होता रहा, यद्यपि दोनों ने अपने मौलिक स्वरूप को अपरिवर्तित रखने का भी प्रयास किया है।

वैदिक धर्म हो या जैन धर्म, दोनों ने परस्पर-समन्वय की दिशा में बढ़ते हुए और एक दूसरे के निकट आने का प्रयास किया है। दोनों धर्मों व संस्कृतियों में परस्पर हुए समन्वयात्मक प्रयास निरन्तर होते रहे हैं और उन प्रयासों ने दोनों की सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात किया है।

यद्यपि समन्वयात्मक प्रयासों के विपरीत, विरोध व प्रतिक्रिया के स्वर भी कभी-कभी प्रबल हुए हैं, किन्तु यहां 'सांस्कृतिक एकता' के समर्थक प्रयासों एवं उनसे होने वाले वैचारिक परिष्कारों/निखारों को रेखांकित करना प्रासंगिक होगा।

उक्त समन्वयात्मक प्रयासों के परिणाम-स्वरूप, संस्कृति का एक समन्वित रूप उभर कर आया है जिसे हम समग्र भारतीय संस्कृति का 'उत्स' कह सकते हैं। इसी उत्स या सार को रूपायित करने वाली सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास आगे किया जा रहा है।

परस्पर बहुमान व उदार दृष्टिकोण:-

समन्वय की भावना से दोनों धर्मों व संस्कृतियों के मध्य संकीर्णता व कट्टरता में कमी आती गई और उदारता व सहिष्णुता का मार्ग प्रशस्त होता गया। उदाहरणार्थ– वैदिक परम्परा के योगवाशिष्ठ ग्रन्थ (वैराग्यप्रकरण, 15/8) में भगवान् राम ने निम्नलिखित उदार उद्गार प्रकट किये हैं–

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु न च मे मनः।
शान्तिमासितुमिच्छामि, स्वात्मनीव जिनो यथा॥

अर्थात् जिस प्रकार, जिनेन्द्र (तीर्थंकर आदि) आत्म-साधना में तल्लीन रहकर परम शान्ति उपलब्ध करते हैं, उसी तरह की मेरी भी इच्छा है। अब मेरा सांसारिक पदार्थों में मन (आसक्ति का भाव) नहीं है और कोई चाह भी नहीं बची है।

उपर्युक्त कथन से वह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि श्रमण/ जैन संस्कृति ने भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन कर, अध्यात्म-साधना की दृष्टि से अपना उत्कृष्ट स्थान बना लिया था।

वैदिक परम्परा में भागवत पुराण (के पंचम स्कन्ध, 3-6 अध्यायों) में श्रमण संस्कृति के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ या ऋषभदेव को एक ऐसे ईश्वरीय अवतार के रूप में वर्णित किया गया है जो वातरशना-पूर्णसंयमी श्रमणों की परम्परा के धर्म का उद्‌बोधन देने के लिए अवतरित हुए थे। भागवत पुराण के एक पद्य (5/6/19) में उनके प्रति नमन करते हुए उनके प्रति पूर्ण आस्था व श्रद्धा इस प्रकार प्रकट की गई हैः—

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः,
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
मारव्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै॥

—अर्थात् चिरकाल से निरन्तर विषय-भोगों की तृष्णा के कारण जो लोग वास्तविक कल्याण से बेसुध हो रहे थे, उन्हें जिसने करुणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश दिया और जो स्वयं आत्म-स्वरूप को उपलब्ध कर सभी तृष्णाओं से मुक्त हो गए थे— उन भगवान् ऋषभदेव को हमारा नमस्कार है।

जैन परम्परा में भी आ. सिद्धसेन (ई. 5 वीं शती), आ. हरिभद्र (ई. 8 वी. शती) एवं आ. हेमचन्द्र (ई. 12 वीं शती) जैसे आचार्यों ने समन्वय व उदारता का मार्ग प्रशस्त किया। प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' ग्रन्थ में जैनेतर विभिन्न

दार्शनिक विचारधाराओं को जैन अनेकान्तवाद की पृष्ठभूमि में जैन परम्परा के अनुकूल/संगत सिद्ध करने का प्रयास किया।

आचार्य हरिभद्र जैसे उदारवादी जैनाचार्यों के उक्त प्रयास के फलस्वरूप समग्र भारतीय संस्कृति में एक समन्वय व परस्पर बहुमान का जो सुखद वातावरण बना, उसके निदर्शन के लिए तो एक शोध-प्रबन्ध पर्याप्त होगा, किन्तु यहां संक्षेप में कुछ निदर्शन देना पर्याप्त होगा।

आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ 'षड्दर्शनसमुच्चय' (के पद्य सं. 8) पर टीकाकार आ. गुणरत्नसूरी (14-15 वीं शती वि.) ने समन्वित भारतीय संस्कृति की विचारधारा को समर्थन देते हुए निम्नलिखित उद्गार प्रकट कियेः—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः, कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यः, ध्यातव्यः परमः शिवः॥

अर्थात् बौद्ध धर्म श्रवण करने योग्य है, कर्तव्यता यानी पुरूषार्थ-सम्पादन की दृष्टि से आर्हत/जैन धर्म उपादेय है, सांसारिक आचार-व्यवहार की दृष्टि से वैदिक धर्म की उपादेयता है और ध्यान-साधना की दृष्टि से परम शिव (वीतरागता के प्रतीक देव) उपादेय हैं।

इसी तरह, आचार्य सोमदेव सूरि (1-11 वीं शती) ने लौकिक आचार-व्यवहार में उदारता-पूर्ण दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त कियाः—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्॥

(उपासकाध्ययन, 34/48)

श्रुतिः शास्त्रान्तरं वाऽस्तु प्रमाणं वाऽत्र का क्षतिः।

(उपासकाध्ययन, 34/477)

अर्थात् अपने सम्यक्त्व (देव, गुरु, व शास्त्र के प्रति श्रद्धा) को आंच न आवे और अपने व्रत-नियम का उल्लंघन नहीं होता हो, ऐसे किसी भी लौकिक आचार-विधि को प्रमाणता या मान्यता देने में कोई हर्ज नहीं है।

– श्रुति (वेद, स्मृति) या जैनेतर कोई भी शास्त्र उक्त वैचारिक पृष्ठभूमि में हमारे लिए मान्य हो सकता है, हमें कोई आपत्ति नहीं है।

उक्त उदारता व सहिष्णुता को और आगे बढाते हुए महाभारतकार ने यहां तक व्यवस्था दी कि जो धर्म दूसरे धर्मों पर आघात करता है या उसका विरोध करता है, वह 'धर्म' ही नहीं है–

धर्मं यो बाधते धर्मः, न स धर्मः कुधर्म तत्।

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः॥

(महाभारत– 3/131/11-13)

निष्कर्ष यह है कि अपनी मौलिक मान्यताओं को अखंडित रखते हुए, अन्य धर्म या उसके अनुयायियों के साथ मिलना-जुलना, तथा उनके क्रियाकाण्डों में सम्मिलित होना जैन संस्कृति में स्वीकारा गया। इस उदारता ने एक साझी संस्कृति के निर्माण को गति दी।

स्वतन्त्र विचारों की दार्शनिक अभिव्यक्ति

भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में सम्भवतः जैन अनेकान्तवाद के प्रभाव से, स्वतन्त्र दार्शनिक विचारों को फलने-फूलने का पूर्ण अवसर मिला। फलस्वरूप वैदिक संस्कृति में मौलिक/प्रारम्भिक विचारधारा से हट कर ऐसे विचारों की भी अभिव्यक्ति प्रबल होती गई जो जैन संस्कृति से साम्य रखते थे या जिन पर उसका प्रभाव परिलक्षित होता था। उदाहरणार्थः–

1. ज्ञानकाण्ड की प्रमुखता तथा यज्ञ-विरोधः–

वैदिक संस्कृति में यज्ञ को प्रधानता प्राप्त थी तो जैन धर्म में आत्म-विद्या या 'ज्ञान' (सम्यक्ज्ञान) की प्रमुखता थी। समन्वय के वातावरण में वैदिक परम्परा ने कर्मकाण्ड की अपेक्षा 'ज्ञानकाण्ड'

का प्रवर्त्तन हुआ। उपनिषत्काल में आत्म-विद्या को प्रमुख देने सम्बन्धी उद्गार प्रकट किये जिनसे उपनिषत्साहित्य भरा-पड़ा है। मुण्डकोपनिषत् (1/1/3-5) में कहा गया कि ऋग्वेद आदि 'अपरा विद्या हैं' किन्तु आत्मविद्या ही 'परा विद्या है' जिससे परमात्म-तत्त्व का बोध होता है। गीता में कहा गया है कि 'वेद' त्रैगुण्य-विषय (भोग-साधनों तक जिनका विषय सीमित है) हैं, किन्तु त्रैगुण्य-रहित होना श्रेयस्कर है (द्र. गीता-2/45)।उत कथन वेद' की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग की सर्वोत्कृष्टता को प्रतिपादित करते हैं।

2. यज्ञ की अवधारणा में परिष्कारः-

वैदिक धर्म में यज्ञीय विधि-विधान को प्रमुखता थी। इसमें की जाने वाली पशु-हिंसा को 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर (वेदोक्त यज्ञ-विधि में होने वाली हिंसा को) हिंसा-दोष से निर्मुक्त बताया जाता था। जैन परम्परा इस हिंसक यज्ञ विधि के पूर्णतः विरुद्ध थी। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के वातावरण का जब निर्माण हुआ तो वैदिक परम्परा में ही हिंसक यज्ञ के विरोध में स्वर मुखर हो उठे। वैदिक पुराणों एवं महाभारत आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया कि यज्ञ में हिंसा शास्त्र-सम्मत व धर्मसम्मत नहीं है (द्रष्टव्यः महाभारतः 13/91/13-16, मत्स्यपुराण- 143/29-3 आदि)।

जैन परम्परा में 'द्रव्य यज्ञ' के स्थान पर 'ज्ञान यज्ञ' या आध्यात्मिक यज्ञ (संयम, तप आदि) मान्य था (द्र. उत्तराध्ययन-12/42-44), तदनुरूप वैदिक परम्परा के महनीय ग्रन्थ 'गीता' में ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता उद्घोषित की गई (श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद ज्ञानयज्ञः, गीता-4/33)। महाभारतकार ने भी स्पष्ट कहा– यज्ञ से भी तप श्रेष्ठ है– तपो यज्ञादपि श्रेष्ठम् (महाभारत-12/79/17)। साथ ही, यह भी कहा कि यज्ञ में पशु-हिंसा मान्य नहीं है (अहिंस्या यज्ञपशवः– महाभारत, 12/34/82)।

3. ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं:-

वैदिक परम्परा में प्राकृतिक दैवी शक्तियों को सृष्टि का नियमन करने वाली माना जाता था। एक परमदेव (ईश्वर-परमेश्वर) की भी अवधारणा थी जो उक्त सभी शक्तियों का अधिपति था (गीता- 1/8, 2/18, श्वेताश्वतरोपनिषद्-1/8-1, तैत्तिरीयोपनिषद् 2/8, कठोप. 2/5/15/आदि)।

जैन परम्परा सृष्टि को अनादि मानती है और इसका कर्ता किसी को नहीं मानती। वैचारिक समन्वय की दिशा के प्रशस्त होने पर, सांख्य-योग व पूर्वमीमांसा जैसे दर्शनों के माध्यम से सृष्टि की अनादिता का प्रतिपादन किया गया और सृष्टि के निर्माण या संचालन में ईश्वर की अनुपयोगिता बताई गई। योगदर्शन में जिस 'ईश्वर' की अवधारणा है (द्र. योगदर्शन-1/24)/, वह जैन परम्परा के वीतराग ईश्वर/ परमेश्वर की अवधारणा से पर्याप्त साम्य रखती है।

4. जाति की अतात्त्विकता :-

वैदिक परम्परा वर्णाश्रम व्यवस्था को प्रमुखता देती थी। व्यवहार में वैदिक धर्म को 'वर्णाश्रम धर्म' भी कहा जाता था। जैन परम्परा में उक्त व्यवस्था को अमान्य किया गया था। जैन परम्परा में श्रेष्ठता का मानदण्ड गुण थे। वह जन्म के आधार पर किसी की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता को नहीं मानती थी, अपितु गुणों के आधार पर मानती थी (द्र. उत्तराध्ययन-25/33)। इसीलिए, जैन आगमों में तप, संयम व अहिंसा आदि सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही श्रेष्ठतम या ब्राह्मण माना गया (द्र. उत्तराध्ययन-25/19-29, 33)।

कालान्तर में वैदिक परम्परा में भी उद्घोष किया गया— ईश्वर ने वर्णव्यवस्था का सृजन गुण-कर्म के आधार पर किया है (गीता- 4/13)। महाभारत आदि ग्रन्थों में 'जन्मना जाति' पर आघात करते हुए कहा गया है कि यदि शूद्र जाति में उत्पन्न व्यक्ति में ब्राह्मणोचित गुण है जो वह 'शूद्र' नहीं, ब्राह्मण ही है (द्रष्टव्यः महाभारत- 3/180/23-25)।

5. आश्रम-व्यवस्था में लचीलापन :-

वैदिक परम्परा में आश्रम व्यवस्था के अनुरूप मानव-जीवन की समग्र चर्या को व्यवस्थित किया गया था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास– इस क्रम से मानव के लिए आश्रमोचित एक क्रमिक व मर्यादित जीवन-चर्या का पालन करना वहां अनिवार्य माना गया था (द्र. मनुस्मृति– 6/87)। गृहस्थाश्रम की विशेष महत्ता भी मानी जाती थी।

इसके विपरीत, जैन परम्परा संसार-विरक्ति को ही अधिक श्रेयस्कर मानती थी। हां, जो व्यक्ति पूर्णतः संसार-विरक्त होने की क्षमता नहीं रखता था, उसके लिए गृहस्थ चर्या उपादेय मानी जाती थी (द्र. उत्तराध्ययन- 9/42-44)। किन्तु वैचारिक समन्वय का वातावरण ऐसा निर्मित हुआ कि वैदिक परम्परा में भी आश्रम-व्यवस्था की कठोरता को उदार व शिथिल बनाने की प्रवृत्ति बढी।

जाबालोपनिषद् (4) में तथा आचार्य शंकर ने यह स्पष्ट उद्घोषणा की कि संन्यास किसी भी वय में स्वीकारा जा सकता है, बशर्ते विरक्ति के भाव जागृत हों। दूसरी तरफ, जैन परम्परा के पुराणों में चारों आश्रमों की व्यवस्था को मान्यता दी गई (द्रष्टव्यः आ. जिनसेन कृत महापुराण 39/151-152)।

6. आस्तिकता का उदार मानदण्डः-

वैदिक संस्कृति में आस्तिक व नास्तिक का विभाजन बहुत पुराना है। नास्तिक को निन्दनीय एवं सामाजिक दृष्टि से तिरस्करणीय माना जाता था। वेद-निन्दक को 'नास्तिक' (**नास्तिको वेदनिन्दकः– महाभारत-12/168/8, मनुस्मृति– 2/11**) कहा जता था। इस परिभाषा में जैन परम्परा 'नास्तिक' की श्रेणी में परिगणित की जाती थी।

कालान्तर में इस परिभाषा को लचीला बनाया गया और आत्मा व परलोक आदि के अस्तित्व को स्वीकार करने वालों को

'आस्तिक' माना गया (द्र. पाणिनि-सूत्र- अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (4/4/60)- अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः)। इस परिभाषा से जैन परम्परा 'आस्तिक' श्रेणी में समाहित मानी जाने लगी।

7. एक ही लक्ष्य के विविध मार्ग होने की मान्यता :-

धार्मिक उदारता की प्रवृत्ति को नया आयाम देते हुए महाकवि कालिदास ने कहा कि सभी दर्शन एक ही परम तत्त्व को प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग हैं। जैसे गंगा की सभी धाराएं समुद्र में जाकर मिलती हैं, वैसे ही सभी दार्शनिक धाराएं उसी परमात्म तत्त्व को लक्ष्य रखकर प्रवर्तमान हैं:-

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्यौघा जान्हवीया इवार्णवे॥

(रघुवंश 1/26)

वस्तुतः महाकवि कालिदास की उपर्युक्त विचारधारा की पृष्ठभूमि वैदिक काल में ही प्रतिष्ठापित हो चुकी थी। वैदिक विचारधारा है-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजुर्वेद 32/1)

– अर्थात् अग्नि, आदित्य, वायु, प्रजापति आदि देवता वास्तव में एक ही मूल-तत्त्व की विभूतियां हैं।

मनुस्मृति (12/123) में इसी भावना को आगे बढाते हुए कहा गया है-

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

अर्थात् अग्नि, प्रजापति, इन्द्र नामों से वास्तव में एक ही मूलतत्त्व को कहा जाता है।

अंत में, हनुमन्नाटक (1/3) में उक्त विचारधारा को प्रौढरूप इस प्रकार दिया गया–

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

अर्थात् त्रिलोकीनाथ परमेश्वर हरि– जिसकी उपासना शैव लोग 'शिव' रूप में, वेदान्तमतानुयायी 'ब्रह्म' रूप में, बौद्ध लोग 'बुद्ध' रूप में, प्रमाणदक्ष नैयायिक सृष्टिकर्ता-ईश्वर के रूप में, जैनधर्मानुयायी अर्हन्त देव के रूप में, और मीमांसक लोग 'कर्म' के रूप में करते हैं– वह हम (आप) सभी को वांछित फल प्रदान करे।

उपर्युक्त विचारधारा ने सभी विचारधाराओं में परस्पर सह-गामिनी होने का गौरव जागृत किया और सांस्कृतिक क्षेत्र में समन्वय की उदार प्रवृत्ति को और भी अधिक दृढ किया।

8. धर्म का प्रामाणिक स्रोतः-

वैदिक परम्परा 'धर्म' के उपदेश का स्रोत (वेद) को मानती है। (मनुस्मृति. 2/6,13, महाभारत (3/25/41)। जैन परम्परा में वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर ही 'धर्म' के मूल उपदेष्टा माने जाते हैं। (धम्मतित्थयरे जिणे-चतुर्विंशतिस्तव सूत्र, भक्तामर स्तोत्र-25,35 आदि) और जिनवाणी के आधार पर धर्म-अधर्म का निर्णय किया जाता है।

वैदिक परम्परा की उदारवादी विचारधारा ने 'वेद' के अतिरिक्त महापुरुषों के सदाचार को तथा आत्म-तुष्टि आदि को भी धर्म-स्रोत व धर्म-लक्षण के रूप में मान्य किया (द्र. मनुस्मृति 2/12)। इतना ही नहीं, वीतराग महापुरुषों द्वारा सेवित आचार को भी धर्म के रूप में मान्यता दी गई (मनुस्मृति, 2/1) :–

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः, नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातः, यो धर्मस्तं निबोधत॥

उपर्युक्त मान्यता जैन परम्परा की मान्यता के पर्याप्त निकट/अनुकूल थी। महाभारत में तो एक जगह यहां तक कहा गया कि श्रुतियां भिन्न-भिन्न व अनेक हैं, आखिर किसे प्रमाण मानें, धर्म का रहस्य गूढ ही है, अतः महापुरुष जिसका आचरण करें, उसे ही अपनाएं (महाभारत- 3/3/113) इस कथन से सामान्य जन के लिए महापुरुषों के आचार को ही धर्म का प्रकाश-स्रोत मानने का परामर्श दिया गया प्रतीत होता है।

(सांस्कृतिक एकता के धरातल पर)

सार्वजनीन आस्था के विचार-बिन्दु

उपर्युक्त वैचारिक समन्वय की पृष्ठभूमि में जिस एक साझी संस्कृति का सूत्रपात हुआ, उसमें विद्यमान समान आस्था वाले विचार-बिन्दुओं का दिग्दर्शन कराना यहां उपयुक्त होगा।

1. धर्म की अवधारणा :-

धर्म का स्वरूप एक है, उसका साम्प्रदायिक स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है। जैन व वैदिक– दोनों ही परम्पराओं ने धर्म की परिभाषा एक जैसी ही स्वीकार की है। वह है– 'धारणाद् धर्मः' अथवा 'धत्ते इति धर्मः'। धर्म नीचे गिरने से बचाता है, साथ ही उन्नति की ओर ले जाता है। वैदिक परम्परा के महाभारत का एक वचन है–

धारणाद् धर्म इत्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत- 8/69/58,12/109/11)

जैन परम्परा का भी वचन उपर्युक्त भाव का ही समर्थन करता हैः–

दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् यस्माद्धारयते यतः।
धत्ते चैतान् शुभस्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृतः॥

(दशवैकालिक चूर्णि, पृ.15)

वैदिक परम्परा में धर्म के 1 भेद माने गए हैं– धृति, क्षमा, दम (मनःसंयम), अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (शास्त्रादि तत्त्वज्ञान), विद्या (आत्म-ज्ञान), सत्य व अक्रोधः–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति, 6/92)

जैन परम्परा में भी शान्ति(क्षमाशीलता), मुक्ति (अनासक्ति), आर्जव (सरलता), मार्दव (मृदुता), लाघव (नम्रता), सत्य, संयम, तप, त्याग व ब्रह्मचर्य– इन दस धर्मों को मान्य किया गया हैः–

दसविधे समणधम्मे पण्णत्ते। तं जहा- खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे (स्थानांग-1/16; समवायांग-1)।

दोनों परम्पराओं के उक्त दश धर्मों में नामभेद को गौण करें तो भावात्मक दृष्टि से इनमें पर्याप्त समानता ही है।

धर्माचरण की प्रेरणा दोनों परम्पराओं में प्रचुर रूप से और प्रखर रूप से दी गई है। वैदिक उपनिषद् का उद्घोष है– **धर्मं चर** (तैत्तिरीय उप. 1/11/1) अर्थात् धर्म को आचरण में उतारो। इसी मनोभावना का जैन परम्परा भी समर्थ करती है– **धम्मं चर** (उत्तराध्ययन सूत्र-18/3)।

2. मनुष्य योनि की श्रेष्ठता व दुर्लभताः

दोनों परम्पराएं प्राणि -जगत् में मनुष्य की श्रेष्ठता की उद्घोषणा करती हैं। महाभारतकार ने स्पष्ट उद्घोषणा की– **गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्** (महाभारत, 12/299/

2)— अर्थात् यह एक रहस्य की बात आप लोगों को बता रहा हूं कि मनुष्य-जन्म से अधिक कोई अन्य श्रेष्ठ नहीं है।

जैन परम्परा ने भी इसी स्वर में उद्घोषित किया— **माणुस्सं खु दुल्लहं** (उत्तराध्ययन-2/11), अर्थात् मनुष्य-योनि प्राप्त करना निश्चय ही दुर्लभ है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि मनुष्य-मात्र की श्रेष्ठता मानी गई है, किसी जाति-विशेष की श्रेष्ठता नहीं है। दोनों परम्पराएं इस सत्य की उद्घोषणा करती हैं कि मनुष्य-मात्र एक ही जाति है, इसमें छोटे-बड़े का भेद नहीं है। महाभारतकार ने इसी का समर्थन करते हुए कहा— **न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्** (महाभारत-12/188/1)— अर्थात् वर्णों के आधार पर (ब्राह्मण आदि) कोई भेद नहीं है, सभी जगत् ब्रह्ममय है।

जैन परम्परा का भी इसी दिशा में चिन्तन-प्रवाह प्रवर्तित हुआ है— **मनुष्यजातिरेकैव** (आ. जिनसेन-कृत महापुराण-38/45) अर्थात् मनुष्य जाति एक ही है। इसी क्रम में यह भी कहा गया— **नास्ति जातिकृतो भेदः** (महापुराण-74/492) अर्थात् जाति-कृत भेद (वास्तविक) नहीं है, तथा **एगा मणुस्स-जाई** (आचारांग-निर्युक्ति-19) अर्थात् मनुष्य जाति एक है।

(3) साझे बुनियादी नैतिक मूल्य और सदाचार के मानदण्ड

भारतीय संस्कृति का प्राण 'धर्म' रहा है। धर्म से अनुप्राणित होकर ही वह प्रवर्तित होती रही है। सामाजिक विकास या उन्नति की दृष्टि से 'धर्म' ने एक संजीविनी शक्ति का कार्य किया है। मानव-जीवन के विकास या सांस्कृतिक उत्थान के लिए जो भी नियम व मर्यादाएं आवश्यक व उपयोगी प्रतीत होती हैं, उन सब को 'धर्म' अपने में समेटे हुए है। वह लौकिक दृष्टि से सर्वविध अभ्युदय का प्रमुख आधार रहा है। भारतीय धर्म की यह विशेषता

रही है कि वह लौकिक अभ्युदय के साथ-साथ पारलौकिक निःश्रेयस का भी साधन बनता है (द्र. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, वैशेषिक सूत्र- 1/1/1)। निष्कर्षतः, चाहे सामाजिक व्यवहार या नैतिक सदाचार हों या चाहे आत्मोत्थान की आध्यात्मिक साधना का मार्ग हो, 'धर्म' सर्वत्र मार्गदर्शक रहता है।

वैदिक व जैन– दोनों ही परम्पराओं ने एकमत से अहिंसा को परम धर्म स्वीकार करते हुए कहा– अहिंसा परमो धर्मः (महाभारत- 3/207/74, लाटी संहिता- 1/1)। जैन धर्म की तो अहिंसा-प्रधानता सर्वविदित है ही। 'अहिंसा' का एक व्यापक अर्थ यहां लिया गया है। सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि नैतिक आचार के मानदण्ड हों, या मैत्री, करुणा, क्षमा, दया, परोपकारप्रियता, सन्तोषवृत्ति, दान व त्याग की भावना, उदारता, सहिष्णुता जैसी प्रशस्त मानवीय भावनाएं हों, वे अहिंसा धर्म रूपी महावृक्ष की शाखा-प्रशाखाएं ही मानी गई हैं। वैदिक व जैन– दोनों धर्मों में उपर्युक्त बुनियादी नैतिक मूल्यों व सदाचार के मानदण्डों को पूर्णतः स्वीकारा गया है। इस सत्य के समर्थक अनेकानेक सन्दर्भ-वाक्य प्रचुर मात्रा में दोनों परम्पराओं के साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

(पुरुषार्थ चतुष्टय की मान्यताः—)

भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों की अवधारणा मान्य रही है। वे चार पुरुषार्थ हैं– (1) धर्म, (2) अर्थ, (3) काम, और (4) मोक्ष। मोक्ष व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य है। धर्म-अर्थ-काम का त्रिवर्ग मोक्ष का साधन है। पुरुषार्थों में मानव-जीवन का उद्देश्य अन्तर्निहित है। अर्थ व काम– इनकी साधना धर्म-संगत ही होनी चाहिए। इन पुरुषार्थों की साधना करते हुए मानव अपनी जीवन-यात्रा को सुचारु रूप से मर्यादित व सुरक्षित बनाता है (द्रष्टव्यः मनुस्मृति- 2/224, 6/87, महाभारत- 12/167 अध्याय, 12/270/24-27, 3/313/11-12 आदि)।

जैन परम्परा में भी उक्त चारों पुरुषार्थों की मान्यता प्राप्त है और धर्म को प्रधान साधन तथा मोक्ष को प्रधान लक्ष्य भी माना गया है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में धर्म, अर्थ, काम— इस त्रिवर्ग (द्र. आदिपुराण– 2/31) को मान्यता दी है (**अर्थे चतुष्टयी वृत्ति :– उत्तरपुराण– 51/7-8**)। जैन आचार्य जिनसेन व गुणभद्र ने 'महापुराण' में धर्म, अर्थ, काम- इस त्रिवर्ग की धर्मानुकूलता को मान्यता दी है (द्र. आदिपुराण- 2/31, उत्तरपुराण- 51/7-8)। आचार्य हेमचन्द्र ने मोक्ष को प्रधान पुरूषार्थ मानते हुए स्पष्ट कहा हैः—

चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षः (हैमयोगशास्त्र- 1/15)।

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरतिप्रकरण (132) में धर्म-अविरूद्ध समस्त लोक-व्यवहार चलाने की प्रेरणा दी है— **सद्धर्मानुपरोधात् तस्माल्लोकोऽभिगमनीयः**।

दोनों ही परम्पराओं ने समाज व राष्ट्र के अभ्युदय एव प्राणिमात्र के सुख, कल्याण व हित की कामना करते हुए 'अहिंसा धर्म' की सार्वजनीनता को व्यावहारिक अभिव्यक्ति दी है। निष्कर्षतः दोनों परम्पराओं के सांस्कृतिक उदात्त चिन्तन का सार इस प्रकार रहा हैः—

सर्वेषां मंगलं भूयात्, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

(गरूडपुराण, 2/35/52)

अर्थात् सभी का कल्याण हो, मंगल हो, सभी नीरोग हों, कोई दुःखी न हो और सभी लोग मंगलमय देखें-अनुभव करें।

महाकवि कालिदास ने भी इसी चिन्तन को एक वाक्य में अभिव्यक्त किया है— **सर्वः सर्वत्र नन्दतु** (विक्रमोर्वशीय 5/25)- अर्थात् समस्त प्राणी सर्वत्र/सर्वदा प्रसन्न रहें।

वैदिक परम्परा के उपर्युक्त चिन्तन से पूर्णतः साम्य रखता हुआ जैन परम्परा का निम्नलिखित वचन हैः—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित्पापमाचरेत्॥

(जैन आचार्य हरिभद्रकृत धर्मबिन्दु प्रकरण, 72)

– सभी लोग सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी मंगलमय देखें- अनुभव करें और कोई (परपीडाकारी) पाप न करे।

(4) कालचक्र व सांस्कृतिक विकास की मान्यताएं

(कालचक्रः) काल की उपमा चक्र से दी जाती है। गाड़ी के पहिये की तरह काल भी घूमता रहता है। इसलिए उसका जो भाग कभी ऊपर रहता है, वह बाद में नीचे आ जाता है। यह निरन्तर परिवर्तन का प्रतीक है। इसलिए कभी सुख, समृद्धि-उन्नति की दशा होती है तो कभी दुःख, दरिद्रता व अवनति/ह्रास की। जैन परम्परा में काल-चक्र के दो भाग माने गए हैं जो क्रमशः अनादि काल से प्रवर्तित होते रहे हैं। वे भाग हैं– (1) उत्सर्पिणी, और (2) अवसर्पिणी। उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी और पुनः उत्सर्पिणी– इस प्रकार अनन्त चक्र चलता रहता है।

उत्सर्पिणी चक्र उन्नतिमुखी होता है, अर्थात् इसमें जीवों की आयु, बल, आकार, पराक्रम व सुख-समृद्धि क्रमशः बढती चली जाती हैं। इसके विपरीत, अवसर्पिणी कालचक्र में ये क्रमशः ह्रासमुखी होती हैं। इन्हें शुक्ल पक्ष व कृष्णपक्ष की तरह भी समझा जा सकता है। (द्र. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-2 वक्षस्कार, तिलोयपण्णत्ति-4/1614, जैन पद्मपुराण-3/73 आदि)। वैदिक परम्परा के विष्णुपुराण में भी उक्त व्यवस्था का समर्थन करते हुए लिखा है कि कर्मभूमि में उक्त द्विविध व्यवस्था प्रवर्तमान रहती है, भोगभूमियों में नहीं–

अवसर्पिणी न तेषां वै, नैव चोत्सर्पिणी द्विज।
न त्वेषामस्ति युगावस्था, तेषु स्थानेषु सप्तसु॥

(विष्णु पुराण, 2/4/13)

– अर्थात् जम्बूद्वीप के अन्य सात क्षेत्रों में उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी– ये दोनों कालचक्र प्रवर्तित नहीं होते, मात्र भारतभूमि (कर्मभूमि) में ही द्विविध कालचक्र-व्यवस्था मान्य है।

(कर्मभूमि की अवधारणाः)

जैन परम्परा में जम्बूद्वीप में तीन कर्मभूमियां मानी गई हैं– भरत, ऐरावत तथा महाविदेह (कुछ भाग) (द्र. ठाणांग-3/3/183)। शेष क्षेत्रों में भोगभूमि की व्यवस्था है (राजवार्तिक- 3/37/1-4)। वर्तमान भारतवर्ष 'कर्मभूमि' के अन्तर्गत है। कर्मभूमि वह होती है जहां लोग कृषि, असि, मषी आदि कर्मों के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते हैं (राजवार्तिक- 3/37/3)। यहां के ही लोग पुण्य-पापानुसार स्वर्गादि गतियों में तथा कर्म-क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक परम्परा में भी भारतभूमि को कर्मभूमि के रूप में मान्यता दी गई है (द्र.मार्कण्डेय पुराण-55/2-21, अग्निपुराण-118/2 आदि)। (विष्णुपुराण- 2/3/1-5) में कर्मभूमि के सम्बन्ध में निम्नलिखित सन्दर्भ प्राप्त होता हैः–

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारतं नाम, भारती यत्र सन्ततिः॥
नवयोजनसाहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्॥
अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात् प्रयान्ति वै।
तिर्यक्त्वं नरकं चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने॥
इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च, मध्यं चान्तश्च गम्यते।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्मभूमौ विधीयते॥

अर्थात् समुद्र के उत्तर और हिमाचल के दक्षिण में स्थित भारतवर्ष का विस्तार नौ हजार योजन है। यह स्वर्ग और मोक्ष जाने वाले लोगों की कर्मभूमि है। इसी कर्मभूमि से मनुष्य स्वर्ग व

मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं और यहीं से (कर्मानुसार) तिर्यंच व नरक जैसी गतियों में जाते हैं– अतः यह कर्मभूमि है। इस भारतवर्ष के सिवा अन्य क्षेत्र में कर्मभूमि नहीं है।

वैदिक परम्परा में 'चतुर्युग' की भी अवधारणा है। सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलियुग– ये चार युग माने गए हैं। त्रेता में भगवान् राम तथा द्वापर में श्रीकृष्ण का अवतार हुआ माना जाता है। वर्तमान में कलियुग की प्रवर्तना है। भागवत पुराण के अनुसार सत्ययुग में धर्म अपने चार चरणों से युक्त होकर पूर्ण स्वस्थ रहता है और कलियुग तक आते-आते यह एक पांव वाला रह जाता है (द्रष्टव्यः भागवत पुराण 1/17/24-25, 3/12/21, मनुस्मृति– 1/81-85)। जैन परम्परा में चतुर्युग विभाजन तो प्राप्त नहीं है, तथापि वैदिक परम्परा की उक्त व्यवस्था क्रमशः ह्रासमुखी है और जैन परम्परा के 'अवसर्पिणी' कालचक्र के प्रतिकूल नहीं है।

(कुलकर-व्यवस्थाः)

जैन परम्परा में 'कुलकर' की अवधारणा और वैदिक परम्परा की 'मनु' (मन्वन्तर) की अवधारणा में साम्य झलकता है। जैन मान्यतानुसार 'कुलकर' सामाजिक संस्थापक होते हैं। भोग व त्याग के समन्वित जीवन को प्रतिपादित करना, जीवन-मूल्यों को नियमबद्ध कर एकता व मर्यादा में संस्थापित करना, अनुशासन की स्थापना, शान्ति व सन्तुलन कायम करना, सामाजिक कल्याणकारी रीति-रिवाजों को प्रचलित करना आदि कुलकरों का उद्देश्य माना जाता है (द्र. आदिपुराण-3/22-163, हरिवंश पुराण-7/16-17, पद्मपुराण- 3/3-88 आदि)। कुलकरों की संख्या 7, 14 या 16 मानी गई है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (2/35) नामक जैन आगम में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से पूर्व 14 कुलकरों का होना माना गया है। पउमचरियं (पद्मचरित 3/5-55) में उसी का अनुकरण करते हुए 14 कुलकरों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं–

1. सुमति 2. प्रतिश्रुति 3. सीमंकर 4. सीमन्धर 5. क्षेमंकर 6. क्षेमन्धर 7. विमलवाहन 8. चक्षुष्मान् 9. यशस्वान् 1. अभिचन्द्र 11. चन्द्राभ, 12. प्रसेनजित् 13. मरुदेव 14 नाभि।

वैदिक परम्परा में (प्रतिकल्प) 14 मनुओं की संख्या मानी गई है। विष्णुपुराण (3/1), मार्कण्डेयपुराण (94 व 99 अध्याय) तथा भागवत पुराण (8/13, 3/12/23) में 14 मनुओं की नामावलि इस प्रकार हैं–

1. स्वायम्भुव मनु
2. स्वारोचिष मनु
3. उत्तम मनु
4. तामस मनु
5. रैवत मनु
6. चाक्षुष मनु
7. वैवस्वत मनु (= श्राद्धदेव)
8. सावर्णि मनु
9. दक्षसावर्णि मनु
1. ब्रह्मसावर्णि
11. धर्मसावर्णि
12. रुद्रसावर्णि
13. देवसावर्णि (रुचि, रौच्य)
14. इन्द्रसावर्णि (भौम, भौत्य)

वैदिक परम्परा के मनुओं का कार्य भी जैन परम्परा के 'कुलकरों' के जैसा ही है। (भागवत पुराण 8/14/1-9) के अनुसार समय-समय पर विश्व-व्यवस्था को सुचारु रुप से संचालित करना, धर्म- अनुष्ठान को प्रवर्तित करना, शासन-व्यवस्था की प्रवर्तना आदि कार्य मनुओं के होते हैं। मनुओं की संख्या चौदह मानी गई है

(भागवत-8/13/11)। यदि दोनों परम्पराओं की नामावली में नाम-भेद पर ध्यान न दें तो दोनों धर्मों की अवधारणाओं में पर्याप्त साम्य है।

(5) भारत वर्ष-नामकरणः-

जैन व वैदिक— दोनों संस्कृतियां इसी भारतभूमि में पल्लवित व विकसित हुई हैं। दोनों ही परम्पराएं यह मानती हैं कि ऋषभदेव के पुत्र 'भरत' के नाम पर 'भारतवर्ष' नाम पड़ा। वैदिक पुराण भागवत में ऋषभ को विष्णु का विशिष्ट अवतार माना गया है। वहां बताया गया है कि उनके पुत्र 'भरत' के नाम पर इस देश का नाम 'अजनाभ' के स्थान पर भारतवर्ष पड़ाः—

अजनाभं नाम एतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति (भागवत-5/7/3)।

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥

(भागवत- 11/2/17)

इसी तथ्य का समर्थन अन्य पुराणों में भी प्राप्त होता है (द्रष्टव्यः मार्कण्डेय पुराण- 93/38-4, ब्रह्माण्ड पुराण- 14/61, विष्णु पुराण- 2/1/32, वायु पुराण- 33/52, अग्नि पुराण- 1/12, नारद पुराण- 48/5, वाराह पुराण- 74 अध्याय, स्कन्ध पुराण- 37/57, लिंग पुराण- 47/24, शिव पुराण- 52 अध्याय)।

जैन परम्परा भी उक्त तथ्य को समर्थन करती है—

तस्स भरहो भरहवासचूडामणी। तस्सेव नामेण इहं भारहवासं ति पव्वुचति (वसुदेवहिण्डी, प्र.खं. पृ. 186)।

भरतनाम्नश्चक्रिणो देवाच्च भारतनाम प्रवृत्तं भरतवर्षाच्च तयोर्नाम (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति)।

—चक्रवर्ती भरत भारतवर्ष के शीर्षस्थ मुकुट थे। उन्हीं के नाम से 'भारतवर्ष' यह नाम प्रचलित हुआ।

(६) राष्ट्रीय भावना के स्वर :-

जैन व वैदिक –दोनों सांस्कृतिक परम्पराएं राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हैं। राष्ट्र और उसके शासक की मंगल-कामना के साथ-साथ समस्त भारतीयों के कल्याण व सुख-समृद्धि एवं सर्वतोमुखी उन्नति की कामना को दोनों परम्पराओं में प्रभावक रीति से अभिव्यक्त किया गया है :–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायताम्।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य
यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्।
योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

(यजु. 22/22)

अर्थात् भगवन्! हमारे राष्ट्र में–
वेदाध्ययन-शील ब्राह्मण उत्पन्न हों!
शूर, शस्त्रास्त्र-विद्या में दक्ष, शत्रु-संहारक
और महारथी क्षत्रिय अधिकाधिक उत्पन्न हों!
दुग्ध देनेवाली गौएं, भारवाही पुष्ट बैल
और शीघ्रगामी घोड़े पाये जायें!
सर्व-गुण-सम्पन्न सुशील सुन्दर स्त्रियां हों!
यजमानों के पुत्र विजय-शील, युद्धार्थ सन्नद्ध,
सभ्य, समर्थ और वीर हों!

हमारी आवश्यकता के अनुसार मेह बरसा करे!

अन्न की खेती से हमें यथासमय प्रभूत अन्न प्राप्त हो!

हमारा योग-क्षेम हो!

जैन परम्परा में भी राष्ट्रीय भावना के स्वर प्रचुरतया मुखरित हुए हैं। जैन आचार्य सोमदेव ने 'नीतिवाक्यामृत' (1/6) में स्पष्ट स्वीकार किया है– **समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान्**, अर्थात् समस्त पक्षपातों (रागात्मक सम्बन्धों) में स्वदेश के प्रति पक्षपात/बहुमान करना सर्वोत्तम/महनीय है। जैनाचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित 'शान्ति-भक्ति' के निम्नलिखित दो पद्यों में राष्ट्र, देश व राजा/शासक की मंगल-कामना व्यक्त की गई है:–

सम्पूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः॥

(शांति भक्ति- 6)

– पूजा-उपासना करने वाले (धार्मिक), शासक वर्ग, श्रेष्ठ मुनि व सामान्य तपस्वी, देश, राष्ट्र, नगर और राजा –इन सभी को भगवान् जिनेश्वर सुख-शान्ति प्रदान करें :–

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग् वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारीः क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि॥

(शांति भक्ति- 15)

समस्त प्रजा-वर्ग का कल्याण हो। राजा शक्तिशाली व धार्मिक हो। इन्द्र यथोचित समय पर अच्छी तरह वृष्टि करे। व्याधियां नष्ट हों। दुर्भिक्ष, चौरी, महामारी –ये सभी प्राणियों में एक क्षण के लिए भी नहीं हों। सर्व-सुख का दाता जिनेन्द्र-प्रवर्तित धर्म-चक्र (धर्म-परम्परा) निरन्तर प्रवर्तमान रहे– प्रभावशाली रहे।

(7) गंगा देवी की महिमाः-

वैदिक परम्परा में गंगा का माहात्म्य व यशोगान अनेक रूपों में वर्णित किया गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण (1/11/16) में कहा गया है— **नास्ति गंगासमं तीर्थम्** अर्थात् गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं है। पौराणिक कथा के अनुसार, राजा सगर के पुत्र ब्राह्मण के तिरस्कार के कारण भस्म हो गए थे। अपने मृत पितरों के उद्धार के लिए राजा भगीरथ ने वर्षों तक तपस्या की और स्वर्ग से गंगा को पृथ्वी पर अवतरित कराने में वे सफल हुए।

शिव महादेव ने उस गंगा को अपने मस्तक पर धारण करने की स्वीकृति दी। गंगा-जल के स्पर्श से सगर-पुत्रों को स्वर्गति प्राप्त हुई। यह गंगा भगवान् विष्णु के चरण-कमलों से निःसृत होकर पृथ्वी पर अवतरित हुई थीं (द्रष्टव्यः भागवत पुराण- 9/8/29; 9/9/1-15)।

जैन परम्परा में गंगा को तीर्थ के रूप में तो मान्यता नहीं दी गई है, किन्तु उसे आदर देते हुए एक 'देवी' के रूप में स्वीकारा गया है और भगवान् जिनेन्द्र के साथ संयुक्त कर इसकी महिमा अवश्य बढाई गई है। जैन पुराणों में वर्णित है कि राजा सगर ने अपने पुत्रों के समक्ष इच्छा प्रकट की कि भरत चक्रवर्ती ने कैशाल पर्वत पर महारत्नों से जिनेन्द्र देव के चौबीस मन्दिर बनवाएं हैं, उस पर्वत के चारों ओर गंगा नदी को ले आओ। उक्त इच्छा को पूरी करने में वे पुत्र सफल तो हुए किन्तु नागकुमारों के कोप से वे भस्मीभूत हो गए। राजा सगर ने विरक्त होकर मुनि-दीक्षा धारण की। उन्होंने राज्य-भार राजा भगीरथ को सौंपा था।

कालान्तर में राजा भगीरथ भी विरक्त होकर मुनि बने और गंगा-तट पर समाधिस्थ हो गए। इन्द्र ने क्षीरसागर से भगीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया जिसका जल गंगा में प्रवाहित

हुआ। फलस्वरूप गंगा भी लोक में महनीय मानी जाने लगी। भागीरथ मुनि गंगा-तट पर तप करते-करते सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। (आ. गुणभद्र कृत उत्तरपुराण, 48/16-141)।

इस कथा में गंगा के विष्णु के पावन चरणों से स्पृष्ट होने की वैदिक मान्यता (द्रष्टव्यः- भागवत 8/21/3-4) की प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर हो रही है। घोर तपस्वी और अन्त में परामात्म रूप पाने वाले भागीरथ मुनि के पावन-चरण-जल से संयुक्त होकर गंगा पावन हो गई— यह जैन परम्परा का भाव है।

जैन पौराणिक युग में आते-आते गंगा को जिनेन्द्र-कीर्ति की तरह पूज्य, जगत्पावनी व संतापहारिणी वर्णित किया गया है (द्रष्टव्य आदिपुराण 26/129,15)। जैन परम्परा में माना गया है कि गंगा महानदी 14 हजार नदियों से संयुक्त होकर समुद्रगामिनी होती है। इस महानदी के मार्ग में ही, गंगाप्रपातकुण्ड स्थित है, उस कुण्ड के मध्य में 'गंगाद्वीप' है जो एक शाश्वत द्वीप है। इसी द्वीप के एक विशाल भवन में 'गंगा देवी' का निवास है (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4/74, तिलोयपण्णत्ति, 4/228 आदि)।

अन्त में, दोनों परम्पराओं में गंगा की पावनता के सम्बन्ध में एक-एक सन्दर्भ प्रस्तुत करना यहां प्रासंगिक होगा। वैदिक परम्परा के भागवत पुराण (9/9/13-15) में गंगा-सम्बन्धी निरूपण इस प्रकार प्राप्त होता है—

> यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि।
> सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः॥
> भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याताः सगरात्मजाः।
> किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः॥
> ना ह्येतत्परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम्।
> अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः॥

संनिवेश्य मनो यस्मिन् श्रद्धया मुनयोऽमलाः।
त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम्॥

अर्थात् ब्राह्मण के तिरस्कार के कारण सगर-पुत्र भस्म हो गए थे, गंगा के जल का स्पर्श पाकर वे स्वर्ग चले गए।

जब गंगा-जल से शरीर की राख का स्पर्श हो जाने मात्र से सगर-पुत्रों को स्वर्ग-गति प्राप्त हो गई तो जो लोग श्रद्धा से गंगा का स्मरण करें तो उनके बारे में तो कहना ही क्या?

यह कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि गंगा भगवान् (अनन्त) के चरण-कमलों से निकली है, जिनका श्रद्धा के साथ चिन्तन-स्मरण-ध्यान करने से बड़े-बड़े मुनि निर्मल हो जाते हैं और तीनों गुणों के कठिन बन्धनों को तोड़कर तुरन्त भगवत्स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। फिर गंगाजी संसार का बन्धन काट दें— इसमें कोई बड़ी बात नहीं।

वैदिक पुराण के उपर्युक्त निरूपण से साम्य रखता हुआ जैन साहित्य का एक सन्दर्भ यहां मननीय हैः—

वरवेदीपरिखित्ते चउगाउरमंदिरम्मि पासादे।
रम्मुज्जाणे तस्सिं गंगा देवी सयं वसइ॥
भवणोवरि कूडम्मि य जिणिंदपडिमाओ सासदरिधीओ।
चेट्ठंति किरणमंडल-उज्जोइदसयलआसाओ॥
आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि॥
पुप्फिंदपंकजपीढा कमलोदरसरिसवण्णवरदेहा।
पढमजिणप्पडिमाओ सरंति जे ताण देंति णिव्वाणं॥

(आ.यतिवृषभ-कृत तिलोयपण्णत्ति, 4/228-31)

अर्थात् उत्तमवेदी से वेष्टित, चार गोपुर एवं मन्दिर से सुशोभित और रमणीय उद्यान से युक्त भवन में गंगा देवी का

निवास है। उस भवन के ऊपर कूट पर किरण-समूह से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करने वाली और शाश्वत ऋद्धि को प्राप्त जिनेन्द्र-प्रतिमाएं स्थित हैं। आदि तीर्थंकर की वे प्रतिमाएं जटामुकुट रूप शेखर से युक्त हैं। *इन प्रतिमाओं के ऊपर वह गंगा नदी* (जलधारा के रूप में) इस प्रकार गिरती (अवतरित) हैं मानों वह उनका अभिषेक करना चाहती हो। कमलासन पर विराजमान एवं कमल के मध्य-भाग के वर्ण के उत्तम शरीर वाली उन जिन-प्रतिभाओं का जो स्मरण करते हैं, उन्हें वे निर्वाण देती हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भारतीय सभ्यता व संस्कृति का विकास गंगा आदि नदियों के तटों पर हुआ था। हिन्दू धर्म में आस्थावान् प्रत्येक व्यक्ति की 'गंगा' पर पूर्ण श्रद्धा रहती है। मृत्यु के बाद भी भौतिक शरीर की राख गंगा आदि नदियों में डाली जाती है। चिर काल से चली आ रही गंगा के प्रति उक्त दृढ आस्था का जैन परम्परा पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। समन्वय की प्रक्रिया ने वैदिक व जैन— इन दोनों परम्पराओं को व्यावहारिक क्षेत्र में पर्याप्त निकट ला दिया और गंगा-सम्बन्धी उक्त जैन पौराणिक निरूपणों को इसी पृष्ठभूमि में देखना चाहिए। सारांश यह है कि जैन परम्परा में प्राप्त गंगा-माहात्म्य धार्मिक दृष्टि की अपेक्षा, समन्वयात्मक सांस्कृतिक महत्त्व को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से देखना चाहिए।

(8) जैन तीर्थंकर ऋषभदेव और वैदिक त्रिदेवः-

वैदिक परम्परा में ईश्वर एक माना गया है। वह संसार की व्यवस्था के लिए तीन रूप धारण करता है। सत्त्वगुण-प्रधान होकर वह ब्रह्मा के रूप में सृष्टि-कार्य करता है, रजोगुणप्रधान होकर वह विष्णु रूप में सृष्टि की रक्षा करता है और तमोगुणप्रधान होकर वह शंकर या रुद्र के रूप में सृष्टि का संहार करता है (द्रष्टव्यः भागवत पुराण- 1/3/2, 3/7/28, 4/1/27)।

वैदिक ईश्वर की त्रिदेवरूपता का दर्शन जैन परम्परा में भी दृष्टिगोचर होता है। वैदिक ब्रह्म की तरह जैन परम्परा का 'परम तत्त्व' 'सत्' पदार्थ है जो समस्त सृष्टि में व्याप्त है। उसके त्रिविध रूप हैं— उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (नित्यता)। तत्त्वार्थसूत्र (5/3) में 'सत्ता' का लक्षण त्रयात्मक रूप में इस प्रकार बताया गया है— **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं सत्।**

इसके अतिरिक्त, जैन परम्परा के आदिपरमेश्वर ऋषभदेव में वैदिक परम्परा के ब्रह्मा, विष्णु व शंकर— इन तीनों देवों का स्वरूप समाहित होता हुआ दिखाई पड़ता है।

(ऋषभदेव और वैदिक विष्णुः-)

वैदिक पुराण 'भागवत' में ऋषभदेव को विष्णु का अवतार माना गया है (द्र. भागवत, 5/3 अध्याय)। विष्णु लक्ष्मीपति हैं। जैन परम्परा में ऋषभदेव की स्तुति करते हुए उन्हें 'श्रीपति' आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है (द्रष्टव्यः जिनसहस्रनाम स्तोत्र, पीठिका-2, 1/4,8, आदि)। अनन्तज्ञानादि परमैश्वर्य-लक्ष्मी को प्राप्त करने के कारण भगवान् जिनेन्द्र का 'लक्ष्मीपति' विशेषण सार्थक है (द्रष्टव्य- लब्धात्म-लक्ष्मीः, वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, 1, आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रः, वहीं, 78 आदि)।

'विष्णु' का निरुक्ति-परक अर्थ है— जो व्याप्त होता है। प्रत्येक जीवात्मा प्राप्त देह में व्याप्त होकर रहता है, इसलिए उसे 'विष्णु' कहा गया है— **उपात्तदेहं व्याप्नोति इति विष्णुः**— (धवला, 1/1/2 पृ.-12, गोम्मटसार, जीवकाण्ड 366 पर टीका)। जिनेन्द्र देव अनन्तज्ञान के धारक होते हैं। उनके ज्ञान में समस्त लोक, दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह, स्पष्ट झलकता है (त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं— अकलंक स्तोत्र-1, यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः, महावीराष्टक स्तोत्र-1)। उक्त 'सर्वज्ञता' के कारण भी जिनेन्द्र को 'विष्णु' या सर्वव्यापी कहना सार्थक होता है।

जैन पुराणकार आ. जिनसेन ने सर्वज्ञता के आधार पर तीर्थंकर ऋषभदेव को 'सर्वव्यापी' विशेषण से अलंकृत भी किया है (द्रष्टव्यः आदिपुराण- 24/71)।

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने जिनेन्द्र-मूर्ति को ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मक इस प्रकार सिद्ध किया है–

ज्ञानं विष्णुः सदा प्रोक्तम्, चारित्रं ब्रह्म उच्यते।
सम्यक्त्वं तु शिवं प्रोक्तम्, अर्हन्मूर्तिस्त्रयात्मिका॥

(महादेवस्तोत्र, 33)

अर्थात् ज्ञान विष्णु है, चारित्र ब्रह्म है और सम्यक्त्व शिव है– इन तीनों से समन्वित अर्हन्त देव ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मक सिद्ध होते हैं।

(ऋषभदेव और वैदिक ब्रह्मा:-)

वैदिक परम्परा में 'ब्रह्मा' की जो-जो प्रमुख विशेषताएं मानी गई हैं, वे प्रायः सभी आदितीर्थंकर ऋषभदेव में समाहित हुई दृष्टिगोचर होती हैं। ब्रह्मा का नाम 'नाभेय' हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति भगवान् विष्णु की नाभि में स्थित कमल से हुई है (द्र. भागवत पुराण- 5/3 अध्याय, 3/9/2, 21)। जैन परम्परा में भी ऋषभदेव को 'नाभेय' कहा जाता है क्योंकि व नाभिराजा के पुत्र थे (**नाभेयो नाभिसंभूतेः, जिनसहस्रनाम स्तोत्र 1/10, नाभिनन्दनो जिनः- बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र-5**)।

वैदिक परम्परा में परमेश्वर के विराट् शरीर से चारों वर्णों की उत्पति मानी गई। वैदिक पुरुषसूक्त (यजुर्वेद- 31/11) में विराट् ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरू प्रदेश से वैश्य तथा पांवों से शूद्र की उत्पत्ति होना निरूपित किया गया है। वैदिक परम्परा के अन्यान्य ग्रन्थों में भी ब्रह्मा या परमेश्वर द्वारा चारों वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है (गीता- 4/13, मनुस्मृति- 1/43 आदि)।

वैदिक परम्परा में सामान्यतः ब्रह्मा को इस सृष्टि का प्रमुख कर्ता मानकर स्रष्टा, प्रजापति, धाता, विधाता, पितामह, स्वयम्भू, हिरण्यगर्भ आदि नामों से अभिहित किया जाता है (द्र. भागवत पुराण- 3/8/32, 3/1/1, 3/12/28, 3/12/47)। अमरकोष (1/16-17) के अनुसार ब्रह्मा के निम्नलिखित पर्याय/नामान्तर हैं– ब्रह्मा, आत्मभू, सुरज्येष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, स्वयम्भू, चतुरानन, धाता, विधाता, कमलयोनि, विरञ्चि, कमलासन, स्रष्टा, प्रजापति, वेधा, विश्वसृज्, विधि आदि।

जैन परम्परा के पुराण-साहित्य में ऋषभदेव को 'ब्रह्मा' के रुप में प्रतिष्ठित किया गया है। इन्हें 'आदिवेधा' के रूप में गुणकर्माधारित क्षत्रियादि वर्णों का उत्पादक बताया गया है– **उत्पादितास्त्रयो वर्णाः, तदा तेनादिवेधसा। क्षत्रियाः वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिर्गुणैः** (हरिवंशपुराण- 16/183)। यहां यह उल्लेखनीय है कि ऋषभदेव ने मात्र तीन वर्णों की ही स्थापना की है। शेष ब्राह्मण वर्ण की स्थापना ऋषभ-पुत्र भरत ने की थी– ऐसा जैन पुराणों का अभिमत है (द्र. आदिपुराण 16/246)।

उक्त तीनों वर्णों की उत्पत्ति का निरूपण जैन परम्परा में वैसा ही है जैसा कि वैदिक परम्परा में मान्य है। अर्थात् भुजा से क्षत्रिय, ऊरू (कटि प्रदेश) से वैश्य तथा पांवों से शूद्र वर्ण की उत्पत्ति मानी गई है, यद्यपि उक्त निरूपण का लाक्षणिक/प्रतीकात्मक अर्थ भी समझाया गया है। (द्र. आदिपुराण– 16/243-246)। इन वर्णों की उत्पत्ति करने के कारण ऋषभदेव 'स्रष्टा' कहलाए– स्रष्टेति ताः प्रजाः सृष्ट्वा (द्र. आदिपुराण 16/25)। चक्रवर्ती भरत द्वारा ऋषभदेव की जो पौराणिक स्तुति प्राप्त होती है, उसमें उन्हें ब्रह्मा, स्रष्टा, पितामह, आदिपुरूष, स्वयम्भू, पुराणपुरूष, हिरण्यगर्भ चतुर्मुख आदि-आदि नामों से अभिहित किया गया है (द्र. आदिपुराण 24 वां पर्व, जिनसहस्रनाम स्तोत्र, आ. समन्तभद्रकृत बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र आदि)।

आदिपुराण में आ. जिनसेन ने उक्त गूढार्थक विशेषणों की सार्थकता को जैन परम्परा के अनुरूप समझाने का भी यत्न किया है (द्र. आदिपुराण 24/69-72)। उदाहरणार्थ- ऋषभदेव के गर्भ में आते ही परिवार में सोने की वृष्टि हुई थी, अतः इनका नाम 'हिरण्यगर्भ' हैः-

हिरण्यगर्भमाहुस्त्वां यतो वृष्टिर्हिरण्मयी।
गर्भावतरणे नाथ प्रादुरासीत् तदाऽद्भुता॥

(आदिपुराण- 24/69)।

इसी तरह, चतुर्मुखी/चतुरानन, वृषभ आदि विशेषणों की सार्थकता जैन पुराणों में बताई गई है और यह प्रवृत्ति ऋषभदेव की वैदिक ब्रह्मा से समकक्षता सिद्ध करती है।

जिस प्रकार वैदिक परम्परा में ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती समस्त विद्याओं की प्रवर्तिका मानी जाती है, उसी प्रकार जैन परम्परा में ऋषभदेव की पुत्रियां ब्राह्मी व सुन्दरी समस्त विद्याओं की प्रवर्तिका हैं (द्र. त्रिषष्टिशलाका पुरूष चरित-1/2/96-62, आदिपुराण-16/14 अध्याय)। उक्त तथ्य भी ऋषभ देव की वैदिक ब्रह्मा से तुल्यता का समर्थन करता है।

(ऋषभदेव की शिव-तुल्यताः-)

वैदिक परम्परा में 'शिव' निर्ग्रन्थ, दिगम्बर, कामजयी व महान् योगी के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे संसार के संहारक देव भी माने जाते हैं। संहारकता का प्रतीकात्मक अर्थ यहां ग्राह्य है। संसार का अर्थ है- जन्म-मरण की परम्परा। अध्यात्मसाधक जन्म-मृत्युरूपी संसार का संहार करता है। उक्त दृष्टि से शिव की संसार-संहारकता को समझें तो किसी भी जैन मुनि की शिवतुल्यता हृदयंगम की जा सकती है। इस युग के जैन श्रमण-परम्परा के आद्य प्रवर्तक एवं अध्यात्म-साधना के पुरस्कर्ता भगवान् ऋषभदेव की- जिन्हें वैदिक

परम्परा भी ज्ञान-मार्ग का उपदेष्टा ईश्वरीय गुणसम्पन्न (अवतार)व्यक्तित्व मानती है– शिवतुल्यता का निरूपण निश्चित ही असंगत नहीं माना जा सकता है।

जैन परम्परा के पौराणिक साहित्य एवं स्तोत्र साहित्य में जिनेन्द्र देव को, विशेषतः प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को वैदिक शिव के नामों व विशेषणों से सम्बोधित-अलंकृत किया गया है। वे अनेक स्थलों में शिव, शंकर, शंभु, त्रिपुरारि, त्रिनेत्र, कामारि, वृषभध्वज आदि नामों से सम्बोधित किये गए हैं (द्रष्टव्यः जिनसहस्रनाम, आदिपुराण- 24 वां पर्व, समन्तभद्रकृत बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र, अकलंकस्तोत्र, मानतुंग-कृत भक्तामर स्तोत्र आदि आदि)।

उपर्युक्त विशेषणों में जो असंगत-से विशेषण प्रतीत होते हैं, उनकी सार्थकता भी जैन साहित्य में बताई गई है। जैसे ऋषभदेव को 'त्रिनेत्र' कहा जाना असंगत-सा लगता है। किन्तु व्याख्याकारों ने सम्यक् ज्ञान या अनन्त ज्ञान रूपी तीसरे नेत्र से युक्त होने के कारण 'त्रिनेत्र' विशेषण की संगति बैठाई है। जैनागम ठाणांग सूत्र (3/4/499) में 'केवलज्ञान' 'केवलदर्शन' एवं भौतिक नेत्र– इन्हें तीन नेत्र बताया गया है। आ. वीरसेन ने धवला (1/25) में कहा है कि सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञान व सम्यक चारित्र– ये त्रिरत्न ही त्रिशूल हैं जिन्हें अर्हन्तदेव धारण किये हुए हैं–

(तिरदणतिसूलधारिय..... अरहन्ता)।

इसी तरह, अर्धनारीश्वर का जैन परम्परा में तात्पर्य इस प्रकार बताया गया– अर्हन्त देव 8 कर्म-शत्रुओं में से चार घाती कर्मों को नष्ट कर चुके थे, चार कर्मशत्रु शेष थे, अतः 'अर्ध+न+अरि+ईश्वर'– अर्धनारीश्वर ऋषभदेव को कहा जाता है (द्र. आदिपुराण- 25/73)। वैदिक परम्परा में अपने वामांग-अर्धभाग में पार्वती को स्थान देने के कारण शिव को अर्धनारीश्वर कहा जाता है।

यज्ञीय संस्कृति का, विशेषतः पशु-हिंसा वाले यज्ञीय विधि-विधानों का समर्थन जैन परम्परा ने कभी नहीं किया। वह तो द्रव्ययज्ञ (भौतिक यज्ञ) को अग्निकायिक जीवों की हिंसा से युक्त होने से पाप कर्म मानती थी (द्र. उत्तराध्ययन सूत्र-12/39), और संयम-तपोमय चर्या रूपी ज्ञानयज्ञ की ही प्रचारक व समर्थक रही (उत्तराध्ययन सूत्र-12/41-44)।

उक्त यज्ञीय विरोध की भावना वैदिक शिव की कथाओं में भी दृष्टिगोचर होती है। वैदिक परम्परा के भागवत पुराण (के 4/5-6 अध्यायों) में तथा महाभारत (12/284 अध्याय) में शिव को दक्ष-यज्ञ के विध्वंसक के रूप में चित्रित किया गया है। प्रजापति दक्ष यज्ञीय संस्कृति के समर्थक थे। उन्होंने यज्ञ का आयोजन किया। शिव को आमंत्रित नहीं किया। शिव-पत्नी पार्वती, शिव के मना करने पर भी, पिता के यज्ञ-विधान में सम्मिलित होने के लिए गई। वहां अपने पति शिव के प्रति पिता के अपमान-जनक रूख को देख कर वह यज्ञ-कुण्ड की धधकती अग्नि-ज्वाला में कूद पड़ी और भस्मीभूत हो गई। शिव को इस घटना का पता चला तो वे क्रुद्ध हुए। उनके गणों ने आकर दक्ष के उक्त यज्ञ को तहस-नहस कर दिया। बाद में देवताओं के बीच-बचाव करने पर शिव को यज्ञ-भाग में सम्मिलित करने हेतु दक्ष प्रजापति सहमत हो गए।

उक्त कथा से आंशिक साम्य लिए हुए एक कथा जैनागम में भी प्राप्त होती है। उत्तराध्ययन सूत्र (के 12 वें अध्ययन, हरिकेशबल) में वर्णित है कि जैन मुनि हरिकेशबल एक यज्ञशाला में गए। यज्ञकर्ता ब्राह्मणों ने उन्हें अपमानित किया तथा भिक्षा नहीं दी। मुनि के भक्त यक्ष-देवों ने ब्राह्मणों को प्रताडित/पीडित किया। ब्राह्मणों ने क्षमा मांगी और वे यक्ष-पीड़ा से मुक्त हो गए। इसी तरह की एक अन्य कथा भी उत्तराध्ययन सूत्र (25 वें अध्ययन 'यज्ञीय') में प्राप्त होती है। जयघोष मुनि यज्ञशाला में गए तो उन्हें भिक्षा नहीं मिली।

जयघोष मुनि ने ब्राह्मणों को सद्ज्ञान दिया और सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप को समझाया। निष्कर्ष यह है कि वैदिक शिव व जैन तीर्थंकर ऋषभ या जैन मुनि में वैदिक-यज्ञविरोधक होने के साम्य ने दोनों परम्पराओं को निकट ला दिया। इस प्रक्रिया में जैन परम्परा के सर्वोच्च देव ऋषभदेव तथा वैदिक परम्परा के शिव में साम्य स्थापित करने का प्रयास भी सम्मिलित है।

(शिव व ऋषभ की एकता:-)

शिव व ऋषभ में उपर्युक्त साम्य को देखकर कुछ विद्वानों, इतिहास-विदों व सांस्कृतिक अध्येताओं ने शिव व ऋषभ– दोनों को एक ही प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। हो सकता है, भगवान् ऋषभदेव ही वैदिक परम्परा में 'शिव' के रूप में स्वीकृत हो गए और उन्हें वैदिक संस्कृति के अनुरूप कथानकों के माध्यम से 'महादेव' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। या यह भी हो सकता है कि वैदिक परम्परा के 'शिव' की विशेषताओं को जैन-परम्परा के अनुकूल जानकर, उन्हें ऋषभदेव के जीवन-चर्या में समाहित कर लिया गया।

ऋषभदेव व शिव की पारिवारिक स्थिति पर दृष्टिपात करें तो उनमें प्रतीकात्मक 'साम्य' आश्चर्यजनक रूप में दृष्टिगोचर होता है। ऋषभदेव के दो पुत्र थे, जिनमे बाहुबलि ने निवृत्तिमार्ग का अनुसरण कर सर्वप्रथम सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का गौरव प्राप्त किया, जब कि भरत ने चक्रवर्ती बन कर प्रवृत्तिमार्ग का अनुसरण किया। अंत में वे भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। दूसरी तरफ, वैदिक परम्परा के शिव के दो पुत्रों में 'गणेश' सर्वपूज्य देव बने, जब कि दूसरे पुत्र कार्तिकेय देवताओं के सेनापति बन कर उनके विजयाभियान में सहयोगी बने।

जैन परम्परा के अनुसार, बाहुबलि ने भरत चक्रवर्ती की अधीनता नकार कर चक्रवर्ती के विजयाभियान में विघ्न उपस्थित किया था। किन्तु बाद में निवृत्तिमार्ग को स्वीकार कर उक्त विघ्न को

स्वयं समाप्त किया था। दूसरी तरफ, वैदिक परम्परा में गणेश को भी विघ्नविनाशक देव के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है।

इतना ही नहीं, अन्य अनेक साक्ष्य व प्रमाण शिव व ऋषभ की एकता की मान्यता को समर्थित करते हैं। अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं, जिनका सार यहां प्रस्तुत किया जा रहा हैः—

विचार किये जानें पर ऋषभदेव और शिव के स्वरूप में अनेक ऐसे साम्य सामने आते हैं जो यह सोचने पर बाध्य कर देते हैं कि ऋषभदेव और शिव शायद दो व्यक्तित्व या दो अवतार नहीं थे। ऐसा मानने के पर्याप्त कारण हैं कि ऋषभदेव और शिव एक ही समान व्यक्तित्व के दो समानान्तर रूप भारत की दो प्रमुख परम्पराओं में प्रतिष्ठित हो गये हों।

यहां हम कुछेक ऐसी ही विशेषताओं पर विचार करेंगे जिनके आधार पर शिव और ऋषभदेव की समानता को बल मिलता है—

(1) शिव कैलाशवासी थे। ऋषभदेव ने मरूदेवी की कोख से जन्म लिया था। आप्टे के संस्कृत-हिन्दी शब्दकोष में 'मरू' शब्द का एक पहाड़ या पर्वत भी अर्थ किया गया है। ऋषभदेव ने संसार त्याग कर अपनी साधना के लिए कैलाश को ही चुना। वहीं से उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।

(2) शिव का वाहन नन्दी या वृषभ प्रसिद्ध है। ऋषभदेव का चिन्ह भी वृषभ ही है। उनकी प्रतिमाओं की पहचान वृषभ चिन्ह से ही होती है जो सदैव उनके आसन पर अंकित रहता है।

(3) शिव का विषपान प्रसिद्ध है। ऋषभदेव ने भी समस्त एकान्त, या परस्पर निरपेक्ष धारणाओं/मान्यताओं का विष ग्रहण करके, स्याद्वाद दृष्टि से और अनेकान्तमयी वाणी से उसमें अमृतत्व की उत्पति की। वही अमृत उनकी वाणी में बिखरता रहा।

(4) स्कंद, षण्मुख, या कार्तिकेय शिव के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनके छह मुख कहे गये हैं। ऋषभदेव ने भी असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प, इन छह कर्मों का उपदेश दिया। इन्हीं छह कर्मों के माध्यम से ऋषभदेव ने अहिंसक और शान्तिपूर्ण समाज की रचना का प्रयत्न किया। कार्तिकेय के छह मुखों में ऋषभदेव की छह शिक्षाओं में समानता ढूंढी जा सकती है।

(5) शिव के कनिष्ठ पुत्र गणेश ने अपने अग्रज कार्तिकेय से युद्ध किया और उन्हें पराजित करके भौतिक शक्तियों पर नीति और बुद्धि का वर्चस्व स्थापित किया। ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली ने भी अग्रज भरत से युद्ध किया और भौतिक शक्तियों पर न्याय-नीति का तथा आत्मशक्ति का वर्चस्व अपने ज्येष्ठ भ्राता को पराजित करके स्थापित किया।

(6) शंकरजी पार्वती के पति थे। पर्वत-निवासिनी जनता को पार्वती कहा जाता है। उस पार्वती (जनता) के प्रभु (पूज्य) होने के कारण भ. ऋषभ को पार्वतीपति भी कहा जाता है।

मध्य लोक में शिवजी के 'शिवलिंग' की पूजा की जाती है। शिव यानी मुक्ति, लिंग यानी पहिचान। अर्थात् जिस आत्मधर्म के द्वारा आत्मा को आत्मा की पहिचान हो, और अन्त में आत्मा शिव का रूप प्राप्त कर ले, वह आत्मा शिवात्मा (सिद्धात्मा) है। भगवान् ऋषभ भी आत्मा की पहिचान कर अन्त में शिवात्मा हो गये।

(7) शिव ने अपने परिकर के माध्यम से अहिंसा का सन्देश दिया। यह उनकी अहिंसक शक्ति का ही चमत्कार था कि देवी पार्वती के वाहन सिंह ने शिव के वाहन वृषभ को, तथा कार्तिकेय के वाहन मयूर ने गणेश के वाहन मूषक को कभी आतंकित नहीं किया। शिव के आभूषण स्वरूप नाग-समूहों ने भी मूषकराज को प्रताड़ित नही किया और उन नाग-समूहों को कार्तिकेय के मयूर से कभी कोई विपत्ति नहीं सहनी पड़ी। प्राकृतिक रूप से शत्रु-भाव

रखने वाले ये सभी जीव मात्र शिव के नैकट्य के कारण परस्पर मैत्री भाव से रहते रहे। जैन साहित्य में तीर्थंकर का ऐसा प्रभाव भी वर्णित है कि उनकी सभा में सभी प्राणी अपना परस्पर वैर भूल कर शान्त भाव से बैठते हैं (द्र. ज्ञानार्णव- 22/26/1172)।

(8) शिव दीर्घकेशी कहे गये हैं। उनका जटा-समूह इतना सघन, ऐसा विस्तृत और इतना कुंचित कहा गया है कि सुर-सरिता गंगा का उद्धत प्रवाह उस केशराशि में विलीन होकर सहस्रों धाराओं में विभाजित हो गया था। भगवान् ऋषभदेव भी दीर्घकेशी थे। जैन पुराणों में तो उनके जटाधारी होने के पुष्कल प्रमाण मिलते ही हैं, ऋग्वेद में भी 'वातरशना मुनि' के संदर्भ में उनके केशी रूप का संस्तवन किया गया है:-

केश्यग्निकेशी विषं केशी बिभर्त्ति रोदसी,
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।

(ऋग्वेद 1/136/1)

नाभिनन्दन ऋषभदेव की जटाजूटें साहित्य और कला में सर्वत्र विख्यात रही हैं। उनकी प्रायः सभी प्राचीन प्रतिमाओं में इन जटाओं का अंकन अनिवार्य रूपेण मिलता है। कहीं सुरूचिपूर्वक गुंथे गये केश-गुच्छ के रूप में और कहीं कांधे या पीठ तक लहराती उन्मुक्त केशराशि के रूप में।

ऋषभदेव की प्रतिमाओं में जटाओं का अंकन उनकी दीर्घकालीन दुर्द्धर तप साधना को रेखांकित करने के लिए किया जाता है। उन्होंने संन्यास धारण करते ही, एक आसन से छह मास की अखण्ड समाधि धारण की थी। स्वाभाविक ही इस कालावधि में उनकी केशलोंच क्रिया, जो प्रति दो माह में होनी चाहिए थी, नहीं हो पाई और उनके बढ़े हुए केशों ने जटाओं का रूप धारण कर लिया।

महाकवि आचार्य जिनसेन (नवमी शताब्दी) ने अपने ग्रन्थ 'महापुराण' के मंगलाचरण में जटाधारी ऋषभदेव का स्तवन करते

हुए कहा– 'चिरकाल तक तपस्या रत रहने के कारण आपके मस्तक पर बढ़ी हुई जटाएं ऐसी लगती हैं जैसे ध्यानाग्नि से दहकते कर्म रूपी ईंधन से निकलती धूम-समूह की श्यामल जटायें ही हों।'

चिरं तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभुस्तराम्।
ध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धन्निर्यद्धूम-शिखा इव॥

(आदिपुराण- 1/9)

(9) गंगावतरण-हेतु राजा भगीरथ क प्रयत्नों की लता में सफलताः– भगीरथ के प्रयत्नों की लता में सफलता का पुष्प यदि नहीं खिला होता तो प्रलय-दग्ध यह वसुंधरा 'मरू-भूमि' ही बनी रह गई होती। शिव ही मरू-लोक के लिए उस अमृत-धार के संवाहक बने। उस धारा ने संतप्त जगत् को शीतलता प्रदान की थी। जैन भक्तिकाव्यों में भगवान् की वाणी को गंगा की उपमा से मण्डित किया गया है।

आचार्य जिनसेन ने उस शीतलवाहिनी गंगा की पहिचान भगवान् आदिनाथ की वचनगंगा से की है। उन्होंने लिखा– 'हे भगवन्! आपकी यह दिव्य वचनावली अज्ञानान्धकार के प्रलय में विनष्ट जगत् की पुनरूत्पत्ति के लिए न सींचे गये अमृत के समान मालूम होती है'–

तमःप्रलयलीनस्य जगतः सज्जनं प्रति।
त्वयामृतमिवासिक्तमिदमालक्ष्यते वचः॥

(आदिपुराण 1/158)

वादिराज महामुनि ने भगवान् की स्तुति करते हुए ऐसी विलक्षण भक्ति गंगा की कल्पना की है जो स्याद्वाद-गिरि से निकलकर, भगवान् के चरणों का स्पर्श करती हुई, मोक्षरूपी सागर में विलीन होती है-

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धे-
र्या देव त्वत्पदकमलयोः संगता भक्तिगंगा।

चेतस्तस्यां मम रूचिवशदाप्लुतक्षालितांहः-

कल्माषं यदि भवति किमियं देव! संदेहभूमिः।

(मुनि वादिराजकृत एकीभाव स्तोत्र-16)

कवि भागचन्द ने तो भगवान् की गिरा-गंगा को लेकर एक पूरा रूपक ही प्रस्तुत कर दिया। वे कहते हैं– 'जिन प्रभु की वचनगंगा नाना प्रकार के नयों की लहरियों से नित्य निर्मल बनी रहती है, वह अपार ज्ञान-पारावार के रूप में परिणत होकर जगत् के समस्त जनों को पवित्रता प्रदान करने की क्षमता से युक्त है, और नित्य ही विद्याविलासी साधक रूपी हंसों के समूहों से सुशोभित होती है, वे प्रभु मुझे निरन्तर दर्शन देते रहें।'–

यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला,

बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या या स्नपयति।

इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता,

महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु नः॥

(कवि भागचन्दकृत महावीराष्टक-5)

इस प्रकार शिव की जटाओं में गंगा का अवतरण, वचन-गंगा या ज्ञानगंगा के रूप में ऋषभदेव के साथ बार-बार रूपायित हुआ है।

(1) शिव-विग्रह में चन्द्रमा को उनके मस्तक पर शोभित आभूषण के रूप में अंकित किया गया है। चन्द्रमा में जगत् के अन्धकार को नष्ट करने की क्षमता है, वही उसका उपकार है और वही उसकी सार्थकता है।

जिनसेन आचार्य ने ऋषभदेव की मंगलवाणी को चन्द्रमा की उपमा देते हुए कहा– 'हे नाथ! यदि अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाली आपकी वचनरूपी किरणावली प्रगट नहीं होती तो निश्चित ही यह समस्त जगत् अविद्या के सघन अंधकार में ही डूबा रहता':–

नोदभास्यन् यदि ध्वान्तविच्छिदस्त्वद्वचोंशवः।
तमस्यन्धे जगत्कृस्नमतिष्ठास्यदिदं ध्रुवम्।।

(आदिपुराण–1/159)

(11) भगवान् ऋषभ का निर्वाण (शिव) कैलाश गिरि पर माघ कृष्णा चतुर्दशी को हुआ था। जैन परम्परा में कल्पसूत्र (सू. 199), जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (सू. 48) व त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित के अनुसार माघकृष्णा त्रयोदशी को ऋषभदेव का निर्वाण माना जाता है। किन्तु तिलोयपण्णत्ति (11/1185) में चतुर्दशी को इनका निर्वाण माना गया है। हिन्दू परम्परा में उत्तरप्रान्तीय लोग फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को तथा दक्षिणप्रान्तीय लोग माघकृष्ण चतुर्दशी को 'शिवरात्री' का पर्व मनाते हैं।

ऋषभदेव का निर्वाण माघ कृष्णा त्रयोदशी या चतुर्दशी को हुआ हो, लोगों ने उसी दिन या दूसरे दिन इसे एक समारोह के रूप में मनाया और वह दिन हिन्दू परम्परा में शिवरात्री के रूप में मनाया जाता है।

(पुरातात्त्विक साक्ष्यों से प्राचीनता:-)

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में शिव और ऋषभदेव- दोनों ही अपनी-अपनी परम्पराओं में प्राचीनतम देव माने जाते हैं। ऐतिहासिक पुरातात्त्विक प्रमाणों से भी इनकी सर्वाधिक प्राचीनता सिद्ध होती है।

मोहनजोदड़ो (हैदराबाद, सिन्ध) में टीलों एवं भग्नावशेष खंडहरों की खुदाई होने पर जो 5 हजार वर्ष पूर्व की प्राचीन वस्तुएं भूगर्भ से प्राप्त हुईं, उनमें से कुछ मोहरें (स्वर्ण-मुद्रा) भी हैं। उनमें से प्लेट संख्या 2 से 5 तक की मुहरों पर (सीलों पर) भ. ऋषभनाथ की खड्गासनस्थ नग्न मूर्ति है, और सीलों के दूसरी ओर वृषभ का चिन्ह अंकित है।

प्रो. श्री रामप्रसाद जी चन्दा ने इन सीलों का गंभीर अध्ययन कर मोडर्न रिव्यू के अंक अगस्त 1932 के प्रकाशन में जो अपना अभिमत प्रगट किया है, उसका सारांश निम्न प्रकार हैः-

मिस्र में (ईजिप्सयन) भी प्राचीन मूर्तियां हैं, जिनके दोनों हाथ लटक रहे हैं। ये प्राचीन मूर्तियां ग्रीक मूर्तियों जैसी हैं किन्तु इनमें वैराग्य की दृष्टि का- जो कि मोहनजोदड़ो और मथुरा की (ईसा की दूसरी शताब्दी की भ.ऋषभदेव की खड्गासन मूर्तियों) जैन मूर्तियों में पायी जाती है- अभाव है।

वृषभ का अर्थ बैल है, और बैल ऋषभनाथ का चिन्ह है। प्लेट नं. 2 से 5 नं. तक की सीलों पर खड़ी हुई मूर्तियां जो कि बैल सहित हैं भ. ऋषभदेव की प्रतिकृति हैं। उच्च मूर्तियों का कायोत्सर्ग आसन विशेषरूप से जैन परम्परा में प्राप्त होता है और इन मूर्तियों को जैन सिद्ध करता है।

ये सीलें 5 हजार वर्ष पूर्व प्राचीन मालूम देती हैं। इससे प्रमाणित होता है कि जैनधर्म के आदि संस्थापक श्री ऋषभनाथ की पूज्यता बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है।

डा. श्री प्राणनाथ जी विद्यालंकार (हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में इतिहास के प्राध्यापक) जी के शब्दों में:- 'मोहनजोदड़ो की साढ़े पांच हजार वर्ष पुरानी 449 वीं सील पर जिनेश्वर य जिनेश शब्द अंकित है। जिनेश या जिनेश्वर शब्द जैनधर्म के प्रचारक एवं प्रवर्तक तीर्थंकर का द्योतक है।' उपर्युक्त अभिमत से यह स्पष्ट है कि साढ़े पांच हजार वर्ष पूर्व जैन तीर्थंकरों की श्रेष्ठता समाज में प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

जैन तीर्थंकर और अवतार

जैन धर्म अवतारवाद को नहीं मानता, वह उत्तारवाद का समर्थक है। इसके विपरीत, वैदिक परम्परा अवतारवाद की समर्थक

है और यह मानती है कि ईश्वर अपने अंशों से या पूर्ण रूप से इस संसार में जन्म लेता है। जैन परम्परा का मानना है कि अनादि कर्म-बन्धनों में बंधी आत्मा अपने तप-संयम-साधना के पुरुषार्थ से कर्म-बन्धन तोड़कर ईश्वरत्व प्राप्त करती है और पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेती। जैन परम्परा के तीर्थंकर वे पुण्यशाली आत्माएं होती हैं जो प्रमुख (आत्मघाती) कर्मों को निर्मूल नष्ट कर असाधारण चमत्कारी स्वरूप को प्राप्त करने में सक्षम होती हैं। वे नियत आयु भोगकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होती ही हैं।

उक्त मान्यता-भेद के बावजूद, जैन तीर्थंकरों और वैदिक अवतारों की अवधारणा में कुछ विलक्षण साम्य हैं।

गीता के अनुसार, धर्म की स्थापना तथा अधर्म का नाश करने के लिए ईश्वरीय अवतार होता है:-

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे

(गीता-4/8)।

जैन परम्परा के तीर्थंकर भी अपने उपदेश से धर्म-परम्परा को पुष्ट या पुनर्जीवित करते हैं। भगवान् महावीर के लिए पुराणकार ने अपनी भावाभिव्यक्ति इस प्रकार दी है:-

योऽन्त्योऽपि तीर्थकरमग्रिममप्यजैषीत्,
काले कलौ च पृथुलीकृतधर्मतीर्थः॥

(उत्तरपुराण-76/546)

– अर्थात् भगवान् महावीर ने कलियुग (के अधर्मप्रधान काल) में धर्म-तीर्थ को पुष्ट किया और इस प्रकार अन्तिम तीर्थंकर होते हुए भी अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकर (के चातुर्याम धर्म को पंचयाम धर्म के रूप में व्याख्यायित कर उन) से भी कहीं आगे बढ़ गए थे।

आचार्य मानतुंग के शब्दों में धर्म-उपदेश की सभा में जिनेन्द्रदेव की जैसी विभूति/महिमा है, वैसी महिमा किसी अन्य की नहीं है (भक्तामर स्तोत्र-37)।

वैदिक अवतारों की तथा जैन तीर्थंकरों की संख्या में भी साम्य दृष्टिगोचर होता है। वैदिक परम्परा के भागवत पुराण में भगवान् के अवतारों की संख्या असंख्य बताई गई है– **अवतारा ह्यसंख्येयाः हरेः सत्त्वनिधेः द्विजाः** (भागवत-1/3/26)। वैदिक हरिवंशपुराण व महाभारत में अवतारों की संख्या की असंख्यता का आधार अनन्त कालचक्र को माना हैः–

प्रादुर्भावसहस्राणि अतीतानि न संशयः।
भूयश्चैव भविष्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः॥

(हरिवंशपुराण-1/41/41)

अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः।

(महाभारत-12/339/16)

जैन परम्परा की दृष्टि वे विचारें तो जैन तीर्थंकरों की संख्या भी असंख्य मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी चक्र अनादि काल से चल रहे हैं और अनन्तकाल तक चलते रहेंगे और इस प्रकार तीर्थंकरों की संख्या भी असंख्य स्थिति को प्राप्त कर सकती या उसे भी पार कर सकती है।

कुछ प्रमुख वैदिक अवतारों को लक्ष्य में रखकर वैदिक अवतारों की नियत संख्या भी मानी गई है। प्रारम्भ में यह संख्या दस थी (द्र. महाभारत- 12/339/13-14, मत्स्य पुराण-285/6-7, पद्मपुराण-6/43/13-15, उत्तर. 257/4-41 आदि) किन्तु उसे बढा कर 22 व 24 तक पहुंचा दिया गया। भागवत पुराण (1/3 अध्याय) में 22 निम्नलिखित अवतार बताए गए हैं– 1. कौमार सर्ग (सनक, सनन्दन, सनातन व सनत्कुमार), 2. वराह, 3. नारद 4. नर-नारायण 5. कपिल, 6. दत्तात्रेय, 7. यज्ञ, 8. ऋषभदेव 9. पृथु, 10. मत्स्य, 11. कच्छप (कूर्म), 12. धन्वन्तरि, 13. मोहिनी 14. नृसिंह, 15. वामन, 16. परशुराम, 17. वेदव्यास, 18. राम, 19. बलराम 20. कृष्ण, 21. बुद्ध और 22. कल्कि। टीकाकारों ने इनमें दो अवतारों– 23. हंस व 24. परमहंस

को जोड़कर अवतारों की संख्या 24 तक पहुंचा दी। पांचरात्र संप्रदाय में ईश्वर के चौबीस पर्याय-विभव माने गए हैं। जैसे, एक दीपक से कई दीपक प्रज्वलित हो जाते हैं, वैसे ही एक ही ईश्वर के ये विविध रूप होते हैं (द्र. बृहद्हारीत स्मृति-1/5/145)। उक्त संख्या जैन तीर्थंकरों की 24 संख्या से मेल खाती है। दोनों परम्पराओं का यह साम्य अद्भुत है।

सारांश यह है कि वैदिक परम्परा में 24 अवतारों की संख्या में नाम जोड़े व घटाये जाते रहे। इसी प्रसंग में एक तथ्य की ओर संकेत करना अपेक्षित होगा। वह यह कि वैदिक अवतारों में वराह, कूर्म, हयाश्व– ये तीन नाम प्राप्त होते हैं। जैन अवतारों के चिन्हों में भी इनका अस्तित्व है। जैसे तृतीय तीर्थंकर का अश्व, 13 वें तीर्थंकर का वराह, तथा 2 वें तीर्थंकर सुव्रत का कूर्म चिह्न माना गया है।

गृहस्थ-चर्या और भिक्षु-चर्या:-

वैदिक व जैन इन दोनों धर्मों की गृहस्थ-चर्या और भिक्षु/संन्यासी-चर्या में भी पर्याप्त समानता है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों धर्मों की अपनी-अपनी मौलिक विशेषताएं यथावस्थित हैं, तथापि कुछ उल्लेखनीय साम्य भी उन दोनों में है जिससे उन दोनों में अनुस्यूत एकता रेखांकित होती है।

(1) गृहस्थ व श्रावक का सामान्य जीवन:-

वैदिक परम्परा के ब्रह्मचारी व गृहस्थ की चर्या को देखें और दूसरी तरफ जैन परम्परा के श्रावक/श्रमणोपासक की जीवन-चर्या को देखें तो दोनों में 'अहिंसा' धर्म अनुस्यूत दृष्टिगोचर होता है। दोनों ही धर्म, अपने असंन्यस्त जीवन में भी यथाशक्ति अहिंसा, समता, संयम, त्याग, सहिष्णुता व परोपकार आदि की भावना को क्रियान्वित करने का सदुपदेश या मार्गदर्शन देते हैं।

महाभारत (12/191/15) में कहा गया है:– **अहिंसा सत्यमक्रोधः, सर्वाश्रमगतं तपः।** अर्थात् सभी आश्रमों के लिए अहिंसा, सत्य व क्षमा– ये सामान्य धर्म हैं। इसी प्रकार पुलस्त्य स्मृति (22) तथा गरुड पुराण (1/25/22) में सभी वर्णों व आश्रम धर्म के अनुयायियों के लिए अहिंसा, सत्य, शौच (पवित्रता), दया व क्षमा को 'सामान्य धर्म' बताया गया है। जीवन में दया, क्षमा, संयम, अचौर्य, सत्यभाषण, परोपकार, सहिष्णुता, त्याग आदि जितनी भी प्रशस्त भावनाएं या प्रवृत्तियां हैं, वे सब 'अहिंसा' में समाहित हैं। महाभारत (13/115/69) के अनुसार अहिंसा धर्म को जीवन में उतारने वाले व्यक्ति स्वर्ग सुख को हस्तगत करते हैं।

जैन परम्परा में प्रत्येक गृहस्थ और प्रत्येक श्रमण के लिए 'व्रत' का पालन करना अपेक्षित है। ये व्रत 5 हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह। गृहस्थ इन व्रतों को यथाशक्ति स्थूल रूप से पालता है जब कि श्रमण पूर्ण रूप से। इसलिए गृहस्थ या श्रावक का व्रत 'अणुव्रत' कहलाता है और श्रमण का महाव्रत (उपासक दशांग-1/11, हरिवंश पुराण-58/116. तत्त्वार्थसूत्र-7/1-2)।

(मांसादि-त्याग)

अहिंसक चर्या की प्रधानता के कारण, दोनों परम्पराओं में हिंसाबहुल मांस-भक्षण का सर्वथा निषेध किया गया है। वैदिक परम्परा का आदेश है– न मांसमश्नीयात् (तैत्तिरीय ब्राह्मण- 1/1/9/71-72) अर्थात् मांस नहीं खाना चाहिए। स्मृतिकारों व महाभारतकार ने मधु, मांस, मद्य– इन सभी को, सम्भवतः हिंसा से सम्बद्ध होने के कारण, त्याज्य बताया है (मनुस्मृति-6/9,2/177, महाभारत-12/11/22)।

जैन परम्परा में प्रत्येक श्रावक के लिए मद्य व मांस आदि को हिंसाबहुल बताते हुए सर्वथा व नियमतः असेवनीय माना गया है (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय- 4/25-27/61-63, हैम योगशास्त्र- 3/18-22,33 आदि)।

(अतिथि-सत्कारादि)

त्याग व दान की प्रवृत्ति के प्रतीक 'अतिथि-भोजनदान' को दोनों धर्मों में आदर प्राप्त है। वैदिक परम्परा में अतिथि को भोजनादि से सत्कृत करना 'मनुष्ययज्ञ' माना गया है (**नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्-मनुस्मृति, 3/70**)। वाल्मीकि रामायण के अनुसार, रामचन्द्र जी ब्राह्मण या श्रमण, जो भी अतिथि के रूप में आते, भोजनादि से सन्तुष्ट करते थे (वाल्मीकिरामायण- 14/22)। वैदिक धर्म को मानने वाला प्रत्येक गृहस्थ न केवल अतिथियों को, अपितु अपने भोजन में से पशु-पक्षियों को भी यथोचित अन्न-दान देकर ही भोजन करता है (मनुस्मृति- 3/92, विष्णु पुराण- 3/11/51-56)।

जैन परम्परा में भी श्रावक के लिए 'अतिथि संविभाग' व्रत (शिक्षाव्रतों में) का विधान है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार लोभ मनोविकार (कषाय) हिंसा रूप ही है, उसका त्याग करने की दृष्टि से'अतिथि-संविभाग' व्रत का विधान किया गया है (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-4/136-137/172-173)।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वह दान चार प्रकार का होता है– आहारदान, वस्त्रदान, पात्रदान व आवासदान (हैम योगशास्त्र-3/87)। यहां यह ज्ञातव्य है कि उक्त दान में पात्रता-अपात्रता का विचार करना भी अपेक्षित है (द्र. तत्त्वार्थसूत्र-7/38-39)।

(जल छान कर पीना)

जैन परम्परा में श्रावक के लिए जल छान कर पीने का विधान है। जीव-हिंसा से बचने के लिए जल को छानना आवश्यक है ताकि उसमें विद्यमान जीव उससे पृथक् हो जाएं। जैन विद्वान् पं. आशाधर ने 'सागारधर्मामृत' ग्रन्थ में 'जलगालन' (छान कर जल पीने) को श्रावक के मूलगुणों के रूप में वर्णित किया है :– (द्र. सागारधर्मामृत-2/18, पृ. 63)।

मद्यपलनिशासनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः॥

— मद्य-त्याग, मांस-त्याग, रात्रिभोजन-त्याग, (बड़फल, पीपल फल, पाकर फल, अंजीर, गूलर— इन) 5 उदुम्बर फलों का त्याग, पांच परमेष्ठियों का नमन, जीवदया, जल छानकर पीना— ये आठ मूलगुण हैं।

यह अद्भुत साम्य है कि उक्त निर्देश वैदिक परम्परा में भी दृष्टिगोचर होता है। मनुस्मृति (6/46) में स्पष्ट कहा गया हैः—

वस्त्रपूतं जलं पिबेत् (वस्त्र से छानकार ही जल पीना चाहिए)।

(मृत्यु का निर्भय व निर्विकार होकर वरणः—)

मृत्यु के समय व्यक्ति शान्त, निर्भय, निर्विकार, आसक्त व साम्यभावी रहना चाहिए— इस तथ्य को वैदिक व जैन— दोनों धर्मों में रेखांकित किया गया है। वैदिक परम्परा में गीता (8/6) का स्पष्ट उद्घोष हैः—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तत्तदेवैति कौन्तेय सदा तद्भवमास्थितः॥

— मृत्यु-काल उपस्थित होने पर, व्यक्ति जिस-जिस भाव को स्मृति में रख कर शरीर छोड़ता है, उस-उस भाव (अगले जन्म में) को प्राप्त करता है। इसी भाव को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उपनिषद् का भी कथन हैः—

देहावसानसमये चित्ते यद् यद् भावयेद्।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्म-कारणम्॥

(योगशिखोपनिषद् 1/31)

अर्थात् देह-त्याग करते हुए मन में जैसे भाव होते हैं, उन्हीं के अनुरूप अगला-जन्म प्राप्त करता है।

उपर्युक्त कथनों में वैदिक ऋषि की यह प्रेरणा भी निहित है कि परवर्ती अच्छी योनि/जाति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को मृत्यु-

समय में प्रशस्त भाव रखने चाहिएं। अप्रशस्त भावों के साथ मृत्यु प्राप्त करने पर अप्रशस्त गति में जाना पड़ सकता है।

जैन परम्परा में भावों की प्रशस्तता-अप्रशस्ता का मानदण्ड 'लेश्या' के रूप में वर्णित हुआ है। मृत्यु-समय प्रशस्त-अप्रशस्त भावों (लेश्या) के सुप्रभाव-दुष्प्रभाव को जैन आगम में इस प्रकार व्यक्त किया गया है:-

जल्लेस्साइं दव्वाइं परिआइत्ता कालं करेइ, तल्लेस्सेसु उववज्जइ (भगवती सूत्र-3/4/17-19)।

—अर्थात् व्यक्ति जिस-जिस लेश्या (मनोभाव) को रख कर मृत्यु प्राप्त करता है, वह मरने के बाद उसी मनोभावों के साथ उत्पन्न होता है।

इसी तथ्य को हृदयंगम कर, जैन परम्परा में संलेखना (समाधि-मरण) का विधान किया गया है जो गृहस्थ श्रावक व प्रव्रजित श्रमण— दोनों के लिए अनुष्ठेय है। 'संलेखना' की विधि की पृष्ठभूमि में प्रेरक निर्देश यही है कि अनासक्त, निर्भय, शान्तचित्त होकर मृत्यु का वरण करना चाहिए (द्रष्टव्यः उपासकदशांग–1/57,1/11, ज्ञाताधर्म कथा–1/28, रत्नकरण्डश्रावकाचार- 122-126, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय- 5/3-5/177-179, तत्त्वार्थसूत्र- 7/22,37 आदि)।

(2) अहिंसक श्रमण-चर्या और संन्यस्त जीवनः-

वैदिक परम्परा के 'संन्यासी' तथा श्रमण/जैन परम्परा के भिक्षु/साधु की सामान्य चर्याएं पर्याप्त साम्य रखती हैं— (यद्यपि अपनी-अपनी परम्परा की मौलिकता के अनुरूप उनमें अन्तर तो है ही)। दोनों की जीवन-चर्या अहिंसा, निष्कामता, समता, निष्परिग्रहता व संयत वृत्ति से ओतप्रोत है— यह तथ्य दोनों परम्पराओं के धार्मिक साहित्य के अनुशीलन से परिपुष्ट होता है।

संन्यासी या भिक्षु गृहत्यागी होता है। उसके गृहत्याग को वैदिक परम्परा में 'अनिकेत' (द्र. नारदपरिव्राजकोपनिषद्-7/2, परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्) शब्द से तथा जैन परम्परा में अनगार (उत्तराध्ययन सूत्र-1/1) नाम से संकेतित किया गया है।

महाभारत (12/21/5) के अनुसार प्राणियों के प्रति द्रोह छोड़कर व्यक्ति 'ब्रह्मरूप' हो जाता है। प्राणातिपात (हिंसा) से विरत दयावान्, इन्द्रियसंयमी व वीतराग व्यक्ति कर्म-बन्धनों से छूट जाते हैं (महाभारत-13/144/7-9)। याज्ञवल्क्य उपनिषद् में परिव्राजक (संन्यासी) के लिए अपरिग्रही व अद्रोही विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। वैदिक पद्मपुराण (3/59/19) में भिक्षु के लिए अहिंसक होने का निर्देश है– **प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मौनी स्यात् सर्वनिःस्पृहः।**

जैन परम्परा में भी भिक्षु/साधु के लिए समस्त (षट्जीवनिकाय) जीवों के प्रति अहिंसक रहने की अनिवार्यता बताई गई है। जिनवाणी के कुछ सन्दर्भ यहां प्रासंगिक हैं:– **पाणे य णाइवाएज्जा** (सूत्रकृतांग-1/8/2)- भिक्षु किसी प्राणी की हिंसा न करे। **न विरुज्झेज्ज केण वि** (सूत्रकृतांग-1/11/12) किसी के भी साथ विरोध/द्रोह न करे। **न हणे पाणिणो पाणे** (उत्तराध्ययन-6/7) - किसी भी प्राणी को न मारे, आदि-आदि।

वैदिक परम्परा के योगशास्त्र के अनुसार प्रत्येक आध्यात्मिक साधना के लिए पांच यमों का पालन करना अनिवार्य है। वे हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह (द्र. योगसूत्र. 2/3 व व्यास-भाष्य, कूर्मपुराण-2/11/13 आदि)। परमहंस परिव्राजकोपनिषद् (5/16) में परिव्राजक के लिए इन यमों की रक्षा-पालना करना अपेक्षित माना गया है– ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्नेन रक्षयन्।

जैन परम्परा में पंच महाव्रतों का पालन भिक्षु के लिए अनिवार्य माना गया है। ये पांच महाव्रत (उपर्युक्त पांच यमों के

समान ही) हैं—अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह (ठाणांग-5/1/1)। इनमें अहिंसा व्रत की ही प्रधानता है, क्योंकि सत्य आदि चारों व्रत अहिंसा के ही पल्लवित रूप हैं। व्रत व यम एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। इसीलिए भगवान् पार्श्वनाथ का धर्म 'चातुर्याम' कहा गया है और भगवान् महावीर का धर्म 'पंचयाम'। भगवान् पार्श्वनाथ ने पांचों यमों को इन चार वर्गों में समेट लिया था— अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बाह्य परिग्रह-विरति।

भगवान् महावीर ने सामयिक अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर 'बाह्यपरिग्रह-विरति' के स्थान पर ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह— इन दो व्रतों को मान्यता दी, अतः उन्हें पंचयाम धर्म का उपदेष्टा कहा जाता है (द्र. उत्तराध्ययन सूत्र-23/23-27)। वस्तुतः पंचयाम धर्म उक्त चातुर्याम का ही विस्तारित रूप था, कोई नया व्रत उसमें समाहित नहीं किया गया था। क्योंकि पार्श्वनाथ के समय में स्त्रीपरिग्रह व अब्रह्मचर्य को बाह्य परिग्रह में ही संनिहित माना जाता था।

अग्निकायजीवों की हिंसा के भय से जैन भिक्षु अग्नि नहीं जलाता (द्र.सूत्रकृतांग-1/7/5, दशवैकालिक-6/295-298)। वैदिक परम्परा में भी, सम्भवतः उक्त भावना से भिक्षु को अनग्निसेवी— अर्थात् अग्नि जलाने आदि से दूर (द्र. परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्) बताया गया है।

मार्ग में चलते हुए भिक्षु के पैरों से किसी जीव का वध नहीं हो जाए, इसलिए सम्भावित हिंसा से बचने के लिए जैन भिक्षु 'ईर्यासमिति' का पालन करता है— बहुत सावधानीपूर्वक, साढ़े तीन हाथ प्रमाण सामने की भूमि को ठीक से निहारता हुआ वह विचरण करता है (द्र. आचारांग-2/3/1 सू. 469-47, प्रश्नव्याकरण-2/1 सू. 113, उत्तराध्ययन सूत्र-4/7, 24/6-7 आदि)। वैदिक परम्परा में भी भिक्षु के लिए इसी तरह का निर्देश प्राप्त होता है—

समीक्ष्य वसुधां चरेत् (मनुस्मृति-6/68)।

— जमीन को देख-भाल कर (ही) चले, विचरण करे।

बोलने-चालने में असावधानी से अहिंसा व्रत में दोष लग सकता है, अपनी वाणी से किसी दूसरे के मन को पीड़ा पहुंचा कर उसके हिंसा-दोष लगना सम्भावित है— इस दृष्टि से जैन भिक्षु भाषा समिति व वचोगुप्ति का पालन करता है, वह यतनापूर्वक, संयम-पूर्वक भाषण करता है, वैसे यथासम्भव तो मौन ही रहने का प्रयास करता है (द्र. उत्तराध्ययन- 2/25, 24/9-10 आचारांग-2/4/1 सू. 522, दशवैकालिक- 7/36,385,387, 8/48-49,835,838, 9/55 आदि-आदि)। वैदिक परम्परा में भी उपनिषद् का निर्देश है— **नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्** (संन्यासोपनिषद्- 2/12) अर्थात् बिना पूछे किसी से बातचीत न करे।

(समता की साधना—)

संन्यासी व जैन भिक्षु— दोनों को ही 'समता का साधक' माना गया है।

महाभारत (6/36/13), गीता (2/15) तथा नारदपरिव्राजकोपनिषद् (5/37, 6/25) आदि में संन्यासी को 'समदुःखसुख' अर्थात् प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समभाव धारण करने वाला बताया गया है। जैन परम्परा में भी समता को श्रमणत्व का मूल बताते हुए (समयाए समणो होइ-उत्तराध्ययन- 25/32) श्रमण के समभावी स्वरूप को प्रख्यापित किया गया है (द्र. उत्तराध्ययन 19/91, 19/26, प्रवचनसार- 3/41, दशवैकालिक- 1/525)।

वैदिक परम्परा का संन्यासी 'अभयदाता' माना गया है— नारदपरिव्राजकोपनिषद् (5/15) में कहा गया है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥

— जो मुनि समस्त प्राणियों को 'अभय' देता हुआ विचरण करता है, उसे भी सभी प्राणियों से कभी भयभीत नहीं होना पड़ता।

जैन परम्परा में भी भिक्षु के लिए 'अकुतोभय' (भयभीत नहीं करने वाला और भयभीत नहीं होने वाला) होने का निर्देश प्राप्त होता है (द्र. आचारांग- 1/1/2 सू. 22, सूत्रकृतांग- 1/6/23, ज्ञानार्णव- 8/51/523 आदि आदि)।

(निर्दोष भिक्षाचर्या—)

दोनों परम्पराओं में उदरभरण का साधन 'भिक्षाचर्या' माना गया है। जैन आगमों में श्रमण का पर्याय 'भिक्षु' भी है (उत्तराध्ययन 1/1, दशवैकालिक-1/1)। भिक्खं चर (मूलाचार- 1/4)— अर्थात् भिक्षा हेतु विचरण करो— यह निर्देश भी जैन परम्परा में प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा में भी नारदपरिव्राजकोपनिषद् (5/1) में स्पष्ट निर्देश है—**भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्**, अर्थात् मात्र भिक्षा मांग कर ही जीवन-यापन करे।

भिक्षा मांगने को दोनों परम्पराओं में 'गोचरी' नाम दिया गया है। उपनिषद् में निम्नलिखित स्पष्ट निर्देश हैं जिनमें गौ की तरह भिक्षा चर्या करने का विधान बताया गया है:—

गोवत् मृगयते मुनिः

(संन्यासोपनिषद् 2/78, नारदपरिव्राजकोपनिषद्, 5/11)।

गोवृत्त्य भैक्षमाचरेत् (परमहंसपरिव्राजकोप.)।

जैन परम्परा में भी मुनि द्वारा (**गोचराग्रगतो मुनिः- दशवैकालिक-5/2, उत्तराध्ययन- 2/29 आदि**) गोचरी करने का उल्लेख प्राप्त होता है।

(गोचरी का अभिप्रायः—)

जैसे गाय की दृष्टि आभूषणों से सुसज्जित सुन्दर युवती के श्रृंगार पर नहीं, अपितु उसके द्वारा लायी गई घास पर रहती है, वैसे ही साधु को भी दाता तथा उसके वेश एवं भिक्षा-स्थल की सजावट आदि के प्रति या आहार के रूखे-चिकनेपन आदि पर

ध्यान दिये बिना या उन सबकी अपेक्षा किये बिना आहार-ग्रहण करना गोचरी या गवेषणा आहार-वृत्ति है।

चूर्णिकार जिनदास गणि ने भी गोचरी आहार वृत्ति के विषय में इसी प्रकार का उदाहरण देते हुए कहा है कि जैसे एक युवा वणिक्-स्त्री अलंकृत, विभूषित हो, सुन्दर वस्त्र धारण कर गोवत्स को आहार देती है। किन्तु वह गोवत्स उसके हाथ से उस आहार को ग्रहण करता हुआ भी उस स्त्री के रंग, रूप, आभरणादि के शब्द, गंध और स्पर्श में मूर्च्छित नहीं होता है। इसी प्रकार साधु भी विषयादि शब्दों में अमूर्च्छित रहता हुआ आहारादि की गवेषणा में प्रवृत्त हो। (दशवैकालिक- 5/1/1 की चूर्णि, पृ. 167-168)।

आचार्य हरिभद्र ने 'गोचर' शब्द का अर्थ किया है– गाय की तरह चरना-भिक्षाटन करना। जैसे गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किये बिना चरती है, वैसे ही साधु को उत्तम, मध्यम और अधम कुल का भेद न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार में राग-द्वेष न करते हुए भिक्षाटन करना चाहिए। (दशवैकालिक- हरिभद्रीय टीका, पत्र 18)। निष्कर्ष यह है कि 'गोचरी' में 'समता' भावना अन्तर्निहित होती है।

(विकारवर्धक आहार का त्यागः—)

वैदिक व जैन– दोनों परम्पराएं संन्यासी व भिक्षु के लिए रागादिवर्धक व कामोत्तेजक स्निग्ध आहार के त्याग का निर्देश करती है। वैदिक परम्परा के संन्यासोपनिषद् (2/76) में कहा है- **घृतादीन् वर्जयेद् यतिः**, अर्थात् घृत आदि वस्तुओं का मुनि/यति त्याग करे। जैन परम्परा में वर्णित भिक्षाचर्या-सम्बन्धी निरूपणों में भी अत्यधिक सरस-स्निग्ध-गरिष्ठ पदार्थों के सेवन को वर्जनीय बताया गया है (द्र. कल्पसूत्र-237, उत्तराध्ययन-32/61-68, 16/सू.9, 16/7,15, 17/15, 3/26 आदि)।

(ग्रामादि निवास की मर्यादा—)

भिक्षु को एक ही स्थान पर बने रहने से वहां के लोगों के प्रति अत्यधिक राग या द्वेष होने की सम्भावना होती है और हिंसादि दोष से जीवन-चर्या के दूषित होने की आशंका भी। अतः दोनों परम्पराओं ने भिक्षु के लिए ग्राम-नगर आदि में ठहरने की काल-मर्यादा का निर्धारण किया है। इसी तरह वर्षा-काल में चार मास तक 'चातुर्मास' करने का भी विधान किया है। वैदिक परम्परा के संन्यासोपनिषद् (1 अध्याय) में निर्देश हैः—

ग्रामे एकरात्रं चरे पंचरात्रं चतुरो मासान्
वार्षिकान् ग्रामे वा नगरे वापि वसेद्।

अर्थात् ग्राम में अधिकाधिक एक रात, नगर में पांच रात, तथा वर्षाकाल में ग्राम हो या नगर, वहां चार मास तक निवास करे। भागवत (7/13/1) में भी संन्यासी को गांव में एक रात ठहरने का संकेत किया गया है। इसी तरह की काल-मर्यादा का जैन परम्परा में भी निर्धारण दृष्टिगोचर होता है। (द्र. मूलाचार– (9/19/) 794) **गामेयरादिवासी, णयरे पंचाहवासिणो धीरा।**

जैन परम्परा में 'वर्षावास' (चातुर्मास) में विहार न करने तथा एक ही स्थान पर ठहरने के पीछे कारणों का संकेत करते हुए कहा गया है कि वर्षावास में विहार करने से जीवों की विराधना (हिंसा) होती है (द्र. बृहत्कल्प भाष्य, गाथा- 2736-37, आचारांग सूत्र- 2/3/1/111)। अतः उपर्युक्त निवास की मर्यादा की पृष्ठभूमि में 'अहिंसा' धर्म का अनुष्ठान ही प्रमुख उदेश्य सिद्ध होता है।

पर्व व त्यौहार-

मनुष्य समाज की बुद्धिमान् इकाई है। उसमें धर्म और समाज का स्वरूप अन्तर्व्याप्त रहता है। उसकी अन्तश्चेतना को अनुप्राणित करने के लिए अनेक पर्व और त्यौहारों का आयोजन

होता है। पर्व में धार्मिकता और त्यौहार में सामाजिकता का प्राधान्य रहता है। जन-जीवन में आत्मविश्वास, उत्साह तथा क्रियान्वयता का संचार पर्व अथवा त्यौहार द्वारा किया जाता है।

पर्व अथवा त्यौहार धर्म और समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति हैं। किसी जिज्ञासु ने अमुक धर्म अथवा समाज की आधारभूत पृष्ठभूमि जानना चाही तो गुरु ने उत्तर देते हुए कहा कि धर्म अथवा समाज के अन्तर्मानस को जानने के लिए उनसे सम्बन्धित पर्व अथवा त्यौहार को जान लेना परम आवश्यक है।

वैदिक व जैन– दोनों परम्पराओं में अपने-अपने अनेक विशिष्ट पर्व व त्यौहार मनाये जाते हैं, उनमें कुछ पर्व व त्यौहार ऐसे भी हैं जिन्हें दोनों परम्पराएं मनाती हैं, यद्यपि उन्हें मनाने की पृष्ठभूमि दोनों की पृथक् -पृथक् व भिन्न रही है। ऐसे दो पर्व हैं– दीपावली और रक्षाबन्धन।

(1) दीपावली पर्वः-

हिन्दू जनता इस पर्व को लक्ष्मी-पूजन दिवस के रूप में मनाती है। दीपक प्रकाश का स्रोत होता है जो अन्धकार का विपरीत रूप है। अन्धकार प्रतीक है– अज्ञानता का एवं दरिद्रता का। दरिद्रता–नाशक लक्ष्मी तथा अज्ञान-नाशक गणेश–दोनों का मूर्तिमन्त रूप है–प्रकाशयुक्त दीपक। इस पर्व में दीपावलियां प्रज्वलित करने तथा गणेश-महालक्ष्मी के पूजन की प्रथा चिरकाल से चली आ रही है। इस पर्व के प्रचलन की पृष्ठभूमि की व्याख्या विविध प्रकार से की जाती रही है। कुछ लोग रावण को जीतकर भगवान् राम के अयोध्या लौटने की घटना से इस पर्व का प्रचलन स्वीकार करते हैं तो कुछ लोग सम्राट् अशोक की दिग्विजय से इसे जोड़ते हैं।

कुछ विद्वान् इसे यक्षपूजा की प्राचीन परम्परा का परिष्कृत रूप मानते हैं। संभवतः इस पर्व का प्रचलन कोई ऐसी प्राचीनतम

ऐतिहासिक घटना से रहा होगा जिसने भारतीय जन-मानस में भौतिक व आध्यात्मिक- दोनों तरह की सुख-समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया होगा। इस पर्व को मनाकर भारतीय जन-मानस भावी सुख-समृद्धि की कामना करता है और उक्त कामना की पूर्ति हेतु अभीष्ट देव गणेश-महालक्ष्मी की पूजा-उपासना करता है।

जैन परम्परा इस पर्व को अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण-गमन तथा उनके प्रथम गणधर गौतम को हुई केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की उपलब्धि से जोड़ती है।

जैन आगम में प्राप्त निरूपण के अनुसार, महावीर भगवान् भव्यजीवों को उपदेश देते हुए पावानगरी में पधारे। भगवान् ने दो दिन का उपवास किया। वे दो दिन-रात तक प्रवचन करते रहे। भगवान् ने अपने अंतिम प्रवचन में पुण्य और पाप के फलों का विशद विवेचन किया। भगवान् प्रवचन करते-करते ही निर्वाण को प्राप्त हो गए। उस समय रात्रि चार घड़ी शेष थी। (कल्पसूत्र, सू. 147 व सुबोधिका टीका)।

इस प्रकार चतुर्थकाल की समाप्ति में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर, कार्तिकी अमावस्या के प्रभातकालीन सन्ध्या के समय, योग (मन-वचन-काय की क्रिया) का निरोध करके कर्मों का नाश कर भगवान् महावीर मुक्ति को प्राप्त हुए। वह ज्योति मनुष्य-लोक से विलीन हो गई जिसका प्रकाश असंख्य लोगों के अन्तःकरण को प्रकाशित कर रहा था।

वह ज्ञान-सूर्य क्षितिज के उस पार चला गया जो अपने रश्मिपुंज से जन-मानस को आलोकित कर रहा था। भगवान् का निर्वाण हुआ, उस समय क्षणभर के लिए समूचे प्राणी-जगत् में सुख की लहर दौड़ गई। उस समय मल्ल और लिच्छवि गणराज्यों ने दीप जलाए। कार्तिकी अमावस्या की रात जगमगा उठी (द्र. कल्पसूत्र 127)।

चारों प्रकार के देवताओं ने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाये। उस समय उन दीपकों के प्रकाश में पावानगरी का आकाश प्रदीपित हो रहा था (द्र. हरिवंश पुराण 66/15-21)।

भगवान् महावीर के निर्वाण-प्राप्ति के उपलक्ष में दीपावली-नाम से पर्व के मनाये जाने का उल्लेख विक्रम की नवीं शती (विक्रम संवत् 84) के पौराणिक ग्रन्थ (जिनसेन-कृत) 'हरिवंश पुराण' (66/2) में उपलब्ध होता है—

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयाऽत्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्र-निर्वाणविभूतिभक्तिभाक्॥

—अर्थात् महावीर की कैवल्य-घटना पर देवों द्वारा की गई दीपावली की उस घटना के बाद से ही, भारतवर्ष के लोगों ने भगवान् की कैवल्य-लक्ष्मी के प्रति बहुमान देते हुए जिनेन्द्र-देव की पूजा-उपासना की दृष्टि से दीपमालिका/दीपावली नामक पर्व मनाना प्रारम्भ किया।

मोक्ष को और कैवल्य को लक्ष्मी रूप में निरूपित करने वाले अनेकानेक उल्लेख जैन पुराणादि साहित्य में प्रचुरतया उपलब्ध होते हैं (द्र. स्वयंभूस्तोत्र- 16/3, आदिपुराण- 33/17, 34/222, 35/241, उत्तरपुराण- 64/55, 55/6, आदि आदि)।

भगवान् महावीर को मोक्ष-प्राप्ति के अनन्तर ही उनके प्रथम गणधर गौतम को केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया था। वे भी कैवल्य रूप लक्ष्मी के अधिपति हो गए थे। गणधर को पुराणों में गणेश (हरिवंशपुराण- 3/65), गणाधीश व गणनायक (उत्तरपुराण- 76/387, 389, 94/374 आदि) नामों से भी निरूपित किया गया है। इसलिए गणेश-महालक्ष्मी के पूजन की परम्परा भी प्रवर्तित हुई।

(2) रक्षाबन्धन का पर्वः-

दूसरा उल्लेखनीय सार्वजनिक त्यौहार, रक्षाबन्धन का है। साधारणतः इस त्यौहार के दिन लोग लोगों के हाथों में राखियां जिन्हें रक्षाबन्धन कहते हैं, बांधकर दक्षिणा लेते हैं। राखी बांधते समय वे निम्नलिखित श्लोक पढते हैं जिसका भाव यह है– 'जिस राखी से दानवों का इन्द्र महाबली बलिराज बांधा गया, उससे मैं तुम्हें भी बांधता हूं। तुम मेरी रक्षा करो और उससे डिगना नहीं'–

येन बद्धो बली राजा, दानवेन्द्रो महाबली।
तेन त्वामपि बध्नामि, रक्षे मा चल मा चल॥

वैदिक पुराणों में 'वामनावतार' से सम्बद्ध कथा वर्णित है जिसके अनुसार वामनरूप धारी विष्णु द्वारा राजा बलि को वारुण पाशों में बांधा गया था और उसे राज्यच्युत कर दिया गया था (भागवत पु. 8/21/27-28) ।

वामनरूपधारी विष्णु ने दैत्य राजा बलि से तीन कदम भूमि देने के लिए कहा। विष्णु ने अपने दो कदमों में ही समस्त पृथ्वी को नाप लिया था और इस प्रकार राजा बलि का स्वतः राज्यच्युत होना पड़ा था (द्रष्टव्यः भागवत पुराण- 8/15-23 अध्याय)।

सम्भवतः यह घटना आसुरी भौतिक शक्ति पर दैवी बौद्धिक व आध्यात्मिक शक्ति की विजय का प्रतीक बन गई और भारतीय संस्कृति के एक विशिष्ट पर्व के रूप में प्रवर्तित हो गई। इसी दैवी शक्ति की विजय के उपलक्ष्य में, यह त्यौहार उमंग व उल्लास के साथ मनाया जाता है।

जैन परम्परा में इस घटना की पृष्ठभूमि को मुनि विष्णुकुमार की पौराणिक कथा में निहित माना गया है। उक्त घटना प्राचीन धर्म व संस्कृति की परम्परा पर आघात करने वालों के निर्मूलन और उन पर प्राप्त हुई विजय की प्रतीक है। वैदिक वामनावतार से कुछ साम्य रखती हुई जैन पौराणिक कथा इस प्रकार हैः–

किसी समय उज्जैनी नगरी में श्रीधर्म नामका राजा राज्य करता था। उसके चार मंत्री थे– बलि, बृहस्पति, नमुचि, और प्रहलाद। एकबार जैनमुनि अकम्पनाचार्य सात सौ मुनियों के संघ के साथ उज्जैनी में पधारे। मंत्रियों के मना करने पर भी राजा मुनियों के दर्शन के लिए गया। उस समय सब मुनि ध्यानस्थ थे। लौटते हुए मार्ग में एक मुनि से मंत्रियों का शास्त्रार्थ हो गया। मंत्री पराजित हो गए।

क्रुद्ध मंत्री रात्रि में तलवार लेकर मुनियों को मारने के लिए निकले। मार्ग में उसी शास्त्रार्थ के स्थान पर ध्यान में मग्न अपने प्रतिद्वन्द्वी मुनि को देखकर मंत्रियों ने उन पर वार करने के लिए जैसे ही तलवार ऊपर उठाई, उनके हाथ ज्यों के त्यों रह गये। दिन निकलने पर राजा ने मंत्रियों को देश से निकाल दिया।

चारों मंत्री अपमानित होकर हस्तिनापुर के राजा पद्म की शरण में आये। वहां बलि ने कौशल से पद्म राजा के एक शत्रु को पकड़कर उसके सुपुर्द कर दिया। पद्म ने प्रसन्न होकर मुंह-मांगा वरदान दिया। बलि ने समय पर वरदान मांगने के लिए कह दिया।

कुछ समय बाद मुनि अकम्पनाचार्य का संघ विहार करता हुआ हस्तिनापुर आया और उसने वहीं वर्षावास करना तय किया। जब बलि वगैरह को इस बात का पता चला तो वे बहुत घबराये, पीछे उन्हें अपने अपमान का बदला चुकाने की युक्ति सूझ गयी। उन्होंने वरदान का स्मरण दिलाकर राजा पद्म से सात दिन का राज्य मांग लिया। राज्य पाकर बलि ने मुनिसंघ के चारों ओर एक बाड़ा खड़ा करा दिया और उसके अन्दर पुरुषमेध यज्ञ करने का प्रबन्ध किया।

विष्णुकुमार मुनि हस्तिनापुर के राजा पद्म के भाई थे। वे तुरन्त अपने भाई पद्म के पास पहुंचे और बोले– 'पद्मराज! तुमने यह क्या कर रखा है? कुरुवंश में ऐसा अनर्थ कभी नहीं हुआ। यदि

राजा ही तपस्वियों पर अनर्थ करने लगे ता उसे कौन दूर कर सकेगा? यदि जल ही आग को भड़काने लगे तो फिर उसे कौन बुझा सकेगा।' उत्तर में पद्म ने बलि को राज्य दे देने की समस्त धटना सुनाई और कुछ कर सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब विष्णुकुमार मुनि वामनरूप धारण करके बलि के यज्ञ में पहुंचे और बलि के प्रार्थना करने पर तीन पैर धरती उससे मांगी।

जब बलि ने दान का संकल्प कर दिया तो विष्णुकुमार ने विक्रियाऋद्धि के द्वारा अपने शरीर को बढ़ाया। उन्होंने अपना पहला पैर सुमेरू पर्वत पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरा पैर स्थान न होने से आकाश में डोलने लगा। तब सर्वत्र हाहाकार मच गया, देवता दौड़ पड़े और उन्होंने विष्णुकुमार मुनि से प्रार्थना की, 'भगवन्! अपनी इस विक्रिया को समेटिये। आपके तप के प्रभाव से तीनों लोक चंचल हो उठे हैं। तब उन्होंने अपनी विक्रिया को समेटा। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और बलि को देश से निकाल दिया गया (द्रष्टव्यः हरिवंशपुराण- 20/29-62, उत्तरपुराण- 70/274-3)।

उक्त घटना जैन धर्म-शासन व संस्कृति की रक्षा हेतु प्रेरणा देती है और जैन शासन पर कुठाराघात करने वालों पर प्राप्त हुई विजय की ऐतिहासिक स्मृति को भी यह संजोए हुए है। संभवतः जैन शासन व संस्कृति की रक्षा हेतु परस्पर एकजुट होने की प्रतिज्ञा करने के लिए वार्षिक समारोह के रूप में मनाकर उक्त घटना को चिरस्मृत करने का प्रयास इस पर्व के रूप में किया जाता है।

मांगलिक द्रव्य और धार्मिक प्रतीक

वैदिक व जैन— दोनों परम्पराओं में कुछ निर्जीव व सजीव वस्तुओं को 'मांगलिक' माना गया है। इसी तरह, कुछ धार्मिक प्रतीक भी उन परम्पराओं में मान्य किये गए हैं। इनमें से कुछ

मांगलिक द्रव्य व धार्मिक प्रतीक दोनों परम्पराओं में पूर्णतः या आंशिक रूप से मान्य हैं। प्रारम्भ में वैदिक परम्परा में मान्य मंगल द्रव्यों की चर्चा की जा रही हैः—

(1) दोनो परम्पराओं में मंगल द्रव्य

वैदिक परम्परा में कुछ द्रव्यों का मांगलिक द्रव्यों के रूप में व्यवहार होता था। उन द्रव्यों को घर में रखना एवं उत्सव आदि में यथाविधि उनका उपयोग करना गृहस्थ के लिए श्रेष्ठ माना जाता था। भैंस तथा गाय को एक साथ रखना कल्याणप्रद बताया गया है। चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घृत, लोहा, ताम्र, शंख, शालिग्राम, गोरोचन आदि को भी मांगलिक द्रव्य बताया गया है (महाभारत- 5/4/ì-11)। भृष्टधान्य (भुना अन्न), चन्दन-चूर्ण हर मांगलिक कृत्य में छितराये जाते थे (महाभारत- 3/257/2)। दही का पात्र, घी एवं अक्षत, कण्ठभूषण, बहुमूल्य वस्त्र- कल्याणकारी द्रव्य माने जाते थे (महाभारत- 8/1/11-12)। श्वेतपुष्प, स्वस्तिक, भूमि, सुवर्ण, रजत, मणि आदि का स्पर्श भी मंगलदायी कहा गया है (महाभारत- 12/4/7-8)। महाभारतकार कहते हैं, जो व्यक्ति प्रातःकाल शय्या त्याग करके गो, घृत, दधि, सरसों, प्रियंगु का स्पर्श करता है, वह सब प्रकार के पाप से मुक्त होता है (महाभारत- 13/126/18)।

उक्त निर्जीव द्रव्यों के अतिरिक्त, गौ, अश्व, बकरी, बैल— इन्हें भी मांगलिक माना जाता था (द्र. महाभारत- 5/4-11, 8/1/11-12)।

जैन परम्परा में निम्नलिखित आठ मंगल द्रव्य माने गये हैं— (1) स्वस्तिक (2) श्रीवत्स (3) नन्द्यावर्त (आकृति-विशेष), (4) वर्द्धमानक (सिकोरा, या स्वस्तिक या पुरूषारूढ पुरष आदि), (5) भद्रासन (6) कलश (7) मत्स्य और (8) दर्पण (द्र. औपपातिक सूत्र- 1/34 व 49 पर अभयदेव कृत वृत्ति, ज्ञाताधर्मकथा- 1/153 पृ.71, लोक प्रकाश-15/ì4)।

एक अन्य स्थल पर जलपूर्ण कलश, भृंगार (जलपूर्ण झारी), चंवर सहित दिव्य छत्र, दिव्य पताका को भी 'मांगलिक' माना गया है (द्र. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र- 5/15 पृ. 293-295)।

अन्यत्र स्थल में, चन्दन-कलश, पुष्पमाला आदि से 'यक्षायतन' (देवमूर्ति-स्थान) को सुसज्जित किया गया बताया गया है (औपपातिक सूत्र-2), जिससे इनकी मांगलिकता सूचित होती है।

परम्परा- भेद से (दिगम्बर परम्परा में) निम्नलिखित आठ मंगल द्रव्य माने गए हैं– (1) भृंगार (जलपूर्ण झारी) (2) कलश (3) दर्पण, (4) चमर (5) ध्वजा (6) व्यजन (पंखा, तालवृन्त), (7) छत्र (8) सुप्रतिष्ठ (आकृति-विशेष) (द्रष्टव्यः तिलोयपण्णत्ति- 4/1879-188, हरिवंश पुराण- 2/72)।

एक अन्य स्थल पर, कमलमाला, चमर, घंटा, झारी (भृंगार), कलश, दर्पण, पात्री, शंख, सुप्रतिष्ठक, ध्वजा, धूपनी, दीप, कूर्च, पाटलिका, झांझ-मजीरा आदि उपकरणों को जिन-प्रतिमा के समीपवर्ती बताया गया है और इन द्रव्यों की मांगलिकता सूचित की गई है (द्र. हरिवंशपुराण- 5/364, तिलोयपण्णत्ति- 4/1825, 4/1867-69, दिग. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति- 13/112-21)। एक अन्य (दिगम्बर-ग्रन्थ) वसुनन्दि-कृत प्रतिष्ठासार संग्रह (6/35-36) में श्वेतछत्र, दर्पण, ध्वज, चामर, तोरणमाला, तालवृन्त (पंखा), नन्द्यावर्त, प्रदीप– इन्हें भी मांगलिक माना गया है।

उपर्युक्त दोनों परम्पराओं की मान्यताओं का अनुशीलन करने पर, जो सर्वसम्मत मंगल द्रव्य व धार्मिक प्रतीक निश्चित होते हैं, वे इस प्रकार हैंः–

(2) स्वस्तिक

दोनों परम्पराएं स्वस्तिक को माङ्गलिक प्रतीक स्वीकार करती हैं। प्रत्येक भारतीय स्वस्तिक चिन्ह को अपने घरों आदि में

अंकित कर उनके मंगलमय होने की कामना करता है। महाभारत (5/4/7-8) में इसे 'मांगलिक' प्रतीक घोषित किया गया है। स्वस्तिक को मांगलिक रूप में प्रयुक्त होने के प्रमाण 6 हजार साल वर्ष पुराने भित्तिचित्रों से प्राप्त होते हैं। हिटलर इसे आर्यजाति की श्रेष्ठता का प्रतीक मानता था और इसलिए उसने इसे अपने झंडे में प्रयुक्त किया था।

जैन मान्यतानुसार अष्ट-मांगलिक द्रव्यों (द्र. औपपातिक-49, ज्ञाताधर्मकथा-1/153) तथा तीर्थंकरादि महापुरुषों के शरीर में लक्षित 18 लक्षणों में भी स्वस्तिक परिगणित है (द्र. आदिपुराण 15/37-44)। सुमेरु पर्वत की जिस पांडुक शिला पर तीर्थंकर का स्नानाभिषेक होता है उस पर भी स्वस्तिक बना रहता है। जिस शिला पर बैठकर तीर्थंकर केशलोंचपूर्वक जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करते हैं उस पर इन्द्राणी पहले ही रत्नचूर्ण से स्वस्तिक बना देती है।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व का लांछन भी स्वस्तिक था और एक अत्यन्त प्राचीन पार्श्व- प्रतिमा के ऊपर बने सप्त फणों में से एक फण के ऊपर भी स्वस्तिक बना हुआ है (वह प्रतिमा लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में है)। यह स्तनितकुमार भवनपतिदेवों का भी चिह्न (वर्धमान) माना जाता है (द्र. तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य-4/11)।

ध्यानरूपी साधना में भी स्वस्तिक-युक्त अग्नितत्त्व का ध्यान किया जाता है (द्र. ज्ञानाणर्व- 34/16-17)। भूमि शुद्धि, वेदी प्रतिष्ठा आदि में भी मांगलिक विधान के पूर्व स्वस्तिक बनाया जाता है।

(स्वस्तिक का पूर्ण विकसित रूपः-)

एक खड़ी रेखा को उतनी ही बड़ी एक पड़ी रेखा समद्विभाजित करती है और इस धनात्मक चिन्ह के चारों सिरों से एक-एक रेखा जो उक्त खड़ी या पड़ी रेखा से आधी लम्बी होती है, समकोण बनाती हुई प्रदक्षिणा-क्रम से खींची जाती है। इन चारों रेखाओं के

सिरों को बाहर की ओर किंचित् घुमाव दे दिया जाता है। सबसे ऊपर की पड़ी रेखा के ऊपर तीन बिन्दु बनाये जाते हैं, जिनके ऊपर अर्धचन्द्र बनाया जाता है और उसके ऊपर एक शून्य स्थापित किया जाता है। कभी-कभी चारों कोष्ठकों में भी एक-एक बिन्दु बना दिया जाता है, अथवा उनके साथ ही बाहर की ओर भी चारों दिशाओं में एक-एक बिन्दु बना दिया जाता है। यह स्वस्तिक का जैन परम्परा में पूर्ण विकसित रूप है। वैसे उसका मूल रूप एवं मुख्य अंश उक्त दिशाओं आदि से रहित मात्र रेखाओं से बना आकार ही है।

स्वस्तिक के मूलरूप को कलाकारों ने अनेक सुन्दर रूप प्रदान किये जिनके उदाहरण मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त साधिक दो सहस्र वर्ष प्राचीन जैन आयागपट्टों में, उससे भी पूर्वकाल की उड़ीसा की खारवेल-कालीन हाथीगुम्फा आदि में तथा उत्तरवर्ती के अनेक जैन मूर्ताङ्कनों, स्तम्भों, वेदिकाओं, सूचियों, छत्तों, भित्तियों आदि एवं लघु चित्रों आदि में प्राप्त होते हैं।

इस प्रतीक का सीधा-सादा परम्परानुमोदित रहस्य या भाव तो यही प्रतीत होता है कि खड़ी रेखा चेतन तत्त्व (आत्मा या जीव) की सूचक है, पड़ी रेखा जड़ तत्त्व (पुद्गल/अजीव) की सूचक है, और उनके सिरों के घुमाव यह सूचित करते हैं कि जड़ पुद्गल के संयोग से जीवात्मा जिस चतुर्गति रूप संसार में निरन्तर संसरण करता आ रहा है, उससे मुक्त होने के लिए भी छटपटा रहा है। भीतर के चार बिन्दु चार घातिया कर्मों के सूचक हैं जो उसे संसार में रोके हुए हैं, तथा उन चार आराधनाओं (ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप) के भी सूचक हैं जिनकी साधना से उक्त कर्मों को समाप्त करके वह अनन्तचतुष्टय का धनी हो जाता है। बाहर के चार बिन्दु अनन्त चतुष्टय के सूचक हैं। ऊपर के तीन बिन्दु रत्नत्रय के प्रतीक हैं, जिनकी पूर्णता अर्धचन्द्र से सूचित सिद्धालय में स्थित शून्य के रूप में निराकार सिद्धत्व का बोध कराती है।

इस प्रकार पूर्ण स्वस्तिक संसार और मोक्ष का प्रतीक है। वह निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित धर्मतत्त्व तथा उसके स्वरूप, हेतु और लक्ष्य के रहस्य का द्योतक है। वह कल्याणप्रद, कल्याणस्वरूप तथा परममंगल है अतः शाश्वत और अनादि-निधन है।

वस्तुतः प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता जनरल कनिंघम ने अपनी पुस्तक Coins of Ancient India में पृ. 1 1 पर तथा सर मोनियर-विलियम्स ने भी अपनी Sanskrit-English Dictionary द्वि. सं. में पृ. 1283 पर स्वस्तिक को मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि के 'सु' और 'अस्ति' अक्षरों के संयोग से बना बताया है, जिससे वह 'स्वस्ति' (कल्याण या मंगल) शब्द का वाचक प्रतीत बन गया। ब्राह्मी लिपि के जो उपलब्ध नमूने मिलते हैं, उससे सहस्रों वर्ष पूर्व की सिन्धु-घाटी सभ्यता के अवशेषों में स्वस्तिक का प्रयोग प्राप्त होता है। वहां अनेक मृण्मुद्राओं पर अंकन ही नहीं, वहां नगरों की सड़कें भी स्वस्तिकाकार थीं। कुछ जैनेतर विद्वान् इसे सूर्य का प्रतीक, तो कुछ विष्णु भगवान् के सुदर्शन चक्र का प्रतीक बताते हैं।

कुछ विद्वान् उसका मूल प्राचीन यूनानी क्रॉस में या मिश्र अथवा माल्टा में प्रचलित क्रॉस में खोजते हैं, कुछ इसे ईसा की सलीब का प्रतीक बताते हैं। किन्हीं का मत है कि यह सर्प-मिथुन का द्योतक है।, जो प्रजनन या सृष्टि की आदिम परिकल्पना का प्रतीक है। कुछ विद्वान् इसे ब्राह्मी लिपि के 'ऋ' अक्षर से बना, अतएव भगवान् ऋषभदेव का द्योतक मानते हैं।

(3) शंखः

वैदिक परम्परा के महाभारत (5/4/1-11) में शंख को मांगलिक चिह्न माना गया है। भगवान् विष्णु को शंख-चक्र आदि का धारण करने वाला वर्णित किया गया है (भागवत- 4/24/48)। शंख विजय का सूचक है। महाभारत में सेनापति व महान् योद्धाओं के अपने-अपने विशिष्ट शंख थे। जैसे- श्रीकृष्ण का पाञ्चजन्य, अर्जुन

का देवदत्त, भीमसेन का पौण्ड्र, युधिष्ठिर का अनन्तविजय आदि-आदि (द्र. गीता- 1/14-18)।

जैन परम्परा में भी शंख को जिनेन्द्र देव के 18 लक्षणों में परिगणित कर (द्र. आदिपुराण-15/37-44) उसके मांगलिक रूप को रेखांकित किया गया है। यह 22 वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का चिह्न माना जाता है। जिनसेनाचार्य-कृत हरिवंशपुराण (5/364) में मंगल द्रव्यों में शंख का भी निर्देश किया गया है।

(4) दर्पण :

शुद्ध आत्मस्वरूप (परमात्मरूप) की प्राप्ति होना 'मोक्ष' है (सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः, सिद्धभक्ति-1)। किसी महनीय योग्य गुरु का निमित्त पाकर व्यक्ति को अपने आत्मस्वरूप का भान हो पाता है। लौकिक व्यवहार में दर्पण हमें स्वरूप का दर्शन कराता है– इस दृष्टि से दर्पण शुद्ध आत्मस्वरूप (परमात्मता) के साक्षात्कार या उसकी उपलब्धि का प्रतीक है। सम्भवतः उक्त विशेषता के कारण, दोनों परम्पराओं में इसे मंगल-द्रव्यों में समाहित किया गया है।

महाभारत (5/4/1-11) में भी इसे मांगलिक द्रव्य के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। जैन परम्परा में भी अनेक ग्रन्थों में दर्पण को मांगलिक माना गया है (द्र. औपपातिक सूत्र- 49, ज्ञाताधर्मकथा- 1/153, हरिवंश पुराण- 5/364,2/72, तिलोयपण्णत्ति- 4/1879-188, वसुनन्दि-कृत प्रतिष्ठासारसंग्रह- 6/35-36)।

(5) कलश :

पूर्ण कलश आरोग्य-सुख समृद्धि का प्रतीक है। आरोग्य-देव धन्वन्तरि को अमृत-कलश लिए हुए वर्णित किया जाता है (द्र. भागवत- 8/8/34-35)। भारतीय मांगलिक कृत्यों में जलपूर्ण घट की उपस्थिति अपेक्षित मानी जाती है। नवरात्रा-आराधना में देवी की आराधना के पूर्व, घट-स्थापना आवश्यक मानी जाती है।

जैन परम्परा में अष्टमंगलों में 'कलश' भी परिगणित किया गया है (औपपातिक सू. 49,2, हरिवंशपुराण- 2/72,5/364 जम्बूद्वीवपण्णत्ति सू. 5/15 आदि)। यह जिनेन्द्र देव के 18 लक्षणों में भी परिगणित है (आदि पुराण- 15/37-44)। भवनवासी देव अग्निकुमार का तथा 19 वें तीर्थंकर मल्लिनाथ का चिह्न भी कलश माना जाता है।

(6) पुष्पमाला :

पुष्प, पुष्प-माला या उसकी तोरणमाला– ये सभी मांगलिक वस्तुएं हैं। महाभारत में श्वेत-पुष्प को मांगलिक माना गया है (महाभारत- 5/4/7-8)। पुष्प उल्लास व सौभाग्य के प्रतीक हैं। इसीलिए मांगलिक कृत्यों में घर को पुष्पों, पुष्प-माला व तोरणमाला आदि से सुसज्जित किया जाता है। लक्ष्मी को पद्मकरा (हाथ में कमल लिए हुए) के रूप में निर्दिष्ट किया गया है (भागवत- 8/8/14,8/2/25)।

जैन परम्परा में भी पुष्पमाला के मांगलिक स्वरूप को अनेक स्थलों पर अभिव्यक्त किया गया है (तिलोयपण्णत्ति- 4/1867-69, औपपातिक- 2, प्रतिष्ठासारसंग्रह- 6/35-36)। नील कमल को 21 वें तीर्थंकर नमिनाथ का तथा पद्मकमल को छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ का चिह्न माना जाता है। तीर्थंकर के गर्भ में आने से पूर्व माता जो स्वप्न देखती है, उनमें 'पुष्पमाला' भी निर्दिष्ट है। कल्पवासी देव आनतेन्द्र का आयुध भी श्वेतपुष्पमाला है, तथा कमल-माला कल्पवासी प्राणतेन्द्र का आयुध है।

(7) ओंकार :

वैदिक व जैन– दोनों परम्पराएं ओंकार को मांगलिक प्रतीक तथा आध्यात्मिक महामन्त्र मानती हैं। वैदिक परम्परा में इसे प्रणव नाम से भी अभिहित किया जाता है।

(प्रणव-महत्ता :—)

ओंकार या प्रणव को परब्रह्म का वाचक या प्रतीक माना गया है (ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म- गीता 8/13, ओमिति ब्रह्मणो योनिः- महाभारत- 12/268/35)। परब्रह्म आत्मा यदि लक्ष्य है तो प्रणव धनुष व आत्मा बाण है (मुंडकोपनिषद्- 2/2/4, भागवत- 7/15/42)। इस प्रणव के पाद (चरण) हैं- अ, उ तथा म् (मांडूक्योपनिषद्- 8)। जैन धार्मिक कृत्यों में भी ओंकार को अतिविशिष्ट सम्मान व महत्त्व दिया जाता है। जैन परम्परा में निम्नलिखित मंगलाचरण बोला जाता है जिसमें ओंकार को अभीष्ट फल का प्रदाता तथा मोक्षदायक भी कहा जाता हैः –

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः॥

इसे पंच परमेष्ठियों का समष्टि-वाचक महामन्त्र माना जाता है। अर्हन्त का वाचक 'अ', अशरीरी सिद्ध का वाचक 'अ', आचार्य का वाचक आ, उपाध्याय का वाचक 'उ', साधु का वाचक 'म्'— इस प्रकार पांचों को जोड़कर (सन्धि करने पर— अ+अ+आ+उ+म्) 'ओंकार' बना है। इसी आशय की एक प्राकृत गाथा जैन साहित्य में प्राप्त होती है :—

अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया।
मुणिणो पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी॥

(बृहद्द्रव्यसंग्रह- 49 पर ब्रह्मदेव-कृत वृत्ति)

ध्यान-साधना में पदस्थ ध्यान की प्रक्रिया के अन्तर्गत भी 'ओंकार' का विशिष्ट स्थान रहा है (द्र. बृहद् द्रव्यसंग्रह-49, ज्ञानार्णव- 35/34,87)।

प्रमुख संस्कार/धार्मिक क्रियाएं

संस्कार शब्द की निष्पत्ति 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय से मानी गई है। 'संस्क्रियते अनेन इति संस्कारः'। इसका अर्थ है- संस्कारण या परिमार्जन अथवा शुद्धिकरण।

भारतीय संस्कृति में 'संस्कार से तात्पर्य ऐसी क्रिया से माना गया है जिसके द्वारा व्यक्ति-विशेष की पात्रता को सामाजिक गतिविधि के अनुकूल बनाया जाता था। उदाहरणार्थ, जैमिनी-सूत्र (3/1/3) की व्याख्या में आचार्य शबर ने संस्कार शब्द की व्याख्या करते हुए वर्णन किया है कि **'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य'**—संस्कार वह है कि जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है। इसी प्रकार कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्त्तिक में कहा है कि—**'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते'**— अर्थात् संस्कार उन क्रियाओं/विधि-विधानों को कहा जाता है जिनसे भावी कर्तव्य व उत्तरदायित्व वहन करने की पात्रता का आवाहन/निष्ठापन व्यक्ति में किया जाता है।

वैदिक व जैन दोनों परम्पराओं में विविध संस्कारात्मक क्रियाओं को मान्य किया गया है। वैदिक परम्परा में इन्हें संस्कार नाम दिया गया है, जबकि जैन परम्परा में 'क्रिया' कहा गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि जैन परम्परा में उक्त संस्कारोचित क्रियाओं का व्यवस्थित निरूपण पौराणिक काल में (गुप्त काल या उसके बाद) ही प्राप्त होता है। सम्भवतः इसे वैदिक परम्परा का प्रभाव कहा जा सकता है।

वैदिक परम्परा के संस्कारों का निरूपण धर्मसूत्रों व स्मृतियों में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है (द्र. गौतम धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, वशिष्ठ धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि)। जैन परम्परा में आ. जिनसेन-कृत आदिपुराण (के 38 वें पर्व) में इनका विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है।

इनकी संख्या के विषय में वैदिक परम्परा ऐकमत्य नहीं रखती। गौतम ने 4, वैखानस ने 18, अंगिरा ने 25, तो व्यास ने 16 संस्कार माने हैं। किन्तु सर्वमान्य रूप से विद्वानों ने संस्कारों की संख्या को 16 मान कर उनका निरूपण किया है। जैन परम्परा में 53 क्रियाएं मानी गई हैं। विवाह से पूर्व तक की क्रियाएं वहां 16 ही हैं।

वैदिक परम्परा के 'संस्कार' तथा जैन परम्परा की 'क्रिया'— इनमें अपने-अपने धर्म-दर्शनों के अनुरूप वैषम्य या मौलिक भेद भी है तो साम्य भी है। उक्त दोनों अवधारणाओं में प्रमुखतः साम्य यह है कि दोनों यह मानती हैं कि मानव-जीवन में निरन्तर वैयक्तिक परिष्कार की अपेक्षा है, उक्त परिष्कार/संस्कार से सम्पन्न होने के लिए आयु का एक विशिष्ट समय होता है, सामाजिक व पारिवारिक वरिष्ठ जनों द्वारा आयोजित धार्मिक वातावरण के मध्य, भावी आत्मीय परिष्करण/उन्नयन/शुद्धीकरण की प्रक्रिया में प्रविष्ट होने के लिए विशिष्ट समारोह या आयोजन उक्त संस्कारों/क्रियाओं के माध्यम से किया जाना अपेक्षित है। दोनों परम्पराओं के संस्कारोचित विधि-विधानो में कुछ साम्य भी दृष्टिगोचर होता है, जिन्हें यहां रेखांकित करना यहां अभीप्सित है।

वैदिक परम्परा के प्रमुख 16 संस्कार इस प्रकार हैं:— (1) गर्भाधान, (2) पुंसवन, (3) सीमन्तोन्नयन, (4) जातकर्म, (5) नामकरण, (6) निष्क्रमण, (7) अन्नप्राशन, (8) चूड़ा कर्म, (9) कर्णवेध, (1) उपनयन, (11) वेदारम्भ, (12) समावर्तन, (13) विवाह, (14) वानप्रस्थ, (15) संन्यास, (16) अन्त्येष्टि। इनमें से 1-3 गर्भ से सम्बद्ध हैं, 4-9 जन्म के बाद आयोजित होते हैं, 1-12 शिक्षा-ग्रहण व विद्यार्थी-जीवन से जुड़े हैं। 13 वां गृहस्थाश्रम में प्रवेश से, 14 वां वानप्रस्थ चर्या के अंगीकार से तथा 15 वां संन्यास-आश्रम में किये जाने वाले पदार्पण से सम्बद्ध है। 16 वां संस्कार मृतक-संस्कार है जो वर्तमान गति को छोड़ कर नई

गति में जाने की प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। जैन परम्परा में 53 क्रियाएं इस प्रकार हैः—

(1) आधान, (2) प्रीति, (3) सुप्रीति, (4) धृति, (5) मोद, (6) प्रियोद्भव, (7) नामकर्म, (8) बहिर्यान, (9) निषद्या, (1) अन्नप्राशन, (11) व्युष्टि, (12) केशवाप, (13) लिपिसंख्यान, (14) उपनीति, (15) व्रतचर्या, (16) व्रतावतरण क्रिया, (17) विवाह, (18) वर्णलाभ, (19) कुलचर्या, (2) गृहीशिता, (21) प्रशान्ति, (22) गृहत्याग, (23) दीक्षाद्य, (24) जिनरूपता, (25) मौनाध्ययन वृत्तित्व, (26) तीर्थकृद् भावना, (27) गुरूस्थानाभ्युपगम, (28) गणोपग्रह, (29) स्वगुरूस्थानावाप्ति, (3) निःसंगत्व-आत्मभावना, (31) योगनिर्वाण संप्राप्ति, (32) योगनिर्वाण साधन, (33) इन्द्रोपपाद, (34) इन्द्राभिषेक, (35) विधिदान, (36) सुखोदय, (37) इन्द्रत्याग, (38) इन्द्रावतार, (39) हिरण्योत्कृष्टजन्मता, (4) मन्दिराभिषेक, (41) गुरूपूजन, (42) यौवराज्य, (43) स्वराज्य, (44) चक्रलाभ, (45) दिशाञ्जय, (46) चक्राभिषेक, (47) साम्राज्य, (48) निष्क्रान्ति, (49) योगसम्मह, (5) आर्हन्त्य, (51) विहार, (52) योगत्याग, (53) अग्रनिर्वृति (द्र. आदिपुराण- 38 वां पर्व)।

इनमे 1-16 तक की क्रियाएं गर्भ में आने से लेकर विवाह से पूर्व तक के जीवन से सम्बद्ध हैं। 17-21 तक की क्रियाएं गृहस्थ-जीवन व वैराग्य प्रादुर्भाव की स्थिति तक के जीवन से जुड़ी हैं। 22-32 की क्रियाएं साधु जीवन तथा भावी देवगति प्राप्ति से पूर्व तक की हैं। 33-37 तक की क्रियाएं स्वर्ग-गति तथा उसक त्याग कर (तीर्थंकर रूप में) नया जन्म लेने से पूर्व तक की स्थिति से जुड़ी हैं। 38-39 तक की क्रियाएं तीर्थंकर के गर्भावतरण से तथा 4-47 तक की क्रियाएं तीर्थंकर व चक्रवर्ती के सांसारीक जीवन से जुड़ी हैं। 48-53 तक की क्रियाएं तीर्थंकर के अभिनिष्क्रमण/प्रवज्या धारण करने से लेकर मोक्षप्राप्ति तक के जीवन से जुड़ी हैं। इन 53 क्रियाओं से

पृथक् 'मृतक संस्कार' को भी जैन पुराणों में मान्यता दी गई है, अतः समस्त क्रियाएं 54 समझनी चाहिएं।

इनमें भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रारम्भ की 16 क्रियाएं, साधु जीवन स्वीकार करने की क्रिया तथा मृतक संस्कार– इस प्रकार 18 क्रियाओं को प्रमुखतया महत्त्व दिया जा सकता है। इन समस्त क्रियाओं में जो-जो क्रियाएं वैदिक संस्कार से समता रखती हैं, उनका संक्षिप्त निरूपण यहां प्रासंगिक व उपयोगी प्रतीत होता है।

(1) गर्भाधान-सीमन्तोन्नयन एवं गर्भान्वय क्रियाः-

वैदिक परम्परा में प्रथम संस्कार गर्भाधान-संस्कार है। मानव-व्यक्तित्व के प्रथम बीजारोपण से पूर्व, यह संस्कार किया जाता है। शुभ तिथि व दिन का विचार करते हुए गर्भाधान करने वाला पति इस संस्कार का प्रमुख अनुष्ठाता होता है। गर्भ के तीसरे मास में पुंसवन संस्कार किया जाता है। योग्य पुत्र की उत्पत्ति हो- यह कामना इस संस्कार की पृष्ठभूमि होती है। गर्भ के चौथे से लेकर आठवें मास तक किसी भी मास में सीमान्तोन्नमय संस्कार किया जाता है। गर्भ-भार के कृश व क्लान्त माता को प्रमुदित करना तथा उसके कल्याण की कामना कर इस संस्कार की पृष्ठभूमि होती है।

जैन परम्परा में इन्हीं उपर्युक्त संस्कारों से समता रखनेवाली 5 क्रियाएं हैं–

(1) आधान क्रिया– व्यावहारिक रूप से स्त्री-संसर्ग से पूर्व, देवोपासना आदि की धार्मिक क्रिया की जाती है।

(2) प्रीतिक्रिया– गर्भ से तीसरे मास, समारोह पूर्वक देवोपासना आदि की धार्मिक क्रिया की जाती है।

(3) सुप्रीति क्रिया– गर्भ से 5 वें महीने में समारोह पूर्वक देवोपासना आदि की धार्मिक क्रिया की जाती है।

(4) धृति क्रिया— गर्भ से सातवें महीने में गर्भ की सकुशल वृद्धि की कामना से देवोपासना आदि के साथ धार्मिक क्रिया की जाती है।

(5) मोद क्रिया— गर्भ के 9 वें महीने, गर्भ की पुष्टि के लिए स्त्री (माता) को मंगलाभूषण आदि से प्रमुदित करने हेतु धार्मिक क्रिया की जाती है।

(2) जातकर्म संस्कार व प्रियोद्भव क्रिया

वैदिक परम्परा का जातकर्म तथा जैन परम्परा की प्रियोद्भव क्रिया— ये दोनों प्रायः समान हैं। सन्तान उत्पन्न होने के अनन्तर जातकर्म संस्कार होता है। बच्चे को दही व घी का मिश्रण चटाया जाता है और नवजात शिशु के भावी सकुशल दीर्घ व स्वस्थ जीवन की कामना की जाती है।

जैन परम्परा की प्रियोद्भव क्रिया भी प्रायः वैसी ही है। नवजात शिशु को अभीष्ट देव के स्मरण के बाद शुभाशीर्वाद देना, गर्म जल से स्नान कराना, गोद में उठाकर आकाश दिखाना एवं यथा शक्ति दान देना आदि इस क्रिया के अंग हैं।

(3) नामकरण संस्कार/ क्रिया

दोनों परम्पराओं में नाम-साम्य वाले ये दोनों संस्कार हैं। वैदिक परम्परा में नामकरण संस्कार है, वही जैन परम्परा में नामकरण क्रिया है। यह कब किया जाय— इसमें वैदिक स्मृतिकार एकमत नहीं है। कुछ इसे दसवें दिन, कुछ 12 वें दिन, कुछ 18 वें दिन पर तो कुछ एक मास पर करने का निर्देश देते हैं। जैन परम्परा में जन्म से 12 वें दिन में इसे करने का विधान है।

(4) निष्क्रमण-अन्नप्राशन व बहिर्यान क्रिया

वैदिक परम्परा के दो संस्कार हैं– निष्क्रमण संस्कार एवं अन्नप्राशन संस्कार। जन्म से बारहवें दिन नवजात शिशु को प्रसूतिका-गृह से बाहर लाया जाता है। छठे मास में स्वर्णशलाका से बालक को मधु व घृत का प्राशन कराया जाता है।

जैन परम्परा में बहिर्यान क्रिया, निषद्या क्रिया या अन्नप्राशन क्रिया– ये क्रमिक विधान माने गये हैं। बहिर्यान क्रिया में सन्तान-जन्म के 2-4 मास बाद, शिशु को प्रसूतिगृह से बाहर ले जाते हैं। निषद्या क्रिया में सन्तान को मंगलकारी आसन पर बैठाया जाता है। इसमें बालक के लिए भावी जीवन में उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने की कामना निहित होती है। अन्नप्राशन क्रिया जन्म से 7-8 मास बाद की जाती है। वैदिक परम्परा की तरह ही इसमें बालक को अन्न खिलाया जाता है।

(5) चूड़ा कर्म संस्कार व केशवाप क्रिया

वैदिक परम्परा में, बच्चे के जन्म से तीसरे वर्ष में चूड़ाकर्म संस्कार का विधान है। अन्य स्मृतिकार के मत में इसे 5 वें , छठे या 8 वें वर्ष में भी कर सकते हैं। इसमें बच्चे के बाल उतारे जाते हैं। जैन परम्परा की केशवाप क्रिया में भी बच्चे का मुण्डन कराया जाता है। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में एक जैसा मनाया जाने वाला यह संस्कार है।

(6) उपनयन व लिपिसंख्यान क्रिया

वैदिक परम्परा का उपनयन संस्कार जन्म से 8 वें वर्ष से लेकर बारहवें वर्ष तक किया जाता है। बालक को शिक्षा हेतु गुरु के समीप ले जाया जाता है– यही उसका 'उपनयन' है। इसे यज्ञोपवीत संस्कार भी कहा जाता है। वस्तुतः इस संस्कार से

शिक्षा-प्राप्ति के लिए एक अनुकूल व मधुरिम वातावरण की भूमिका निर्मित होती है और गुरु-शिष्य के मध्य पिता-पुत्रवत् सम्बन्ध की नींव रखी जाती है।

दिगम्बर जैन परम्परा में 'उपनीति क्रिया' पूर्वोक्त वैदिक संस्कार उपनयन जैसी ही है। वैदिक परम्परा की तरह, जैन पुराणों में ब्रह्मचारी शिष्य के लिए यज्ञोपवीत पहनने का भी विधान किया गया है (द्र. आदिपुराण- 39/94-95, 59-167, हरिवंश पुराण- 42/5, पद्मपुराण- 19/81-82)। इस यज्ञोपवीत को 'रत्नत्रय' (मोक्ष-मार्ग) का प्रतीक माना जाता था। इस 'उपनीति क्रिया' से पूर्व, लिपिसंख्यान क्रिया भी की जाती है जो अक्षरारम्भ की विधि का सूत्रपात प्रस्तुत करती है। उपनीति क्रिया के साथ 'व्रतचर्या क्रिया' का भी जैन परम्परा में विधान है। ब्रह्मचारी शिक्षार्थी को कठोर व्रत धारण करने पड़ते हैं। व्रतचर्या क्रिया के माध्यम से व्रत-संयममय जीवन स्वीकार करने का दृढ संकल्प अभिव्यक्त होता हैं।

(7) समावर्तन व व्रतावतरण

वैदिक परम्परा के समावर्तन संस्कार को स्नान संस्कार भी कहा जाता है। वेदाध्ययन के बाद ब्रह्मचारी स्नान करता था। यह स्नान गुरु के आदेश पर ही किया जाता था। इस प्रकार स्नान किये गये व्यक्ति को 'स्नातक' कहा जाता था। स्नातकों की तीन कोटियां थीं:– विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, विद्याव्रतस्नातक। समावर्तन का अभिप्राय ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रेश करना। लेकिन नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं वह जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और गुरु के समीप ही रहते हैं। उनका समावर्तन संस्कार नहीं होता, लेकिन अन्य ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार के साथ गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते हैं।

जैन परम्परा की व्रतावतरण क्रिया भी विद्याध्ययन की पूर्णता होने पर सम्पन्न होती है और गृहस्थ बनने का द्वार खोलती है। व्रतावतरण क्रिया के बाद, ब्रह्मचारी विद्यार्थी गुरु की आज्ञा से वस्त्र, आभूषण आदि को ग्रहण करता है और अपनी आजीविका चुनता है।

(८) विवाह व संन्यास

वैदिक व जैन– दोनों परम्पराएं विवाह संस्कार को मान्यता देती हैं। दोनों में अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप विधि-विधान व क्रियाकाण्ड स्वीकृत हैं।

(९) गृहत्याग व प्रव्रज्या से सम्बद्ध संस्कार

वैदिक परम्परा में वानप्रस्थ संस्कार व संन्यास संस्कार– ये दो संस्कार विधियां है जो गृहत्याग व विरक्ति की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। वस्तुतः इनका संस्कार रूप में वर्णन प्राप्त नहीं होता, अपितु आश्रम-व्यवस्था के अंग के रूप में इनका निर्देश मिलता है।

वैदिक पौराणिक निरूपण के अनुसार, वानप्रस्थ के इच्छुक गृहस्थ को जिसके पुत्र के पुत्र हो जाये तो वन में जाकर आश्रय लेना चाहिए। वन में वह अकेला या अपनी भार्या के साथ रहे। वानप्रस्थी को ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तप और वर्षा में गीले वस्त्रों से तप करना चाहिए। वानप्रस्थी को जटा धारण करना, नित्य अग्निहोत्र, भूमि पर शयन, दिन में तीन बार स्नान, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, अतिथियों की पूजा आदि समस्त नियमों का पालन करना चाहिए।

सभी के संग (आसक्ति) का परित्याग कर देना, ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्ण परिपालन, निरभिमानी होकर भिक्षा के अन्न को खाने वाला, शान्त व आत्मज्ञानी होना-यही संन्यास आश्रम में धर्म है। संन्यासी को समत्व भाव धारण करके नित्य ध्यान एवं धारणा से

मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। संन्यासी आसक्ति से रहित होकर केवल प्राणरक्षा के लिए कर्म करे। अत्यन्त लाभ और सम्मान से बचा रहे। उसे काम, क्रोध आदि को त्याग कर निर्मम हो जाना चाहिए।

जैन परम्परा में प्रशान्ति क्रिया, गृहत्याग क्रिया, दीक्षादृय क्रिया, जिनरूपता क्रिया आदि क्रियाएं वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम जैसी जीवन-चर्या को अंगीकार करने से सम्बद्ध है। जैन पुराणकार के अनुसार, इन क्रियाओं का निरूपण इस प्रकार हैं:—

(प्रशान्ति क्रिया:) वह गृहस्थाचार्य अपनी गृहस्थी के भार को समर्थ योग्य पुत्र को सौंप देता है और स्वयं उत्तम शान्ति का आश्रय लेता है। विषयों में आसक्त न होना, नित्य स्वाध्याय करने में तत्पर रहना तथा नाना प्रकार के उपवासादि करते रहना प्रशान्ति क्रिया कहलाती है।

(गृहत्याग क्रिया:) गृहस्थाश्रम में स्वतः को कृतार्थ मानता हुआ, जब वह गृहत्याग करने के लिए उद्यत होता है, तब गृहत्याग क्रिया की विधि की जाती है। इस क्रिया में सर्वप्रथम सिद्ध भगवान् का पूजन कर समस्त इष्ट जनों को बुलाकर और पुनः उनकी साक्षीपूर्वक पुत्र के लिए सब कुछ सौंपकर करना होता है। गृहत्याग करते समय वह जेष्ठ पुत्र को बुलाकर कुलक्रमागत धर्म की परम्परा को निभाने का उपदेश देता है और निराकुल होकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए अपना घर छोड़ देता है।

(दीक्षाद्य क्रिया :) जो गृहत्यागी, सम्यक्द्रष्टा, प्रशान्त, गृहस्वामी तथा एकवस्त्रधारी होता है, उसके दीक्षाग्रहण करने के पूर्व जो आचरण किये जाते हैं, उन आचरणों या क्रियाओं के समूह को दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं।

निष्कर्षतः दोनों परम्पराओं के उपर्युक्त संस्कार अपने में अन्तर्निहित मूल भावनाओं की दृष्टि से पर्याप्त साम्य रखते हैं।

(10) अन्त्येष्टि संस्कार

दोनों परम्पराएं अन्त्येष्टि या मृतक संस्कार को मानती हैं। सामान्यतः दोनों में मृतक को अग्नि में जलाने का विधान मान्य है। इसे और्ध्वदेहिक संस्कार भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त, जल-प्रवाह आदि की आपवादिक घटनाओं का भी निरूपण प्राप्त होता है। यह संस्कार मृतक के प्रति उसके सम्बन्धियों व परिजनों की श्रद्धा एवं उनके विशिष्ट कर्तव्य को भी व्यक्त करता है।

आराधना व बहुमान के पात्र : देव-देवियां

वैदिक व जैन– इन दोनों परम्पराओं में आराधना-उपासना के केन्द्र कुछ दिव्य व्यक्ति रहे हैं। इसी आराधना-उपासना की पृष्ठभूमि में देव-तत्त्व की अवधारणा का उद्भव व विकास तथा देव-परिवार का विस्तार होता रहा है। उक्त दोनों परम्पराओं में अपने-अपने आराध्य देव हैं और अपना-अपना देव-लोक व देव-परिवार। यद्यपि दोनों में मौलिक धारणाओं पर आधारित विषमताएं हैं, तथापि कुछ स्थलों पर वे परस्पर निकट भी आई हैं और उनमें साम्य के बिन्दु भी सहजतया ढूंढे जा सकते हैं। उक्त दोनों परम्पराओं के साम्य को रेखांकित करने से पूर्व, दोनों परम्पराओं की उपासना-पद्धति व देववाद-अवधारणा की एक संक्षिप्त रूप- रेखा प्रस्तुत करना यहां प्रासंगिक होगा।

1. वैदिक उपासना-पद्धति की पृष्ठभूमिः

वैदिक परम्परा में देववाद को दो छोर हैं– 1. एकेश्वरवाद और 2. बहुदेववाद। इन दोनों में से कौनसी अवधारणा पूर्ववर्ती है और कौन-सी उत्तरवर्ती– इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं है। हो सकता है, प्रारम्भ में विविध देव-शक्तियों की अवधारणा हुई और बाद में उन शक्तियों की नियामक रूप एक परमेश्वर की अवधारणा

आई हो। यह भी हो सकता है कि पहले एक ईश्वर की अवधारणा मान्य हुई हो, बाद में उसके अंशभूत या सहायक शक्तियों के रूप में विविध देव-देवियों की अवधारणा उद्भूत हुई हो। उक्त अवधारणाओं में 'अवतारवाद' की अवधारणा जुड़ी तो देववाद के नये आयामों का उद्घाटन हुआ।

वैदिक काल में प्राकृतिक पदार्थों— सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वरुण, वायु आदि— में देव-शक्तियों का निवास मानकर उनकी अनुकूलता हेतु प्रार्थना-उपासना की जाती थी। वैदिक मन्त्रों में उक्त तथ्य स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। उन शक्तियों की एक नियामक परम शक्ति भी निर्धारित हुई।

उपनिषद् काल तक आते-आते एक सर्वव्यापक परम तत्त्व 'ब्रह्म' की अवधारणा पूर्णतया विकसित व प्रतिष्ठित हो चुकी थी। सृष्टि-प्रक्रिया के घटक-विराज, हिरण्यगर्भ, ईश्वर-इन तीन देवों, और पौराणिक काल में ब्रह्मा-विष्णु-महेश- इन तीन देवों को मुख्यता प्राप्त हुई।

स्वर्ग-नरक रूपी पारलौकिक अस्तित्व की मान्यता से जुड़ी स्वर्गवासी देवों की अवधारणा प्रकाश में आई। शरीर के अन्दर भी प्राण आदि दैवी-शक्तियों तथा उनके अधिष्ठाता 'आत्मा' देव की सत्ता को भी स्वीकारा गया। समस्त जीवात्माओं की समष्टिभूत 'परमात्मा' की अवधारणा को भी मान्यता मिली। समन्वयवादी धारा में ब्रह्म व परमात्मा— इन दोनों की एकता स्थापित कर एक समन्वित देव-शक्ति की अवधारणा जन्मी।

उपनिषद् में सर्वचराचरव्यापी 'परब्रह्म' रूप-रस-गन्ध स्पर्श रहित व निर्गुण तत्त्व के रूप में (द्रष्टव्यः कठोपनिषद्- 1/3/15, श्वेताश्वतरोपनिषद्- 4/2, मुण्डकोपनिषद् 1/1/6, 2/17, 2/2/11, मांडूक्योपनिषद्- 7 आदि) व्याख्यायित हुआ है। समस्त जीवों के शरीर में स्थित 'सर्वभूतान्तरात्मा' रूपी एक समष्टि चैतन्य का भी निरूपण उपनिषद् में प्राप्त होता है। (कठोपनिषद्-2/2/9-13)।

वहां 'आत्मा' व 'ब्रह्म' की एकता का भी प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है (द्र. मांडूक्योपनिषद् 6/1-2)। अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि समस्त आधिदैविक शक्तियां उसी परमतत्त्व के अधीन या उसी के विविध स्वरूप हैं– यह भी प्रतिपादित किया गया है (द्र. मैत्रायणी उपनिषद् 5/1, बृहदारण्यक उपनिषद्. 5/15, श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/13,15, 6/7,11 आदि)।

(2.) वैदिक परम्परा में भक्ति व अवतारवाद

भक्त हृदय ने निर्गुण परमात्म-तत्त्व को साकार व सगुण रूप प्रदान किया। भागवत पुराण में प्रतिपादित किया गया है कि यद्यपि परमात्मा निष्कल, अजन्मा, अविकारी, अकर्ता व निर्गुण है (द्र. भागवत- 3/27/1, 1/9/44, 1/8/3, कठोपनिषद् 1/3/15), तथापि भक्तों की भावनाओं के अनुरूप वह विविध रूप धारण करता है (द्र. भागवत- 3/28/29, 3/29/11)। इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में वैदिक 'अवतारवाद' अधिकाधिक परिपुष्ट होता गया और विविध अवतारों का निरूपण वैदिक पुराणों में किया गया।

ईश्वर के अवतारों को भक्त जनों ने उपास्य व आराध्य कोटि में रखा। साथ ही, उनके पारिवारिक सदस्यों तथा अवतारों के सहयोगी भक्त जनों को भी देव रूप में प्रतिष्ठा मिली। फलस्वरूप, वैदिक देव-परिवार में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, लक्ष्मी, गणेश, कार्तिकेय, सीता, हनुमान् आदि-आदि अनेक देव समाहित हुए।

लौकिक व्यवहार में आदरणीय 'ब्राह्मण' को 'भूदेव' कहा गया। सांस्कृतिक पुरोधाओं ने माता, पिता, आचार्य को 'देव' मानकर उनके प्रति बहुमान देने का भी निर्देश दिया (**मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, तैत्तिरीय उपनिषद् 1/11/2**)।

(3) जैन उपासना/आराधना की पृष्ठभूमि

जैन परम्परा में श्रद्धा व आस्था के प्रमुख केन्द्र अर्हन्त देव व तीर्थंकर रहे हैं। धर्म-जगत् में वे परमेश्वर व परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। तीर्थंकरों ने धर्मोपदेश दिया कि सांसारिक दुःख व सुख के कारण व्यक्ति के बुरे या अच्छे कर्म होते हैं। उन कर्मों के चक्र को तोड़कर, सांसारिक आवागमन से मुक्त होते हुए परमानन्दमयी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। मुक्ति का मार्ग है– सज्ज्ञान-समन्वित संयम व तप। इस मार्ग का अनुसरण कर, कोई भी जीव क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

उनके उपर्युक्त उपदेश की पृष्ठभूमि में उत्तरवाद की अवधारणा पुष्ट हुई। जैन परम्परा में समता का वीतरागता का अनुष्ठान 'धर्म' है और उक्त धर्म का साध्य है– पूर्ण वीतरागता या समता जो परमात्म-स्थिति का पर्याय होती है। इसी परमात्म-स्वरूपता को प्राप्त होने वाली आत्माएं ही जैन परम्परा में आराध्य व उपास्य मानी गई हैं। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र का स्पष्ट उद्घोष है–

न वीतरागात् परमस्ति दैवतम्।

(अयोगव्यवच्छेदिका-28)

अर्थात् 'वीतराग' के सिवा कोई अन्य देव (मान्य) नहीं है। किन्तु यह आराधना-उपासना व्यक्ति-पूजा नहीं, गुणपूजा के रूप में ही स्वीकार्य है। इसी दृष्टि से 'तत्त्वार्थ सूत्र' ग्रन्थ के मंगलाचरण में कहा गया– वन्दे तद्गुण-लब्धये, अर्थात् परमात्मा को हम इसलिए वन्दना करते हैं ताकि उनके गुणों व स्वरूप को हम प्राप्त करें।

अर्हन्त देव व तीर्थंकर देव वीतरागता की साकार मूर्ति होते हैं, अतः जैन परम्परा इन्हें प्रमुख रूप से आराध्य व उपास्य मानती है। अर्हन्त देव ही ईश्वर, परमेश्वर या परमात्मा आदि विशेषणों से अलंकृत होते हैं। इनकी उपासना-आराधना 'वीतरागता' गुण की

ही आराधना है। आराधक इस आराधना से अपने आराध्य 'परमात्मा' के साथ तादात्म्य स्थापित करने की दिशा में सतत अग्रसर होता है। परमलक्ष्य 'पूर्ण वीतरागता' की प्राप्ति हेतु आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने वाली आत्माएं सामान्य साधक के लिए प्रकाशस्तम्भ व अनुकरणीय आदर्श होती हैं, इसलिए उन्हें भी श्रद्धास्पद व पूज्य माना गया और वीतरागता के पथिक आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि भी परमेष्ठियों के रूप में आराध्य व उपास्य माना गया।

उपर्युक्त मान्यता का हम अनुशीलन करें तो एकेश्वरवाद व बहुदेववाद– दोनों को समाहित हुआ देखते हैं। एकमात्र वीतराग आत्म-तत्त्व की दृष्टि से एकेश्वर को मान्यता दी गई है तो आत्म-बहुत्व एवं पंच परमेष्ठियों व उनकी वैयक्तिक भिन्नता की दृष्टि से बहुदेववाद को मान्य किया गया है।

कालक्रम से, संभवतः वैदिक भक्ति-मार्ग के प्रभाव-वश जैन धर्म व शासन के उपकारी व सहायक होने वाले तीर्थंकर-भक्त स्वर्गस्थ देवों/देवियों को बहुमान दिया जाने लगा और उसकी अभिव्यक्ति उन देवों-देवियों की पूजा आदि के रूप में की जाने लगी। फलस्वरूप, शासन-देवों के रूप में यक्षों, शासन-देवियों के रूप में यक्षिणियों एवं कई अन्य देव-देवियों की अर्चा-पूजा के प्रचुर उदाहरण वर्तमान में प्रत्यक्ष हैं और प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं। उक्त देवों/देवियों की अनेक प्राचीन मूर्तियां भी पुरातत्त्व-भण्डार की श्रीवृद्धि कर रही हैं। मनीषी ज्ञानियों द्वारा उक्त भक्तिपूर्ण प्रवृत्ति पर प्रश्नचिन्ह उठाया जाता रहा है। उनके अनुसार, उक्त देवों-देवियों को बहुमान देना तो विवादास्पद नहीं है, किन्तु उनकी आराधना-पूजा-उपासना करना जैन मूल विचारधारा से मेल खाता प्रतीत नहीं होता। प्रायः अनुसन्धाता व तत्त्वज्ञ विद्वान् उक्त प्रवृत्ति को इतर संस्कृति का प्रभाव या अज्ञानजन्य क्रिया मानते हैं।

(4.) भारतीय संस्कृति का उत्सः आत्मोपासना

वैदिक परम्परा के उपनिषत्साहित्य में आध्यात्मिक वैचारिक क्रान्ति के स्वर मुखरित हुए दृष्टिगोचर होते हैं। वहां ज्ञान-मार्गी विचारधारा का प्रवाह दिखाई पड़ता है। दुःखों से विमुक्ति प्राप्त करने के लिए सभी जीवों के शरीर में स्थित परमदेव—आत्मा के स्वरूप को जानना वहां अत्यावश्यक माना गया है। (द्र. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/13,2)। उक्त परम विशुद्ध आत्म-तत्त्व को अपनी आत्मा में साक्षात्कार करना शाश्वत-सुखमय परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति का साधन है (कठोपनिषद्-2/5/12, मुंडकोपनिषद्- 3/1/3)।

(आत्मा ही उपास्यः—)

उपर्युक्त वैचारिक पृष्ठभूमि में उपनिषत्कार उसी एकमात्र परमात्म-तत्त्व की उपासना करने का निर्देश देते हैं। (द्र. छान्दोग्य उपनिषद् 8/12/6 बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/7-8,4/4/12-16, मुंडकोपनिषद्- 3/2/1-9, 3/1/5)।

जैन विचारधारा भी उपर्युक्त विचारधारा से पूर्ण सहमति व्यक्त करती है। अखण्ड-अद्वैत-निर्विकार चित्स्वरूप परमात्म-तत्त्व से एकात्मता/तादात्म्य की अनुभूति स्वयं में करने और उसी तत्त्व की उपासना करने के निर्देश जैन शास्त्रों में प्रचुरतया प्राप्त होते हैं। (द्र. पूज्यपाद-कृत समाधिशतक- 3-33, 35)। उपनिषद् की भी घोषणा है— आत्मा ही साक्षात्कारयोग्य, श्रवणयोग्य व मननयोग्य है :- (बृहदारण्यक उपनिषद् 4/5/6 : आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः)। भागवत पुराण में विविध रूपों में अवतरित होने वाले भगवान् विष्णु को 'सर्वात्मा' विशेषण से अभिहित किया गया है और एकमात्र उस सर्वात्मतत्त्व का श्रवण, कीर्तन, स्मरण करना अपेक्षित बताया गया हैः—

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्॥

(भागवत पुराण- 2/1/5)

निष्कर्षतः अवतारों की आराधना-उपासना प्रकारान्तर से (समष्टि) आत्म-उपासना ही है। इसी भाव को जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार व्यक्त किया हैः–

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण॥

(समयसार-18)

–अर्थात् मोक्षार्थी के लिए (परमशुद्ध) आत्मा ही ज्ञातव्य है, श्रद्धानयोग्य है और वही अनुष्ठेय– आचरणयोग्य है। जिनवाणी भी स्पष्ट उद्घोष करती है–

संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।

(दशवैकालिक सू. चूलिका- 2/12)

अर्थात् स्वयं अपनी आत्मा द्वारा आत्मतत्त्व का संप्रेक्षण-निरीक्षण करें, साक्षात्कार करें।

(शुद्धात्म तत्त्व के प्रतीक : पांच परमेष्ठीः–)

जैन परम्परा में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु– ये पांच परमेष्ठी देव (अर्थात् परम-उत्कृष्ट पद/स्थिति को प्राप्त होने वाली आत्माएं) माने जाते हैं। इन्हें नवकार महामन्त्र में नमस्कार-वन्दना की गई है (द्र. आवश्यकनिर्युक्ति- गाथा-18, भगवती सूत्र 1/1/1)। वस्तुतः ये पांच आत्माएं आराधना-उपासना की पूर्ण अर्हता रखती हैं। इन पांचों में भी, सर्वाधिक पूज्य -आराधनीय अर्हन्त देव हैं। 'अर्हन्त' नाम की निरुक्ति से भी उनकी आराध्यता रेखांकित होती है (द्र. आवश्यक-निर्युक्ति 922, मूलाचार- 55, 564)। इसी तरह, सिद्ध आत्मा का– जो अर्हन्त अवस्था से भी उत्कृष्ट स्थिति में होती है– पूज्य, आराध्य होना स्वतःसंगत है। आत्मिक विशुद्धि (वीतरागता) की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय, साधु– ये तीन आत्माएं भी उच्च स्थिति को प्राप्त होती हैं, अतः इन तीनों को भी वन्दनीय-नमस्करणीय माना जाता है।

जैन परम्परा में पूज्य देवों की कोटि में उक्त पांच परमेष्ठी देवों की ही गणना होती है। स्वर्गवासी देव व उनके इन्द्र आदि 'देव' शब्द से अभिहित तो होते हैं, किन्तु वे संसारी आत्माएं ही हैं जो संयम-साधना से दूर होती हैं, अतः पूज्यता की कोटि में नहीं आते। तीर्थंकर अर्हन्त देव के समक्ष स्वर्गीय देव, यहां तक कि उनके इन्द्र भी नतमस्तक रहते हैं और उनकी स्थिति सेवक, श्रद्धालु से अधिक ऊंची नहीं होती।

उपर्युक्त समग्र निरूपण का सारांश यह है कि वैदिक व जैन- दोनों परम्पराएं विशुद्ध आत्म-तत्त्व की आराधना-उपासना में एकमत हैं।

(5) ज्ञानदेवी सरस्वती की आराधना

भारतीय संस्कृति में ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री देवी 'सरस्वती' को विशिष्ट श्रद्धास्पद स्थान प्राप्त है और इसकी आराधना भक्ति-भावनापूर्वक की जाती है।

वैदिक परम्परा में सरस्वती को ब्रह्मा की पुत्री माना गया है (भागवत- 3/12/26, 28)। जैन परम्परा में भी आदिप्रजापति ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी व सुन्दरी को सरस्वती-तुल्य ज्ञान-विज्ञान की प्रवर्तिका माना जाता है (आदिपुराण- 16/14/355 आदि)। वैदिक परम्परा की शक्ति-उपासना पद्धति में परमशक्ति के 3 रूप माने जाते हैं। वे हैं— (1) महाकाली, (2) महालक्ष्मी, (3) महासरस्वती। महाकाली को शारीरिक शक्ति की, महालक्ष्मी को भौतिक वैभव की तथा महासरस्वती को बौद्धिक प्रतिभा व समस्त विद्याओं की अधिष्ठात्री माना जाता है। इन तीनों में सरस्वती का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

सरस्वती देवी को शास्त्रों में आदिशक्ति, कमलासना, हंसवाहिनी, वीणा-पुस्तकधारिणी, शुक्लवर्णा आदि विशेषणों के माध्यम से वर्णित किया गया है जिनसे उसके सात्त्विक, मध्यस्थ, विवेचक, वीतराग व उदात्त स्वरूप का निदर्शन होता है।

भागवत पुराण (6/16/56) के अनुसार ज्ञान और ब्रह्म एक ही हैं। इस दृष्टि से 'ज्ञान' की आराधना 'ब्रह्म' या परमात्मा की ही आराधना है। यह आराधना व्यक्ति को ज्ञान और विविध विद्याओं की प्राप्ति कराती है।

जैन परम्परा में आत्म-उपासना तो मान्य है ही, ज्ञानोपासना भी उसी में अन्तर्निहित मानी जाती है, क्योंकि आत्मा ज्ञानमय है। 'ज्ञान' आत्मा का शाश्वत-स्वभावभूत धर्म है। ज्ञान और आत्मा– दोनों अभिन्न हैं (प्रवचनसार- 1/23-24)। इस दृष्टि से ज्ञान की आराधना आत्मोपासना ही है। इस वैचारिक पृष्ठभूमि में सरस्वती-उपासना का जैन परम्परा में प्रतिष्ठित होना असंगत नहीं ठहरता।

जैन इतिहास की दृष्टि से विचार करें तो आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को ब्रह्मा-स्रष्टा-प्रजापति का रूप माना जाता है। उनकी दो पुत्रियों- ब्राह्मी व सुन्दरी को लेखन-कला, गणित-विद्या एवं विविध विद्याओं की प्रवर्तिका होने का श्रेय प्राप्त है (द्र. आवश्यक निर्युक्ति- 212-213, त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित- 1/2/963, आदिपुराण- 16/14/355)। उनके उक्त महान् सांस्कृतिक अवदान को दृष्टिगत रख कर कृतज्ञ समाज ने उन्हें बहुमान दिया- जो स्वाभाविक ही था। यह भी संभव है कि इसी भक्ति-भावना की पृष्ठभूमि में सरस्वती देवी की अवधारणा ने मूर्त रूप लिया हो। इस दृष्टि से अमरकोष में सरस्वती का ब्राह्मी नाम उल्लेखनीय है।

यह भी सम्भव है कि तीर्थंकर-सर्वज्ञ की वाणी को, उसके लोककल्याणकारी स्वरूप को दृष्टिगत रखकर, 'श्रुतदेवी' के रूप में प्रतिष्ठित किया हो, और वैदिक परम्परा के साथ समन्वय की प्रवृत्ति ने उसे 'सरस्वती' का रूप ग्रहण कराया हो। देश भक्तियों के रचनाकार आचार्य पूज्यपाद ने तीर्थंकर-भक्ति के साथ श्रुत-भक्ति की भी रचना कर ज्ञान-देवी की आराधना ही की है।

जैन-शास्त्रों के अनुसार देवी सरस्वती के चार हाथ होते हैं। दायीं ओर का एक हाथ अभयमुद्रा में उठा रहता है, और दूसरे में कमल होता है। बायीं ओर के दो हाथों में क्रमशः पुस्तक और अक्षमाला रहती है। देवी का वाहन हंस है। देवी का वर्ण श्वेत होता है। देवी के तीन नेत्र होते हैं, और उसकी जटाओं में बालेन्दु शोभा पाता है (द्र. सरस्वतीकल्प)।

सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति (132 ई.) जैन परम्परा की है और मथुरा (संगृहीत-राज्य संग्रहालय, लखनऊ-जे 24) से मिली है। द्विभुज देवी की वाम भुजा में पुस्तक है और अभयमुद्रा प्रदर्शित करती दक्षिण भुजा में अक्षमाला है।

सरस्वती की स्तुति में अनेक जैन आचार्यों और पंडितों ने कल्प, स्तोत्र और स्तवन रचे हैं। मल्लिषेण-कृत भारतीकल्प, बप्पभट्टि का सरस्वतीकल्प, साध्वी शिवाया का पठितसिद्धसारस्वतस्तव, जिनप्रभसूरि का शारदास्तवन और विजयकीर्ति के शिष्य मलयकीर्ति का सरस्वतीकल्प प्रसिद्ध रचनाओं में से हैं।

(6) सोलह विद्यादेवियां

'सरस्वती' के अतिरिक्त, सोलह विद्या-देवियों की मान्यता भी जैन परम्परा में दृष्टिगोचर होती है।

अभिधानचिन्तामणि में विद्यादेवियों के नामों का उल्लेख करते हुए उन्हें वाक्, ब्राह्मी, भारती, गौ, गीर्, वाणी, भाषा, सरस्वती, श्रुतदेवी, वचन, व्याहार, भाषित और वचस् भी कहा गया है। सम्भवतः जैनों की विद्यादेवियां वस्तुतः अपने नाम के अनुसार वाणी की विभिन्न प्रकृतियों के कल्पित मूर्त रूप हों। विद्यादेवियों का स्वरूप बताते समय प्रायः सभी ग्रन्थों में उन्हें ज्ञान से संयुक्त कहा गया है।

विद्यादेवियां सोलह मानी गयी हैं। उनके नाम इस प्रकार बताए गए हैं:–

1. रोहिणी, 2. प्रज्ञप्ति, 3. वज्रश्रृंखला, 4. वज्रांकुशा, 5. जाम्बूनदा, 6. पुरुषदत्ता, 7. काली, 8. महाकाली, 9. गौरी, 1. गांधारी, 11. ज्वालामालिनी, 12. मानवी, 13. वैरोटी, 14. अच्युता, 15. मानसी और 16. महामानसी।

परम्परा-भेद से पांचवीं विद्यादेवी को अप्रतिचक्रा या चक्रेश्वरी नाम से भी अभिहित किया गया है। अभिधानचिन्तामणि में चक्रेश्वरी नाम से और पद्मानन्द महाकाव्य में अप्रतिचक्रा नाम से उसका उल्लेख मिलता है। आठवीं विद्यादेवी का नाम हेमचन्द्र ने 'महापरा' बताया है, परम्परा-भेद से अन्य ग्रन्थ उसे महाकाली कहते हैं। ज्वालामालिनी का उल्लेख कुछ ग्रन्थों में 'ज्वाला' नाम से मिलता है। उन्हीं ग्रन्थों में वैराटी को वैरोट्या और अच्युता को अच्छुप्ता कहा गया है।

विद्यादेवियों की सूची का शासन-देवताओं की सूची से मिलान करने पर विदित होता हैं कि इन देवियों में से प्रायः सभी को शासन यक्षियों की सूची में स्थान प्राप्त है यद्यपि शासन-यक्षी के रूप में इनके आयुध, वाहन आदि भिन्न प्रकार के बताए गये हैं।

(7) बहुमान के पात्रः देव-देवियां

कृतज्ञता व प्रत्युपकार-भावना, कल्याणकारी के प्रति बहुमान व आस्था का प्रदर्शन– ये भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में सर्वत्र मुखरित रहे हैं। जन-जीवन में जो भी पदार्थ या व्यक्ति सार्वजनिक दृष्टि से उपयोगी हैं, कल्याणकारी हैं, उनके प्रति बहुमान एवं भक्ति-भावना का प्रदर्शन करना प्रत्येक भारतीय का सहज स्वभाव रहा है। उक्त प्रवृत्ति ने अनेक देवी-देवताओं को आराध्य कोटि में ला दिया है। वैदिक काल में अग्नि, वायु, वरुण, सूर्य, चन्द्र

आदि अनेकानेक देव आराध्य थे– उसमें उक्त बहुमान-प्रदर्शन की भावना ही कारण थी। विशिष्ट वृक्षों, नदियों, पर्वतों आदि के अतिरिक्त, गौ आदि की पूजा भी की जाती रही है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी एवं बौद्धिक प्रतिभा के धनी ब्राह्मणों को 'भूदेव' के रूप में पूज्य माना गया। पारिवारिक दृष्टि से माता-पिता आदि को देववत् पूज्य माना जाता रहा है। प्रत्येक भारतीय गृहागत अतिथि का देववत् पूज्य मान कर यथोचित सत्कार करता है। अतिथि के आने को वह उसका उपकार मानता है क्योंकि उसके आने से ही उसे दान धर्म के अनुष्ठान का पुण्य-अवसर सहजतया प्राप्त होता है।

ज्योतिष-विद्या के अनुसार, हमारे जीवन पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालने वाले नव ग्रहों आदि की पूजा-आराधना भी समाज में प्रचलित रही है। वैदिक परम्परा में मृत श्रद्धास्पद व्यक्तियों की भी पितृदेव के रूप में प्रवर्तमान पूजा आदि की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है।

निष्कर्ष यह है कि बहुमान प्रदर्शन क़ी भावना के कारण, आराध्य-पूज्यों की संख्या लगातार बढती गई है।

(शासन-देव व देवियां):—

जैन परम्परा भी उक्त प्रवृत्ति से अछूती नहीं रही है। यही कारण है कि इसमें अनेक यक्षों व यक्षिणियों को देवकोटि में परिगणित किया गया है और उनके प्रति बहुमान व भक्ति-भाव प्रदर्शित करने की परम्परा भी दृष्टिगोचर होती है। उक्त यक्ष व यक्षिणियां व्यन्तर देव (निम्न कोटि के देव) होते हैं जो धर्म व शासन की सतत उन्नति करने हेतु उद्यत रहते हैं– इसलिए इन देवों को शासन-देव व शासन-देवियां कहा जाता है। ये यक्ष व यक्षिणियां तीर्थंकर के भक्त व सेवक होते हैं। इस अवसर्पिणी काल में प्रत्येक तीर्थंकर का एक-

एक यक्ष और एक-एक यक्षिणी होते हैं, इस प्रकार उनकी कुल संख्या 24-24 होती है। इनके नामों के सम्बन्ध में कहीं-कहीं वैमत्य भी परिलक्षित होता है। आ. हेमचन्द्र-कृत अभिधानचिन्तामणि के अनुसार, इनका विवरण इस प्रकार हैः—

तीर्थंकर	शासन-देव/यक्ष	शासन-देवी/यक्षिणियां
1. ऋषभदेव	गोमुख	चक्रेश्वरी
2. अजितनाथ	महायक्ष	अजितबला
3. सम्भवनाथ	त्रिमुख	दुरितारि
4. अभिनन्दननाथ	चतुरानन	कालिका
5. सुमतिनाथ	तुम्बरु	महाकाली
6. पद्मप्रभ	कुसुम	श्यामा
7. सुपार्श्वनाथ	मातंग	शान्ता
8. चन्द्रप्रभ	विजय	भृकुटि
9. सुविधिनाथ	जय	सुतारका
1. शीतलनाथ	ब्रह्मा	अशोका
11. श्रेयांसनाथ	किंनरेश	मानवी
12. वासुपूज्य	कुमार	चण्डा
13. विमलनाथ	षण्मुख	विदिता
14. अनन्तनाथ	पाताल	अंकुश
15. धर्मनाथ	किंनर	कन्दर्पा
16. शान्तिनाथ	गरुड़	निर्वाणी
17. कुन्थुनाथ	गन्धर्व	बला
18. अरनाथ	यक्षेश	धारिणी
19. मल्लिनाथ	कुबेर	धरणप्रिया
2. मुनि सुव्रत	वरुण	नरदत्ता

21. नमिनाथ	भृकुटि	गान्धारी
22. अरिष्टनेमि (नेमिनाथ)	गोमेध	अम्बिका
23. पार्श्वनाथ	पार्श्व (धरणेन्द्र)	पद्मावती (भैरवी)
24. महावीर	मातंग	सिद्धायिका

उपर्युक्त यक्षों व यक्षिणियों के स्वरूपादि का विवरण भी जैन साहित्य में प्राप्त होता है। इनमें वैदिक परम्परा के देवों व देवियों के स्वरूपादि से साम्य भी कहीं-कहीं परिलक्षित होता है। कुछ विद्वानों ने इस साम्य का कारण वैदिक परम्परा का प्रभाव बताया है। प्राचीन जैन साहित्य के अनुशीलन से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि इन यक्षों के मन्दिर होते थे और जन-सामान्य इनकी पूजा-भक्ति भी करता था।

उपर्युक्त देवों के अतिरिक्त (इन्द्राणी, वैष्णवी, कौमारी, वाराही, ब्रह्माणी, महालक्ष्मी, चामुण्डी व भवानी– ये) आठ मातृकाएं, दश दिक्पाल एवं नवग्रह भी जैन साहित्य में पूर्जा-अर्चा के पात्रों के रूप में वर्णित किये गये हैं।

(8) ईश्वर-सेवित वृक्ष और चैत्यवृक्ष

वैदिक व जैन– दोनों परम्पराओं में कुछ विशिष्ट वृक्षों को परमेश्वर या देवों से सेवित बता कर उन्हें महनीयता दी गई है।

वैदिक परम्परा में इस समस्त संसार को एक ऐसे महान् वृक्ष के रूप में निरूपित किया गया है जिसकी एक शाखा पर ईश्वर रूपी पक्षी है तो दूसरी शाखा पर जीव रूपी पक्षी। इनमें ईश्वर संसार-वृक्ष के फलों (कर्म-फलों) को नहीं चखता और जीव उनका उपभोग करता है (द्रष्टव्यः ऋग्वेद-1/164/2)।

यही मान्यता उपनिषदों व पुराणों में भी पुष्पित-फलित हुई है (द्र. श्वेताश्वतर उपनिषद् 4/6-7)। गीता में (15/1-3) में भी इस कर्मात्मक

संसार को एक अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष के रूप में निरूपित करते हुए वेद को इसके पत्ते बताया गया है। [सम्भवतः इस निरूपण की पृष्ठभूमि में लौकिक अश्वत्थ-पीपल के वृक्ष को सर्वश्रेष्ठ माना गया है (द्र. गीता- 10 /26)।] भागवत पुराण (10/2/27) में भी इस प्रकृति को एक सनातन वृक्ष के रूप में निरूपित करते हुए इस पर जीव व ईश्वर-इन दो पक्षियों के बैठे रहने का निर्देश किया गया है–

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलः, चतूरसः पंचविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥

एक प्रसिद्ध स्तुति में बालक कृष्ण को वट वृक्ष के पत्ते पर लेटे हुए बताया गया है– 'बटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि'। भागवत पुराण (3/9/16) में परमात्मा को ही विश्व-वृक्ष के रूप में चित्रित करते हुए ब्रह्मा-विष्णु शिव आदि को उक्त वृक्ष की प्रधान शाखा- प्रशाखाएं बताया गया है।

समग्र विवेचन का सारांश यह है कि वैदिक परम्परा में वृक्ष को ईश्वर के साथ किसी न किसी रूप में जोड़ा जाता रहा है।

जैन परम्परा में उपर्युक्त भावना/मान्यता के समानान्तर, वृक्षों को स्वर्गीय देवों से तथा परमेश्वर तीर्थंकरों से जोड़ने की मान्यता दृष्टिगोचर होती है। जैन मान्यता यह है कि प्रत्येक तीर्थंकर ने किसी न किसी वृक्ष के नीचे बैठ कर, तपस्या करते हुए परमात्मरूपता (केवलज्ञान) प्राप्त की है। इन वृक्षों को अशोकवृक्ष भी कहा जाता है क्योंकि इनकी शरण में आने वालों का शोक दूर हो जाता है (द्र. तिलोयपण्णत्ति- 4/915-918)।

जैन आगम समवायांग (646 सूत्र) में इन वृक्षों को 'सुरासुरमहित'– देवों आदि से पूजित बताया गया है। प्रत्येक तीर्थंकर के चैत्यवृक्षों के नाम इस प्रकार हैं (द्र. समवायांग- 646, किन्तु तिलोयपण्णत्ति-4/915-18 में नाम-भेद से इनका निर्देश है):–

तीर्थंकर	ज्ञान-वृक्ष
1. ऋषभदेव	न्यग्रोध (वट)
2. अजितनाथ	सप्तपर्ण
3. संभवनाथ	शाल
4. अभिनन्दननाथ	प्रियाल
5. सुमतिनाथ	प्रियंगु
6. पद्मप्रभनाथ	छत्राह
7. सुपार्श्वनाथ	शिरीस
8. चन्द्रप्रभ	नाग
9. सुविधिनाथ	शाली
10. शीतलनाथ	प्लक्ष
11. श्रेयांसनाथ	तिंदुक
12. वासुपूज्य	पाटल
13. विमलनाथ	जम्बू
14. अनन्तनाथ	अश्वत्थ (पीपल)
15. धर्मनाथ	दधिपर्ण
16. शान्तिनाथ	नन्दी
17. कुन्थुनाथ	तिलक
18. अरनाथ	आम्र
19. मल्लीनाथ	अशोक
20. मुनिसुव्रत	चंपक
21. नमिनाथ	बकुल
22. नेमिनाथ	वेतस
23. पार्श्वनाथ	धातकी
24. महावीर	शाल

इसी निरूपण-क्रम में यह भी उल्लेखनीय है कि जैन शास्त्रों के अनुसार, इस मनुष्य-लोक में दस ऐसे महावृक्ष हैं जिन पर देवों का भी निवास है (द्रष्टव्यः स्थानांग- 1/139)। वे हैं– जम्बू, धातकी, महाधातकी, पद्म, महाद्म और 5 कूटशाल्मली वृक्ष।

इसी तरह, भवनवासी देवों एवं व्यन्तर देवों के भी अपने-अपने पृथक्-पृथक् चैत्यवृक्ष माने गए हैंः–

जैन सूत्रों (द्रष्टव्यः स्थानांग- 1/82) में भवनवासी देवों के निम्नलिखित दस चैत्य-वृक्ष बतलाए गए हैं।

असुरकुमार	अश्वत्थ
नागकुमार	सप्तपर्ण-सात पत्तों वाला पलाश
सुपर्णकुमार	शाल्मली- सेमल
विद्युत्कुमार	उदुम्बर
अग्निकुमार	शिरीस
दीपकुमार	दधिपर्ण
उदधिकुमार	वंजुल अशोक
दिशाकुमार	पलाश (तीन पत्तों वाला पलाश)
वायुकुमार	वप्र
स्तनितकुमार	कर्णिकार (कणेर)

इसी प्रकार (स्थानांग- 8/117 में) व्यन्तर देवों के भी आठ चैत्य-वृक्ष बतलाए गए हैं–

पिशाच	कदम्ब
भूत	तुलसी
यक्ष	बरगद
राक्षस	खट्वांग
किन्नर	अशोक
किंपुरुष	चंपक

नाग या महोरग	नाग
गन्धर्व	तिन्दुक

(९) शलाकापुरुष और रामकृष्ण अवतार

वैदिक व जैन— इन दोनों परम्पराओं में कुछ विशिष्ट महापुरुष या अवतार-पुरुष माने गए हैं जिनका भारत के सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन विशिष्ट व्यक्तियों को वैदिक परम्परा 'अवतार' कह कर विज्ञापित करती है। जैन परम्परा में इन्हें 'शलाकापुरुष' कहा गया है। शलाकापुरुष से तात्पर्य उन महापुरुषों से है जिनके गौरवपूर्ण कार्यों के कारण जिनकी गणना या जिनका उल्लेख इतिहास के पन्नों पर अवश्य अपेक्षित हो।

जैन शास्त्रों में शलाकापुरुषों की संख्या 54, 63 या 123 व 169 तक मानी गई है। सामान्यतः इनकी 63 संख्या अतिप्रसिद्ध है (द्र. तिलोयपण्णत्ति-4/510-511, 4/1473)। इसका विवरण इस प्रकार है— 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव (नारायण), और 9 प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण)।

वैदिक अवतारों का कार्य धर्म-स्थापना, अधर्म-नाश, धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अव्यवस्था को दूर कर मर्यादा व व्यवस्था को स्थापित करना, दिग्भ्रान्त मानवता को कल्याणकारी मार्ग दिखाना आदि होता है। जैन शलाका-पुरुषों का कार्य भी वैसा ही होता है।

सभी जैन तीर्थंकर धार्मिक व सात्त्विक सृष्टि का सूत्रपात करते हैं। अधर्म के मूलकारण 'अज्ञान' को दूर कर वे 'धर्म' का प्रचार-प्रसार करते हैं। सभी चक्रवर्ती एक व्यापक प्रशासनिक व्यवस्था को मूर्त रूप देते हैं। वैयक्तिक रूप से विविधता, स्वच्छन्दता व निरंकुशता वाली विभिन्न शासन-प्रणालियों को एकसूत्र में बांधकर एक स्वच्छ, धर्मनिष्ठ, संगठित, अखण्ड, एकछत्र केन्द्रीय शासन-

प्रणाली स्थापित करना— उनका दायित्व होता है। एक परमशक्तिशाली प्रशासनिक व्यवस्था के अभाव में अनाचार-दुराचार के पनपने की अधिक संभावना रहती है। छोटे-छोटे राज्य परस्पर युद्ध में संलिप्त रहते हैं और अपनी-पराई भावना रखकर दूसरे के राज्य में अशान्ति व लूटमार या विध्वंस फैलाने के लिए उद्यत रहते हैं। चक्रवर्ती के एक अखण्ड राज्य में ऐसी कोई अव्यवस्था नहीं पनपती।

इसी तरह, बलदेव व वासुदेव (नारायण) अपने समय की सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक गतिविधियों में सम्मिलित होकर सामान्य जनता की पीड़ा को समझते हैं और उसे दूर करते हैं। आसुरी शक्तियों के प्रतीक और अधर्माचरण के कर्णधार कुछ शक्तियां उनके विरोध में खड़ी होती हैं, जिन्हें बलदेव व वासुदेव निर्मूल करते हैं।

चक्रवर्ती असामान्य भौतिक सुख-सुविधाओं का स्वामी होता है और सामान्य जनता से उसका घनिष्ठ सम्पर्क नहीं रह पाता। इसके विपरीत, बलदेव व वासुदेव शक्तिसम्पन्न, वैभवसम्पन्न होते हुए भी सामाजिक रूप से जनता से अधिक जुड़े हुए होते हैं। उनकी धर्मनिष्ठ वैयक्तिक छवि का जन-जन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इनकी तत्कालीन धार्मिक-सांस्कृतिक जगत् में गहरी पैठ होती है, अतः ये धार्मिक-सांस्कृतिक उन्नयन में अधिक प्रभावक ढंग से अपना योगदान देते हैं। वे आसुरी या प्रतिरोधात्मक शक्ति के प्रतिनिधि प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) को पराजित करते हैं।

प्रतिवासुदेव का अस्तित्व एक प्रकार से बलदेव व वासुदेव की गरिमा को बढ़ाने में सहायक होता है। जैसे, अन्धकार न हो तो प्रकाश का महत्त्व समझ में नहीं आता, प्रकाश के 'प्रकाश' होने में अन्धकार का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी तरह सांस्कृतिक व धार्मिक उन्नयन में प्रतिवासुदेव के भी योगदान को नकारा नहीं जा सकता। उनका जीवन सामान्य जनता के लिए एक निदर्शन

बनता है और इस तथ्य को हृदयंगम कराता है कि अधर्म व दुराचार का कभी सुपरिणाम नहीं होता। अतः शलाकापुरुषों में उनका परिगणन न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(महनीय राम-कृष्ण अवतार—)

वैदिक अवतारों में सर्वश्रेष्ठ दो ऐसे अवतार हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है। ये दो अवतार हैं— श्रीराम और श्रीकृष्ण। मर्यादापुरुषोत्तम रूप में श्रीराम जन-जन की महान् आस्था व श्रद्धा के केन्द्र रहे हैं तो ईश्वर के षोडशकलापूर्ण पूर्णावतार के रूप में श्रीकृष्ण का भी अविस्मरणीय महत्त्व है। गीता के माध्यम से कर्मयोग के उपदेष्टा बनकर वे सांसारिक कर्मक्षेत्र में युगों-युगों का श्रद्धाभाजन रहेंगें। इन दोनों ने सांस्कृतिक आकाश में सूर्य व चन्द्र की तरह अपना प्रकाश फैलाया है। प्रत्येक भारतीय की इन दोनों महापुरुषों/ अवतारों पर इतनी अडिग आस्था व श्रद्धा है जो कभी-विचलित नहीं हो सकती। यही कारण है कि इन दोनों की पावन जीवनी को केन्द्रित कर प्रचुर साहित्य का निर्माण होता रहा है।

इन दोनों वैदिक अवतारों की महनीयता जैन परम्परा में भी रेखांकित हुई है। इस तथ्य को पुष्ट करने हेतु जैन परम्परा में स्वीकृत मान्यताओं का उल्लेख यहां प्रासंगिक है।

(जैन परम्परा में भगवान् राम)

जैन परम्परा में राम एक असाधारण महापुरुष के रूप में प्रतिष्ठाप्राप्त हैं। उपर्युक्त शलाकापुरुषों में भी 54 महापुरुषों का विशिष्ट उल्लेख किया जाता है, उनमें इनकी गणना होती है। उक्त 54 महापुरुषों में 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव (नारायण)— इनका परिगणन होता है। एक मान्यतानुसार, ये सभी महापुरुष, या तो उसी जन्म में या अगले कुछ जन्मों में सिद्ध-

बुद्ध-मुक्त होते हैं (द्रष्टव्यः तिलोयपण्णत्ति-4/1473) और आराध्य कोटि में आते हैं। इन 54 महापुरुषों में भी 'बलदेव' महापुरुष नियमतः 'ऊर्ध्वगामी' होते हैं अर्थात् इनका कभी अधःपतन नहीं होता (द्र. समवायांग- 663/67, हरिवंश पुराण- 6/293, तिलोयपण्णत्ति- 4/436)। जैन परम्परा श्रीराम को इन्हें बलदेव-महापुरुषों में परिगणित कर एक असाधारण महापुरुष मानती है।

भगवान् राम के व्यक्तित्व को व्याख्यायित करने वाली कुछ जैन मान्यताएं यहां प्रस्तुत हैं:—

●जैन परम्परा के अनुसार, 2 वें तीर्थंकर मुनि सुव्रत के शासन (धर्म-प्रवर्तन)- काल में 8 वें बलदेव के रूप में 'श्रीराम' का जन्म हुआ था। इनका वास्तविक नाम 'पद्म' था (तिलोयपण्णत्ति-4/517)। जैन पुराणों में इन्हें 'राम' नाम से भी अभिहित किया गया है (द्र. पद्मपुराण- 74/31, उत्तरपुराण- 69/731 आदि)।

●इनका अवतरण (च्यवन) स्वर्गलोक से हुआ था (द्र. पद्मपुराण-2/236, उत्तरपुराण- 68/731)।

इनके छोटे भाई लक्ष्मण जैन परम्परा में 'नारायण' नाम से अभिहित किये गए हैं, जिन्हें 8 वें वासुदेव के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। पद्म (राम) और नारायण (लक्ष्मण)— ये दोनों एक ही पिता दशरथ के पुत्र थे और परस्पर भाई थे। इनमें पद्म (राम) बड़े थे (द्र. पद्मपुराण- 2/214, समवायांग- 667/67)।

●ये असाधारण सौन्दर्य के साथ-साथ असाधारण/अपराजेय शक्ति से भी सम्पन्न थे। दया, करुणा, धीरता, सौम्यता के साथ-साथ अद्भुत वीरता की भी ये प्रतिमूर्ति थे। इन्हें सूर्य के समान तेजस्वी तथा देवराज इन्द्र की तरह अप्रतिहत राज्य-लक्ष्मी का अधिपति माना गया है। भारत के आधे भाग यानी तीन खण्डों का अधिपति होने से इन्हें अर्धचक्री कहा गया है (द्र.समवायांग-667/67)।

●अपने छोटे भाई के साथ ये अपने प्रमुख शत्रु रावण— जो 8 वां प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) माना जाता है— से युद्ध करते हैं (द्र. पद्मपुराण- 74/31) और विजय प्राप्त करते हैं। उल्लेखनीय है कि रावण की मृत्यु लक्ष्मण (नारायण) के हाथों होती है, न कि राम के हाथों (पद्मपुराण- 76/28-34)।

●ये अहिंसा के प्रबल पक्षधर थे। अपने राज्य में 'अहिंसा' को उन्होंने राजाज्ञा-पूर्वक प्रतिष्ठित किया था (द्र. उत्तरपुराण- 68/698)। अहिंसा धर्म के पर्याय जैन धर्म व संस्कृति में उनकी अगाध श्रद्धा थी। वे दुष्ट-निहन्ता, सज्जन-प्रतिपालक, नीतिज्ञ, मर्यादा के ज्ञाता व संस्थापक तथा सर्वदा कल्याणकारी कार्यों में संलग्न रहते थे (उत्तरपुराण- 68/82-83)।

●अन्त में विरक्त भाव से अपार वैभव को त्याग कर सीता के साथ प्रव्रजित हो गए (पद्मपुराण- 68/75-712)। तप व संयम की उत्कृष्ट साधना के बल पर श्रुतकेवली व सर्वज्ञ परमात्मा हुए और अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए (द्र. पद्मपुराण- 68/714-722, 2/248, स्थानांग- 9/61, समवायांग- 663 (67), तिलोयपण्णत्ति- 4/1437)।

केवली व सिद्ध-बुद्ध मुक्त होने से 'राम' समस्त जन-मानस के अर्हन्त व सिद्ध परमेष्ठी के रूप में आज भी एक वन्दनीय, उपासनीय व आराध्य व्यक्तित्व हैं। जैन पुराणकार आचार्य गुणभद्र ने भगवान् राम की स्तुति इस प्रकार की है:—

जनयतु बलदेवो देवदेवो दुरन्ताद्
दुरितदुरुदयोत्थाद् दूष्यदुःखाद् दवीयान्।
अवनतभुवनेशो विश्वदृश्वा विरागो
निखिलसुखनिवासः सोऽष्टमोऽभीष्टमस्मान्॥

(उत्तरपुराण-68/732)

— अर्थात् अष्टम बलदेव श्रीराम सर्वज्ञ, वीतराग, एवं देवों के भी देव हैं, इन्द्र भी जिनके प्रति नतमस्तक हैं, दुःखदायी पापकर्मों से होने वाले दुष्ट/अशुभ फलों से वे सर्वथा दूर हैं तथा समस्त (पूर्ण) सुख की स्थिति 'सिद्ध-मुक्त-अवस्था' को प्राप्त कर चुके हैं। वे हम लोगों के अभीष्ट मनोरथ को पूर्ण करें।

(जैन परम्परा में वासुदेव श्रीकृष्ण)

जैन मान्यतानुसार, वासुदेव श्रीकृष्ण 23 वें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय 9 वें वासुदेव (नारायण) के रूप में इस धरातल पर आए थे (हरिवंश-पुराण- 6/288-289, तिलोयपण्णत्ति- 4/5/8)। उनके गौरवपूर्ण जीवन से सम्बद्ध कुछ सूचनाएं यहां प्रस्तुत हैंः—

●वे (महाशुक्र नामक) स्वर्गलोक से धराधाम पर अवतरित (च्यवित) हुए थे (पद्मपुराण- 2/218-2)।

●इनके बड़े भाई बलराम भी 9 वें बलदेव के रूप में स्वर्गलोक से आए थे (पद्मपुराण- 2/236-37)।

●जन्म से ही शंख, चक्र, गदा आदि प्रशस्त चिन्ह इनके शरीर में थे (हरिवंशपुराण- 35/35)। ये पीताम्बर व मोरमुकुट के धारी थे (हरिवंश पुराण- 35/35)। वे सौम्य, प्रियदर्शन, ओजस्वी, तेजस्वी व दयालु थे।

●ये अर्धचक्री व त्रिखण्डभरताधिपति माने गए है। वैदिक परम्परा की ही तरह, ये वसुदेव व देवकी के पुत्र हैं और इनका लालन-पालन यशोदा द्वारा किया गया है। वैदिक परम्परा की तरह, पूतना-वध, गोवर्धनपर्वत-धारण, चाणूरमल्ल आदि का मर्दन आदि शौर्यपूर्ण कार्यों के कर्ता— ये माने गए हैं (द्र. हरिवंश पुराण- 35 वां सर्ग)। यौवन में भी इनके द्वारा रुक्मिणी-हरण (हरिवंश पुराण- 42/78-97), कंसवध (ह. पु. 36/45), शिशुपाल-वध (ह. पु.- 5/24, और महान् बलशाली प्रतिनारायण (प्रतिवासुदेव) जरासन्ध का वध (ह. पु. 4/14, 6/291-292) आदि असाधारण वीरता के कार्य किये गये।

●पौराणिक निरूपणों के अनुसार ये 'अखण्डित पौरूष' अर्थात् अपराजेय होते हैं (हरिवंश पुराण-6/289)। इन्हें देवों तक के लिए दुर्जेय बताया गया है (हरिवंश पुराण-5/21)। इन में बीस लाख अष्टापदों की शक्ति होती है। (समवायांग 667)। हरिवंश पुराण के (36/44) के अनुसार एक हजार सिंह व हाथियों का बल इनमें था।

●वे धर्म-निष्ठ, तीर्थंकर-भक्त एवं समाजकल्याण की भावना से ओतप्रोत थे। समय-समय में वे समस्त परिवार के साथ तीर्थंकर की सभा में धर्मोपदेश-श्रवण हेतु जाते थे।

●अनेक उत्थान-पतन की प्रक्रिया में से गुजरते हुए ये भावी जन्म में जैन धर्म के सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठित पद 'तीर्थंकर' को प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे (द्र. स्थानांग-9/61, समवायांग-663/65, उत्तरपुराण-72/181-184, 28-281, त्रिंलोकसार-833)। निश्चित ही वे परमात्मा-परमेश्वर व भगवान् होने का गौरव प्राप्त कर जन-जन के आराध्य व उपास्य बनेंगे।

उपर्युक्त निरूपण के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में भी श्रीकृष्ण के महनीय स्वरूप को निरूपित किया गया है और इन्हें असाधारण महापुरूषों में परिगणित किया गया है। इस सम्बन्ध में वैदिक मान्यता से जो कुछ भिन्नता है, तो वह जैन विचारधाराणा की अपनी मौलिक मान्यताओं के कारण है।

दोनों परम्पराओं के कथानकों में साम्य

मनोविनोद व ज्ञानवर्द्धन की जितनी सुगम और उपयुक्त साधन कथा-कहानी है, उतनी साहित्य की कोई अन्य विधा नहीं है। कथाओं में मित्र-सम्मत या कान्तासम्मत उपदेश निहित होता है जो श्रवण में सरस-मधुर और आचरण में सुगम प्रतीत होता है। यही कारण है कि मानव ने जन्म लेकर अपने नेत्र खोले, तभी से लेकर जीवन की अन्तिम श्वास तक वह कथा-कहानी सुनता आ रहा है।

दूसरे शब्दों में कथा-साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं मानव। कथा के प्रति मानव का सहज आकर्षण रहा है। फलस्वरूप जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें कहानी की सरसता अभिव्यक्त नहीं हुई हो। निश्चय ही कहने और सुनने की उत्कण्ठा सार्वभौम रही है। इसमें जिज्ञासा और कुतूहल की ऐसी अद्भुत शक्ति समाहित है जिससे यह आबालवृद्ध, सभी के लिए आस्वाद्य है। जन-मानस का प्रतिनिधित्व करने वाली कथाएं सांस्कृतिक चेतना की प्रबुद्ध सांसें हैं, अतः संस्कृति को सुरक्षित रखने में कथा की उपादेयता सर्वथा संगत है। कथा-कहानी मनुष्य के लिए एक अपूर्व विश्रान्ति का साधन है। आज भी इसकी उक्त विशेषता में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। यही कारण है कि प्रमुख भाषाओं के साहित्य कथा-कहानियों से भरे पड़े हैं।

भारतीय साहित्य के स्रष्टा प्राचीन काल से ही साहित्य की इस विधा को अपनी रचनाओं से समृद्ध करते रहे हैं। वैदिक साहित्य, उपनिषत्साहित्य, रामायण, महाभारत आदि में अनेकानेक आख्यान भारतीय कथा-साहित्य की परम्परा को रूपायित करते हैं। कथा-कहानियों, आख्यान आदि को साहित्य में तो प्रतिष्ठा मिली ही है, लोक-मानस में भी श्रुति-परम्परा से अविच्छिन्न रूप से वे प्रवाहमान रहें हैं।

वैदिक परम्परा हो या जैन परम्परा, दोनों में ही कथा-विधा को फलने-फूलने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। इन दोनों परम्पराओं के कथा-साहित्य में भारतीय संस्कृति के नैतिक आदर्शों, धार्मिक मान्यताओं, रीति-रिवाजों, ऐतिहासिक तथ्यों व चिरन्तन सत्यों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता हुआ दिखाई देता है।

दोनों परम्पराओं ने एक दूसरी से कथानकों का आदान-प्रदान भी किया है। ऐसा भी हुआ है कि एक ही कथानक ने दोनों परम्पराओं में अंगीकृत होकर पृथक्-पृथक् रूप धारण कर लिया, या दोनों परम्पराओं ने एक ही कथानक को अपनी-अपनी मौलिक

मान्यताओं के अनुरूप ढालते हुए प्रस्तुत किया। कथानकों के संक्रमण की इस प्रवृत्ति ने दोनों परम्पराओं में परस्पर निकटता स्थापित की है और साथ ही, दोनों परम्पराओं के साझे सांस्कृतिक मूल्यों को उजागर करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

दोनों परम्पराओं के कथानकों में प्राप्त साम्य ने अनेक अनुसन्धाता विद्वानों व मनीषियों का ध्यान आकृष्ट किया है। बौद्ध जातक, महाभारत, वैदिक पुराण, जैन आगम—इनमें एक ही कथानक ने किस प्रकार विविध रूप धारण किया है, या एक ही कथ्य को रेखांकित करने के लिए दोनों परम्पराओं में एक जैसे कथानक प्रस्तुत किये गए हैं— इस विषय पर कुछ विद्वानों ने शोधपूर्ण कार्य भी प्रस्तुत किये हैं। फिर भी इस दिशा में और भी अधिक अनुसन्धान अपेक्षित हैं। कुछ कथानक, प्रायः जिन पर विद्वानों की दृष्टि नहीं पड़ी है, उन्हें संकलित कर प्रस्तुत कृति के द्वितीय खण्ड **(जैन व वैदिक कथाओं में एकता के स्वर)** में प्रस्तुत किया जा रहा है।

ये कथाएं दोनों परम्पराओं के साझे सांस्कृतिक मूल्य को रेखांकित करती हैं और घटना-साम्य भी प्रदर्शित करती हैं। इनमें वे कथाएं भी हैं जो जन-सामान्य में प्रचलित रही हैं और भारतवर्ष के व्यापक सांस्कृतिक ताने-बाने से जुड़ी हुई हैं, साथ ही वे कथाएं भी हैं जो परस्परसंमत धार्मिक साहित्य में निर्दिष्ट हैं। दोनों परम्पराओं की सांस्कृतिक दृष्टि से एकता-समानता के स्वर जो इन कथाओं में मुखरित हुए हैं, उन्हें रेखांकित करना प्रस्तुत द्वितीय खण्ड का उद्देश्य है।

दोनों परम्पराओं में सैद्धान्तिक समन्वय

वैदिक व जैन धर्म-दर्शन दोनों ही सांस्कृतिक मूल्यों व आदर्शों में प्रायः एकमत हैं। वस्तुतः दोनों ही परम्पराएं समग्र भारतीय संस्कृति की ही उपधाराएं हैं और दोनों सैद्धान्तिक एकसूत्रता

से परस्पर बंधी हैं। अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् मौलिक मान्यताओं में वैमत्य भले ही हो, दोनों मूलभूत आदर्शों से बंधी हुई दृष्टिगोचर होती हैं। प्रस्तुत कृति के तीसरे खण्ड (सिद्धान्त समन्वय) में 4 से अधिक ऐसे सांस्कृतिक मूल्यों, नैतिक आदर्शों व चिरन्तन सत्यों को संकलित कर प्रस्तुत किया गया है जो दोनों परम्पराओं में समानतया आदृत हुए हैं। पोषक प्रमाणों के रूप में दोनों परम्पराओं के सर्वमान्य शास्त्रों, ग्रन्थों से विशिष्ट सन्दर्भों को उद्धृत किया गया है। इस तरह, दोनों परम्पराओं की सांस्कृतिक एकता एवं उनके समन्वित रूप को प्रतिबिम्बित करने का प्रयास अग्रिम दो खण्डों के माध्यम से किया गया है।

परस्पर समन्वय के पुरोधा मनीषी

दोनों परम्पराओं को परस्पर समीप लाने में, दोनों की अनेकता में भी एकता को रेखांकित करने में, और उनकी विविध मान्यताओं में अनुस्यूत समस्त आदर्शों व मूल्यों को उद्घाटित करने में, दोनों परम्पराओं के अनेक विशिष्ट आचार्यों, मनीषियों का योगदान रहा है जो अविस्मरणीय है।

वैदिक परम्परा में वैदिक ऋषि, महर्षि व्यास, महाकवि कालिदास, आचार्य शंकर आदि ऐसे विशिष्ट आचार्य हैं जिन्होंने दोनों संस्कृतियों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति को परिपुष्ट किया है। इसी तरह, जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द, आ. समन्तभद्र, आ. सिद्धसेन, आ. सोमदेव, आ. नेमिचन्द्र, आ. हरिभद्र व आ. हेमचन्द्र आदि मनीषियों ने सांस्कृतिक समन्वय की दिशा में उल्लेखनीय योगदान किया है। उक्त आचार्यों की वैचारिक परम्परा को प्रवर्तित रखना वर्तमान में भी अत्यधिक आवश्यक है ताकि परस्पर सम्मान-सहिष्णुता-उदारता की पृष्ठभूमि में एक सुखद सौहार्दपूर्ण वातावरण निर्मित हो सके।

(समन्वय के मुखरित स्वर)

अन्य धर्मों, दर्शनों व विचारधाराओं के प्रति सहिष्णुता व उदारता का भाव रखना, परस्पर समन्वय की दृष्टि से समानता के सूत्र खोजना, वैचारिक विविधताओं में अनुस्यूत विचारधारा को रेखांकित करना– यह भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है। इस विशेषता को अविच्छिन्न बनाये रखने में, वैदिक व जैन परम्पराओं के ऋषियों-मुनियों, आचार्यों, मनीषियों द्वारा यथासमय अभिव्यक्त उद्गार मार्गदर्शक रहे हैं। उनमें से कुछ विशिष्ट वचनों/सन्दर्भों को यहां उपसंहार रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है:–

वैदिक ऋषि

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

(ऋग्वेद-1/164/46)

– सत्य एक है, विद्वान् लोग उसे अनेक प्रकारों से व्याख्यायित करते हैं।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजुर्वेद- 32/1)

तत्त्व एक ही है। उसी को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, प्रजापति व ब्रह्म– इन नामों से पुकारते हैं।

संगच्छध्वं संवदध्वम्।

(ऋग्वेद- 10/191/2)

–चलने-फिरने (व्याहारिक आचरण) में तथा परस्पर बोलचाल में हमारी सहभागिता हो।

सं वो मनांसि जानताम्।

(ऋग्वेद 10/191/2)

एक दूसरे के विचारों को मिलकर (सहमत होकर) जानें-समझें।

कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

(ऋग्वेद- 1/114/5)

एक ही सत्य को कवि (विद्वान्) लोग अनेक प्रकारों से व्याख्यायित करते हैं (अर्थात् विद्वानों के विविध व्याख्यानों में एक ही सत्य अनुस्यूत है– ऐसा समझना चाहिए)।

स्मृतिकार मनु

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(मनुस्मृति- 12/123)

-एक ही तत्त्व को कुछ लोग अग्नि कहते हैं तो कुछ मनु। कुछ उसे प्रजापति कहते हैं तो कुछ उसे इन्द्र कहते हैं। कुछ लोग उसे ही प्राण तत्त्व तो कुछ उसे शाश्वत ब्रह्म नाम से पुकारते हैं।

महर्षि व्यास

धर्मं यो बाधते धर्मः, न स धर्मः कुधर्म तत्।

(महाभारत- 3/131/11)

जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुंचाता है, वह धर्म नहीं, कुधर्म है (अर्थात् अन्य धर्मों/विचारधाराओं के साथ विरोध न रखना 'धर्म' का धर्मपना है)।

महाकवि कालिदास

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्यौघाः, जाह्नवीया इवार्णवे॥

(रघुवंश-1/26)

– जैसे गंगा की विविध धाराओं का लक्ष्य समुद्र ही होता है, वैसे ही विविध आगमों/शास्त्रों में विभक्त समस्त (दार्शनिक) विचारधाराएं परमात्म-तत्त्व पर ही केन्द्रित व अन्त में वहीं समाहित होती हैं (अर्थात् विविध दर्शनों का लक्ष्य एक ही है)।

आचार्य शंकर

उपास्यैकत्वेऽपि उपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवति, यथा द्वे नार्यौ एकं नृपतिमुपास्ते, छत्रेणान्या चामरेणान्या।

(ब्रह्मसूत्र- 3/3/11 पर शांकर भाष्य)।

– यद्यपि उपास्य एक ही है, फिर भी उपासना के भेद अनेक हो सकते हैं। जैसे एक ही राजा की दो सेविका स्त्रियां हों, उनमें से एक छत्र धारण करके तो दूसरी चंवर ढुला कर सेवा करती है (इसी प्रकार, विविध उपासनाएं एक ही उपास्य/आराध्य की उपासना में सहभागी हैं)।

जैनाचार्य कुन्दकुन्द

णाणी शिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पा कम्मविमुक्को य होइ फुडं॥

(भावपाहुड, 151)

– आत्मा ही कर्मविमुक्त होकर 'परमात्मा' होता है। उसे ही ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख (ब्रह्मा) व बुद्ध– इन विविध नामों/विशेषणों से पुकारते हैं।

जैनाचार्य समन्तभद्र

स्मयेन योऽन्यानत्येति, धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार- 1/26)

– जो व्यक्ति अभिमान या गर्व के कारण, अन्य धर्म के अनुयायियों का (तिरस्कार आदि द्वारा) अतिक्रमण करता है, (उनकी आस्था को चोट पहुंचाता है,) वह धर्म का अतिक्रमण कर रहा होता है, क्योंकि धार्मिकों से ही धर्म का अस्तित्व है।

जैनाचार्य सिद्धसेन

ज्ञेयः परसिद्धान्तः,स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम्।

(द्वात्रिंशिका-8/19)

यदि अपने पक्ष या सिद्धान्त की शक्ति का निर्णय भी करना हो, तो भी दूसरे के सिद्धान्त को जानना अपेक्षित है।

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।

(द्वात्रिंशिका-4/15)

– जैसे सारी नदियाँ एक ही समुद्र में जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार सभी दृष्टियों (दार्शनिक विचारधाराओं) का लक्ष्य एक परमात्मा ही है।

विधि-ब्रह्म-लोकेश-शम्भू-स्वयम्भू-
चतुर्वक्त्रमुख्याभिधानां विधानम्।
ध्रुवोऽथो य ऊचे जगत्सर्गहेतुः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः।

(द्वात्रिंशिका- 21/7)

– मेरे लिए एकमात्र परमात्मा जिनेन्द्र ही ध्रुवभूत शरण है, जिसे सृष्टिकर्ता, ब्रह्मा, विष्णु, शम्भू, स्वयम्भू, चतुर्मुख इत्यादि प्रमुख नाम दिये जाते रहे हैं।

जैनाचार्य पूज्यपाद

शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे,
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः।

(समाधिशतक-2)

– जिनेन्द्र को मेरी वन्दना है, जिसे शिव, धाता, सुगत (बुद्ध), विष्णु या सर्वभूतस्थ आत्मा कहा जाता है।

<u>जैनाचार्य अकलंक</u>

तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तम्,
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा॥

(अकलंकस्तोत्र-9)

— समस्त गुणों के निधि, सभी दोषरूपी शत्रुओं को ध्वस्त करने वाले तथा सज्जनों के वन्दनीय परमात्मा की वन्दना करता हूं, जिसे बुद्ध, महावीर, कमलासन (ब्रह्मा), विष्णु या शिव कहा जाता है।

<u>जैनाचार्य हरिभद्र</u>

आत्मीयः परकीयो वा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम्।
दृष्टेटाबाधितो यस्तु युक्तस्तस्य परिग्रहः॥

(योगबिन्दु, 525)

—विद्वान् लोगों के लिए कोई सिद्धान्त न अपना होता है और न ही पराया। जो भी सिद्धान्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित/प्रतिकूल नहीं होता, उसे ही वे अपना लेते हैं।

युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।

(लोकतत्त्वनिर्णय, 38)

— युक्तियुक्त वचन जिसका भी हो, उसे अपना लेना चाहिए।

आगमेन च युक्त्या वा योऽर्थः समभिगम्यते।
परीक्ष्य हेमवद् ग्राह्यः पक्षपाताग्रहेण किम्॥

(लोकतत्त्वनिर्णयक, 18)

—आगम से और युक्ति से जो पदार्थ समझ में आए, उसकी अच्छी तरह उसी प्रकार जांच-परख करनी चाहिए जैसे लोग सोने को (आग में पका कर) परखते हैं, यूं ही किसी मत-विशेष के प्रति पक्षपात नहीं करना चाहिए।

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च।

शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः॥

(योगदृष्टिसमुच्चय,13)

– एक ही परमात्मा-तत्त्व को सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा, तथता-इत्यादि सार्थक नामों से अभिहित करते हैं।

यस्य निखिलाश्च दोषाः न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

(लोकतत्त्वनिर्णय,4)

– जो समस्त दोषों से रहित हो चुका है और समस्त गुणों से सम्पन्न है, उसे ब्रह्मा कहो या विष्णु कहो, शंकर कहो या जिनेन्द्र कहो, मेरी उसे वन्दना है।

जैनाचार्य सोमदेव

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्॥

(उपासकाध्ययन,34/48)

श्रुतिः शास्त्रान्तरं वाऽस्तु प्रमाणं वाऽत्र का क्षतिः।

(उपासकाध्ययन,34/477)

– जैनों के लिए समस्त लौकिक आचार-विचार प्रमाण हैं– अर्थात् स्वीकार्य हैं, बशर्ते उनके सम्यक्त्व में कोई कमी नहीं आए और व्रत भी खण्डित नहीं हों।

इसी तरह, वैदिक परम्परा के वेदों को प्रमाण मानने में भी हमें कोई आपत्ति नहीं (बशर्ते सम्यक्त्व व व्रतों के विरूद्ध कोई तथ्य प्रमाण रूप में मान्य नहीं हैं)।

जैनाचार्य नेमिचन्द्र (सिद्धान्तचक्रवर्ती)

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो॥

(गोम्मटसार, कर्मकाण्ड-895)

– अन्य सिद्धान्तों के कथन इसलिए मिथ्या हैं क्योंकि वे अपने को सर्वथा सत्य– 'सभी दृष्टियों से सत्य' घोषित करते हैं। किन्तु यदि वे स्वयं को 'किसी दृष्टि-विशेष' से सत्य कहें तो जैनों के लिए वे समीचीन हैं।

निष्कर्षः

उपर्युक्त समग्र निरूपण के परिप्रेक्ष्य में निश्चय के साथ यह कहा जा सकता है कि वैदिक व जैन दोनों ही अपनी-अपनी मौलिक अवधारणाओं के पृथक्-पृथक् होते हुए भी सांस्कृतिक एकसूत्रता में अनुस्यूत हैं और इसलिए उनमें पर्याप्त साम्य भी दृष्टिगोचर होता है। सत्य एक है, जो दोनों धर्मों के साहित्य में प्रतिबिम्बित हो रहा है।

जैन धर्म एवं वैदिक धर्म की सांस्कृतिक एकता

(एक सिंहावलोकन)

(द्वितीय खण्ड)

जैन व वैदिक कथाओं में एकता का स्वर

दया : धर्म का मूल है

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

संत कवि तुलसीदास ने कहा–

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छांड़िए, जब तक घट में प्रान॥

धर्म का मूल दया है। दयारहित धर्म 'धर्म' नहीं हो सकता है। दया हृदय की कोमलता और मृदुता की पहचान है। मृदु हृदय से दया का उत्स फूटता है। महान् नीतिज्ञ चाणक्य ने कहा–**"दया धर्मस्य जन्मभूमिः।"** दया ही धर्म की जन्मभूमि है।

सन्त मलूकदास ने दया के बिना सभी तीर्थों को असत्य घोषित करते हुए कहा था–

मक्का मदीना द्वारिका, बद्री और केदार।
बिना दया सब झूठ है, कहे मलूक विचार॥

दया का एक अन्य पर्यायवाची शब्द है– अनुकम्पा। इस शब्द में दया का सम्पूर्ण भाव निहित है। अनुकम्पा का अर्थ है– कंपित को देखकर कंपित होना। दुःखी के दुःख से दुःखित हो जाना ही अनुकम्पा है। पीड़ित या कष्ट-कवलित को देखकर जो दयार्द्र नहीं होता अथवा उसका कष्ट हरने के लिए लालायित नहीं होता, वस्तुतः वह न तो धार्मिक है और न ही उसे मनुष्य होने का अधिकार है। सच्चे अर्थों में दयालु तो वह है जो अपने

हित-अहित पर किंचित् मात्र भी विचार न करता हुआ कष्ट-कवलित प्राणी को सम्मुख पाकर उसका कष्ट हरने के लिए उद्यत हो जाता है। ऐसा व्यक्ति त्रिकाल और त्रिलोक में कीर्तित और वन्दित होता है।

भारतीय संस्कृति के जो भी मौलिक सिद्धान्त हैं, उनमें दया, करुणा, व अनुकम्पा का महनीय स्थान है। भारतीय संस्कृति की दोनों धाराओं– वैदिक व श्रमण (जैन व बौद्ध) परम्परा में 'दया' को 'अहिंसा' का एक व्यावहारिक रूप स्वीकारते हुए इसे अनिवार्य सामाजिक कर्तव्य के रूप में निरूपित किया गया है। चूंकि सभी जीव जीना चाहते हैं, सभी जीवों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, इसलिए अहिंसा और उसके दया आदि व्यावहारिक रूपों को एक सार्वभौमिक मानवीय धर्म/ नैतिक कर्तव्य के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित करने का प्रयास सभी धर्मों में हुआ है।

भगवान् महावीर ने कहा था– **'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा'** (आचारांग- 1/2/3/78)- अर्थात् सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, वे सुख चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते। भगवान् बुद्ध ने भी इसी विचार को अभिव्यक्त किया– **सुखकामानि भूतानि, सब्वेसिं जीवितं पियं** (धम्मपद, 10/3) अर्थात् सभी प्राणी जीना चाहते हैं और उन्हें सुख प्रिय होता है।

वैदिक परम्परा का भी यह स्पष्ट अभिमत रहा है–

न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिद् भूतेषु निश्चितम्।
अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत॥

(महाभा. 11/7/27)

-अपनी आत्मा से बढ़कर प्राणियों को कोई दूसरी वस्तु प्रिय नहीं है। मृत्यु किसी को इष्ट नहीं है। महाभारत में ही अन्यत्र कहा गया है– **दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्** (महाभा. 12/139/62)- अर्थात् दुःख से सभी घबड़ाते हैं, सभी को सुख अभीष्ट है। इसी वैचारिक पृष्ठभूमि को आगे बढ़ाते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा– **अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये** (सुत्तनिपात, 3/37/2) अर्थात् सब प्राणियों को अपने जैसा समझ कर न स्वयं किसी का वध करे और न ही दूसरों से वध कराये। प्राणियों को आत्मवत् समझने वाले विवेकशील प्राणी की प्रवृत्ति में दया, करुणा, अहिंसा

स्वतः अन्तर्निहित होती हैं। वैदिक परम्परा के पुरोधा मनीषियों ने इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए कहा– **आत्मवत् वर्तनं यत् स्यात्, सा दया परिकीर्तिता** (भविष्यपुराण, 1/2/158) अर्थात् अपने जैसा बर्ताव करना 'दया' है। कूर्मपुराण (2/15/31) तथा पद्मपुराण (3/54/29) आदि में भी यही भाव प्रकट किया गया है। एक वैदिक पुराण में 'दया' की जगह 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग किया है– **आत्मवत् सर्वभूतेषु यो हिताय प्रवर्तते। अहिंसैषा समाख्याता वेदसंविहिता च य॥** (स्कन्द पुराण - 162/55/15) अर्थात् प्राणियों को आत्मवत् समझकर एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी के प्रति की जाने वाली हितकारी प्रवृत्ति को 'अहिंसा' कहते हैं जो वेद-समर्थित है। जैन परम्परा के महान् आचार्य हेमचन्द्र ने इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया है–

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
चिन्तयन् आत्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत्॥

(हैम. योगशास्त्र-2/20)

-सभी प्राणियों को आत्मवत् समझते हुए, ऐसा चिन्तन करे कि मेरी तरह अन्य प्राणियों को भी सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। इस विचारधारा को अपनाते हुए किसी भी अन्य प्राणी की हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

भगवान् महावीर ने कहा- **मा हणे पाणिणो पाणे** (उत्तरा. सू. 6/7)-किसी भी प्राणी को मत मारो। वैदिक ऋषि की भी उद्घोषणा है- **मा हिंस्यात् सर्वभूतानि** (यजुर्वेद 13/47)। प्रायः यही शब्द और भाव महाभारत में प्रकट किये गए हैं– **न हिंस्यात् सर्वभूतानि** (महाभा. 12/278/5)। तात्पर्य है कि सभी प्राणी अवध्य हैं।

'दया' अहिंसा का ही एक विशिष्ट रूप है। इसलिए भारतीय संस्कृति में इसे मौलिक स्वतंत्र धर्म के रूप में व्याख्यायित किया गया है। वैदिक परम्परा में माना गयाः- **दयेति मुनयः प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्** (कूर्मपु. 2/15/31, पद्मपु. 3/54/29)। अर्थात् मुनियों ने दया को धर्म का साक्षात् (प्रमुखरूप से) लक्षण माना है। जैन परम्परा ने भी इसी स्वर का उद्घोष करते हुए कहा- **धम्मो दयाविसुद्धो** (बोधप्राभृत. 28) अर्थात् धर्म की शुद्धता है– दया। आचार्य उमास्वाति के मत में

*'**धर्मस्य दया मूलं**' (प्रशमरतिप्रकरण, 168)-धर्म का मूल 'दया' है। बौद्ध परम्परा में भी इसे महनीय स्थान प्राप्त हुआ है। बौद्ध साहित्य में कहा गया है– **सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः** (बुद्धचरित, 9/10)- अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति दया भाव ही 'धर्म' है।*

उक्त भारतीय सांस्कृतिक विचारधारा की पृष्ठभूमि में वैदिक व जैन- इन दो परम्पराओं में प्रत्येक से सम्बद्ध एक-एक कथानक यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैन व वैदिक– इन दो संस्कृतियों में प्राप्त एकसमान चरित्र और करुणा का एकसदृश स्थान दोनों संस्कृतियों की एकात्मकता-एकरसता और एकस्वरूपता को सिद्ध करते हैं। देखिए– महाराज मेघरथ और महाराज शिवि के एकसदृश कथानक और उनसे टपकता दया का अमृत भाव।

[१]
राजा मेघरथ
(जैन)

अतीव प्राचीन समय में पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी। वहां पर राजा धर्मरथ राज्य करते थे। धर्मरथ न्यायशील और प्रजावत्सल राजा थे। उनके दो पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम मेघरथ और छोटे का नाम दृढ़रथ था। आयु के तृतीय चरण में राजा धर्मरथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र मेघरथ को राज्य-भार सोंप दिया। वे आत्मकल्याण के लिए मुनि बनकर साधनारत हो गए।

मेघरथ ने कुशलता से राज्य संचालन किया। वे स्वयं को शासक नहीं, अपितु शासितों का सेवक मानते थे। धन-धान्य की दृष्टि से उन का राज्य सम्पन्न बन गया था। राजा मेघरथ महान् न्यायशील और करूणा के अवतार माने जाते थे। उनके राज्य में शेर और गाय एक घाट पर पानी पीते थे।

एक बार स्वर्गलोक में देव-सभा जुड़ी थी। देवराज इन्द्र ने राजा मेघरथ की न्यायशीलता और करुणाशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक देवता को धरती के साधारण मानव की यह प्रशंसा पसन्द न आई। उसने घोषणा की– मैं मेघरथ को करूणा के मार्ग से भ्रष्ट कर दूंगा।

देवता धरती पर आया। उसने देवमाया के दो रूप बनाए एक कबूतर का और दूसरा बाज़ का। महाराज मेघरथ अपने दरबार में बैठे थे। वे किसी विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार कर रहे थे। सहसा उनकी गोद में एक कबूतर आकर गिरा। कबूतर भय से कांप रहा था। उसकी आंखों में प्राण-रक्षा की प्रार्थना थी। करूणा के देवता मेघरथ ने कबूतर की आंखों की भाषा पढ़ ली। उन्होंने अत्यन्त प्रेम से उसे सहलाते हुए कहा—"धैर्य धरो पक्षी! भय को भूल जाओ। तुम उचित शरण में आ गए हो। तुम मेरे शरणागत हो। और मैं शरणागत की रक्षा प्राण देकर भी करता हूं।"

कबूतर आश्वस्त हो गया। उसी क्षण धड़धड़ाता हुआ बाज़ दरबार में आया। उसकी आंखों में खून था। उसने मनुष्य की भाषा में कहा—"राजन्! यह कबूतर मेरा शिकार है। यह मुझे दे दीजिए। मैं कई दिनों का भूखा हूं। इसे खाकर अपनी क्षुधा शान्त करूंगा।"

मेघरथ बोले—"पक्षिराज! यदि यह तुम्हारा शिकार है तो मेरा शरणागत भी है। और किसी भी प्राणी पर भक्षक की अपेक्षा रक्षक का अधिक अधिकार होता है।" रही तुम्हारी भूख की बात। मेरी पाकशाला में विभिन्न खाद्य पदार्थ तैयार हैं। तुम भरपेट भोजन कर सकते हो।

"मैं मांसाहारी पक्षी हूं।" बाज़ बोला—"मांस ही मेरा भोजन है। क्या तुम्हारी पाकशाला में मांस पकता है?"

"नहीं!" मेघरथ बोले – "मेरी पाकशाला में मांस नहीं पकता।"

"मुझे मांस चाहिए।" बाज़ ने दृढ़ता से कहा—"कबूतर के तौल का मांस! यदि मुझे न मिला तो मैं मर जाऊंगा। आप ने मेरा भोजन छीना है। अब आप ही उसका प्रबंध कीजिए।"

मेघरथ धर्मसंकट में फंस गए। मांस का प्रबन्ध! किसी के मांस की तो वे कल्पना ही नहीं कर सकते थे। उन्होंने सोचा। बहुत सोचा। अन्ततः उन्होंने समस्या का हल प्राप्त हो गया। वे बोले– "मैं अपना मांस तुम्हें दूंगा!"

"मुझे स्वीकार है।" बाज ने कहा।

दरबारी जन बाज की धृष्टता पर क्रोधित हो उठे। वे उसे मारने को लपके। लेकिन मेघरथ ने दृढ़ता से सभी दरबारियों को शान्त कर दिया। उन्होंने अनुचरों को आदेश दिया कि छुरी और तराजू दरबार में लाए जाएं।

राजाज्ञा का अनुचरों ने अमन से पालन किया। राजा मेघरथ ने एक पलड़े में कबूतर को रख दिया। वे अपनी देह का मांस काट-काट कर तराजू के दूसरे पलड़े में रखने लगे। प्रजा और राजपरिवार में हाहाकार मच गया। देवलोक के देवता अदृश्य रूप से सांस साधे देवलोक की पराजय और धरती की जय को देख रहे थे। समय स्तंभित हो ठहर-सा गया था।

आश्चर्य! बहुत सा मांस तराजू पर रख देने पर भी कबूतर का पलड़ा हिला तक नहीं। महाराज मेघरथ उठे और कबूतर के समानान्तर पलड़े में बैठ गए।

बाज़ रूपी देव का हृदय हिल उठा। आकाश में देवगणों ने पुष्प वर्षा करके मेघरथ की करुणा की जयजयकार की। देवमाया सिमट चुकी थी। परीक्षक देव मेघरथ के चरणों में गिरकर क्षमा मांग रहा था।

यह है जैन कथा साहित्य के पृष्ठों पर अंकित एक ऐसा चरित्र जो करुणा के देवता मेघरथ की महानता का यशोगान उच्च-स्वर से कर रहा है। *[त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित से]* ❑❑

[2]

महाराजा शिवि

(वैदिक)

राजा शिवि भगवद्भक्त और शरणागतवत्सल राजा थे। उनकी ख्याति धरती से आकाश तक फैली हुई थी। एक बार देवराज इन्द्र ने शिवि की परीक्षा लेने का विचार किया। उन्होंने अग्निदेव को इस कार्य में अपना सहायक बनाया। इन्द्र ने बाज़ का रूप बनाया और अग्निदेव कबूतर बने। बाज़ रूपी इन्द्र कबूतर रूपी अग्निदेव पर झपटे। भयाकुल कबूतर मृत्यु से बचने के लिए आकाश में ऊंची-नीची उड़ानें भर रहा था। महाराजा शिवि अपने दरबार में बैठे राजकाज में व्यस्त थे। उसी समय वह कबूतर उनकी गोद में आकर गिरा। उसके नेत्रों में मृत्यु के भय की परछाइयां तैर रही थीं। उसे देखकर शिवि करुणार्द्र हो उठे। उन्होनें प्रेमपूर्ण स्वर में कबूतर को

सान्त्वना दी– ''धैर्य धारण करो पक्षी! भय को भूल जाओ! तुम मेरे शरणागत हो! और शिवि का शरणागत सदैव अभय होता है।''

कुछ देर बाद बाज़ दरबार में आया। कबूतर को शिवि की गोद में देखकर बाज़ बोला–''महाराज! यह कबूतर मेरा आहार है। आप तो बड़े न्यायप्रिय हैं। करुणाशील हैं। मैं बहुत भूखा हूं। मेरे साथ न्याय कीजिए। मेरा आहार मुझे लौटा दीजिए।''

राजा शिवि बोले–''बाज़! जो मनुष्य समर्थ होते हुए भी शरणागत की रक्षा नहीं करते या लोभ अथवा भय से उसे त्याग देते हैं उन्हें ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है। मैं इस महापाप का आधार नहीं बनना चाहता हूं। तुम भूखे हो तो तुम्हें भोजन अवश्य मिलेगा।''

बाज़ ने कहा–''राजन्! मैं मांसाहारी पक्षी हूं। मुझे मांस चाहिए। ताजा मांस! क्या आप ताज़े मांस का प्रबन्ध कर सकते हैं?''

''क्यों नहीं, अवश्य!'' शिवि बोले–''मैं शरणागत धर्म की रक्षा के लिए तुम्हें अपने शरीर का मांस दूंगा। मेरा यह नश्वर शरीर यदि किसी की रक्षा के हित व्यय होता है तो इससे बढ़कर मेरे लिए अन्य कोई प्रसन्नता नहीं हो सकती है। कहो, क्या तुम्हें मेरे शरीर का मांस स्वीकार्य है?''

''मुझे स्वीकार है।'' बाज़ बोला–''आप कबूतर के वजन का मांस मुझे दीजिए। मुझे अधिक नहीं चाहिए।'' महाराज शिवि ने एक तराजू मंगाया। एक पलड़े में उन्होंने कबूतर को रख दिया और दूसरे पलड़े में वे अपने शरीर का मांस तलवार से काट-काट कर रखने लगे। लेकिन देव-माया के कारण कबूतर का वजन बढ़ता चला गया। बहुत-सा मांस रखने पर भी कबूतर का पलड़ा अपने स्थान से नहीं हिला।

महाराज शिवि ने देह के ममत्व को पूर्णतया त्याग दिया। वे उठे और कबूतर के वजन को पूर्ण करने के लिए दूसरे पलड़े में स्वयं बैठ गए।

एकाएक दृश्य बदल गया। आकाश में देव-दुंदुभियां बजने लगीं। महाराज शिवि की करुणा, न्याय और शरणागतवत्सलता की जय-जयकार करते हुए देवगण आकाश से धरती पर उतर आए। इन्द्र और अग्निदेव ने अपने रूप में प्रगट होकर शिवि के चरण पकड़ लिए। देवराज

बोले— "राजन्! आपकी महिमा अकथ्य है। आप संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप परमपद के अधिकारी हैं।"

इस प्रकार महाराज शिवि की स्तुतियां करते हुए देवराज इन्द्र देव-परिवार सहित अपने लोक को लौट गए।

OOO

'अहिंसा परमो धर्मः'— यह भारतीय संस्कृति का उद्घोष रहा है। अहिंसा धर्म का ही विशिष्ट रूप 'दया' है। यहां (ऊपर) प्रस्तुत दोनों कथानक मूलतः भारतीय संस्कृति के इसी सनातन धर्म 'दया' की महनीयता को रेखांकित करते हैं। प्राणि-दया हेतु अपना प्राण भी न्योछावर करना पड़े तो निःसंकोच करना चाहिए— यह दोनों कथानकों में अन्तर्निहित तथ्य समान है।

महाराज मेघरथ का कथानक जैन परम्परा से उद्धृत है। दयामूर्ति महाराज शिवि की कथा वैदिक परम्परा में प्रसिद्ध है। महाभारत के वनपर्व के 197-198 अध्यायों में इस कथा का निरूपण है। इसी श्रेणी के एक अन्य दयाशील राजा उशीनर की कथा भी वनपर्व के 13 वें अध्याय में वर्णित है। वैदिक परम्परा में महाराज शिवि, तो दूसरी तरफ जैन परम्परा के महाराज मेघरथ— दोनों ने ही प्राणि-दया का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया है। अतः ये कथानक यह प्रेरणा देते हैं कि अपने प्राणों की भी परवाह न करते हुए अन्य प्राणियों के प्रति दया व करुणा का व्यवहार करना चाहिए।

दोनों कथानकों के पात्रों के नामों पर ध्यान न दें तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही कथा के दो संस्करण

प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रसंग में इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता है कि वैदिक व जैन– दोनों ही संस्कृतियों में एक से दूसरी में कथानकों का आदान-प्रदान होता रहा है। प्रत्येक संस्कृति के पुरोधा आचार्यों/मनीषियों/चिन्तकों व साहित्यकारों ने उक्त आदान-प्रदान में अपनी रुचि इसलिए दिखाई कि वे उक्त कथानकों में भारतीय संस्कृति की उन मौलिक उदात्त भावनाओं को प्रतिबिम्बित होता देख रहे थे जो उक्त दोनों संस्कृतियों में एक साझी विरासत के रूप में चिर काल से चली आ रही थीं। किस संस्कृति या विचारधारा ने किस अन्य संस्कृति या विचारधारा से कथानक लेकर उसे अपने अनुरूप ढाला– यह जानना बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि दोनों विचारधाराओं की किस चिरन्तन सत्य या आदर्श सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार में रुचि रही है– इसे हम जानें– समझें और जीवन में उसे क्रियान्वित करें। साथ ही इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि दोनों ही कथानक अपनी-अपनी परम्परा में सत्य व ऐतिहासिक हों।

●

अहिंसा परमो धर्मः

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

अहिंसा इस जगत् का सर्वप्रथम और सर्वोच्च धर्म है। जगत् के समस्त प्राणियों के प्राणों को अपने प्राणों के समान प्रिय मानकर उनकी रक्षा करना अहिंसा है। भगवान् महावीर ने अहिंसा का अंतर्दर्शन प्रगट करते हुए हिंसा न करने का निर्देश दिया था—

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।

(सूत्रकृ. 1/4/10)

ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करें।

अहिंसासमयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥

(सूत्रकृ. 1/11/10)

अहिंसा एक सिद्धान्त है, यह समता ही है— इतना भर जान लेना चाहिए।

वैदिक परम्परा का ऋषि भी 'अहिंसा' की कर्तव्यता का निर्देश करते हुए कहता है— **मा हिंस्यात् सर्वभूतानि** (यजुर्वेद 13/47) अर्थात् सभी प्राणी अवध्य हैं।

बौद्ध परम्परा ने भी उक्त भावना का समर्थन करते हुए कहा—

अहिंसा सव्वपाणानं अरियो ति पवुच्चति (धम्मपद, 19/15) अर्थात् 'अहिंसा' को एक आर्य (श्रेष्ठतम) धर्म के रूप में स्वीकृत किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि समग्र भारतीय संस्कृति ने अहिंसा को परम धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसी दृष्टि से जैन व वैदिक– दोनों संस्कृतियों में भी इसे महनीय स्थान प्राप्त हुआ। महाभारत के प्रणेता वेदव्यास ने कहा था–

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं, यतो धर्मः प्रवर्तते॥

(म.भा. 13/115/23)

–अहिंसा परम धर्म है। अहिंसा परम तप है। अहिंसा परम सत्य है। क्योंकि अहिंसा से ही धर्म प्रवर्तित होता है।

जैन परम्परा में भी इसी तरह के भाव प्रकट करते हुए अहिंसा को परम धर्म के रूप में मान्यता दी गई है–

अहिंसा परमो धर्मः (लाटी संहिता, श्रावकाचार संग्रह-3/1)।

इस दृष्टि से जैन पुराणकार ने व्यावहारिक अनिवार्य हिंसा-जनित दोषों की विशुद्धि के लिए, मैत्री-करुणा आदि सद्भावनाओं से पोषित अहिंसक आचरण को महत्त्वपूर्ण माना है (द्र. आदिपुराण- 39/143-148)।

अहिंसा की जन्मदात्री करुणा है। कोमल हृदय करुणा का उत्पत्तिस्थान है। हृदय की कोमलता जब इतनी विस्तृत हो जाए कि उसमें स्वार्थ के झाड़-झंखाड़ों के लिए कोई स्थान न बचे तो करुणा के फूल सम्पूर्ण सुगंध के साथ महक उठते हैं। वह हृदय उन फूलों की सुवास से सारे जगत् को सुवासित करने को बाध्य हो जाता है। समस्त प्राण उसे अपनी धड़कन प्रतीत होने लगते हैं। अहिंसा प्रयत्नसाध्य नहीं है, वह तो हृदय की विवशता है। फिर बेशक उसके लिए मनुष्य को अपने ही अनायास-प्राप्त सुखों को ही क्यों न ठुकरा देना पड़े।

'करुणा' की महनीयता को जैन, बौद्ध व वैदिक-सभी परम्पराओं में एक स्वर में स्वीकारा गया है। महाभारत-प्रणेता महर्षि वेदव्यास ने कहा– **अनुक्रोशो हि साधूनां सुमहद् धर्मलक्षणम्** (महाभा. 13/5/23)- अर्थात् अनुकम्पा, सज्जनों का महनीय धर्म है। बौद्ध साहित्य तो करुणा के यशोगानों से भरा हुआ है (द्रष्टव्यः सुत्तनिपात- मेत्तसुत्त आदि)।

कुछ उद्धरण यहां उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

यस्स पाणे दया नत्थि, तं जञ्ञा वसलो इति। *(सुत्तनि. 1/7/2)*

—जिसके मन में दया (करुणा) नहीं, उसे शूद्र (वृषल) समझना चाहिए। बौद्ध साहित्य 'विसुद्धिमग्ग' में कहा गया है कि विरोधी पर भी करुणा करनी चाहिए।

'करुणा' के स्वरूप विषय में भी सभी विचारधाराएं एकमत दृष्टिगोचर होती हैं। विसुद्धिमग्ग (बौद्ध साहित्य) में 'दूसरों को दुःख को देख कर हृदय के अनुकम्पित होने' को 'करुणा' बताया गया है। जैन आचार्य हेमचन्द्र का भी यही अभिमत है—

दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते॥

(हैमयोगशास्त्र 4/120)

—दीन, पीड़ित, भयभीत, एवं जीवन की याचना करने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की भावना को 'करुणा' कहा जाता है।

इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में, जैन व वैदिक— इन दो परम्पराओं में प्रत्येक से सम्बद्ध एक-एक कथानक यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

भगवान् श्री अरिष्टनेमि तथा शबरी ने अपने हृदय की करुणा के समक्ष विवश होकर अपनी-अपनी प्रसन्नताओं को तिलांजलि देकर मूक जीवों के प्राणों की रक्षा की तथा स्वयं वन का मार्ग चुन लिया। दोनों कथाओं की समानता व एकस्वरता मननीय है।

[१]

भगवान् अरिष्टनेमि

(जैन)

भगवान् श्री अरिष्टनेमि जैन जगत् के बाईसवें तीर्थंकर थे। शौरीपुर-नरेश समुद्रविजय उनके पिता थे। उनकी माता का नाम शिवा था। समुद्रविजय के लघुभ्राता वसुदेव थे। श्रीकृष्ण और बलराम वसुदेव के पुत्र थे।

अरिष्टनेमि सांसारिक मोह-ममत्व से ऊपर थे। युवा होने पर भी उन्होंने विवाह नहीं किया। माता शिवा और पिता समुद्रविजय पुत्र की इस विरक्ति से विह्वल थे। वे चाहते थे कि उनका पुत्र विवाह रचाए और राज्य

संभाले। लेकिन अरिष्टनेमि के हृदय में न तो राज्य की कामना थी और न ही भोगेच्छा। साधना के मार्ग पर बढ़ने के लिए वे उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे।

माता शिवादेवी ने अरिष्टनेमि में सांसारिक आकर्षण उत्पन्न करने का दायित्व श्रीकृष्ण को सोंपा। श्रीकृष्ण ने यह दायित्व अपनी रानी सत्यभामा को सोंप दिया। सत्यभामा ने वाग्जाल में उलझा कर कुमार अरिष्टनेमि से विवाह की स्वीकृति ले ली।

श्रीकृष्ण ने यह सुसंवाद माता-शिवादेवी को सुनाया। शिवादेवी का मातृहृदय प्रसन्नताओं से चहक उठा। श्रीकृष्ण ने जूनागढ़-नरेश उग्रसेन से उनकी पुत्री राजुल का हाथ अपने भाई अरिष्टनेमि के लिए मांगा। उग्रसेन ने श्रीकृष्ण की याचना को स्वीकार कर लिया। राजुल ने कुमार अरिष्टनेमि को मन ही मन अपना पति स्वीकार कर लिया।

श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह की तैयारियां कराईं। सुनिश्चित शुभ मुहूर्त्त में यादवों की बारात जूनागढ़ के लिए प्रस्थित हुई। बारात में असंख्य यादवकुमार सम्मिलित हुए थे। इस अभूतपूर्व बारात का नेतृत्व स्वयं वासुदेव श्रीकृष्ण कर रहे थे। आकाश में देवताओं के समूह एकत्र थे। इस बारात को देखने के लिए दुलहे के रूप में कुमार अरिष्टनेमि एक विशाल और सुसज्जित भव्य रथ पर सवार थे। बाजे बज रहे थे। मस्त यादव हुंकारें भर रहे थे।

बारात जूनागढ़ के द्वार तक पहुंची। तोरण द्वारों में यादवों के घोड़े और रथ प्रवेश कर रहे थे। स्वयं को सहेलियों में छिपाती हुई राजुल भी अरिष्टनेमि की एक झलक पाने के लिए एक अट्टालिका के झरोखे में आकर खड़ी हो गई थी। भारी कोलाहल था। कोलाहल को चीरती हुईं कुछ करुण आवाजें कुमार अरिष्टनेमि के कानों में पड़ीं। अरिष्टनेमि के लिए शेष कोलाहल थम गया, केवल करुण चीत्कारें वे सुनने लगे। उनका करुणा रस से भीगा हृदय हिल गया। उन्होंने रथचालक से कहा–"रथ रोक लो, सारथि! इन करुण चीत्कारों का क्या रहस्य है, मुझे बताओ।"

"मांसाहारी यादवकुमारों के लिए मूक पशुओं को बाड़े में बन्द किया गया है।" सारथी ने उत्तर दिया– "मृत्यु-भय से कांपते उन्हीं पशुओं की चीत्कारें आप सुन रहे हैं कुमार।"

"मेरी शादी और हजारों की बरबादी!" अरिष्टनेमि ने सोचा – "नहीं यह नहीं होगा। मैं यह शादी नहीं करूंगा।" "सारथि! इस बाड़े में बन्द सभी पशु-पक्षियों को मुक्त कर दो।" कुमार ने आदेश दिया।

सारथी ने अरिष्टनेमि के आदेश का पालन किया। वह पुनः रथ पर आ बैठा। अरिष्टनेमि बोले– "सारथी! रथ को द्वारिका की ओर ले चलो। ऐसे हजारों बाड़े हैं जिन्हें मुझे खोलना होगा। और इसके लिए सांसारिक बन्धनों को तोड़ना होगा।" कहते हुए अरिष्टनेमि ने हाथों पर बन्धे मंगलसूचक कंगनों को तोड़ डाला।

सारथी ने अरिष्टनेमि के आदेश का पालन करते हुए रथ घुमा लिया। रंग में भंग पड़ा देखकर सभी अचंभित हो उठे। राजुल स्तंभित बन गई। महाराज समुद्रविजय, श्रीकृष्ण तथा अन्य बड़े बुजुर्गों ने कुमार अरिष्टनेमि को लाख समझाने का प्रयास किया, परन्तु सब विफल रहा।

उन प्रसन्नताओं को– जिनके लिए सांसारिक जन सर्वस्व न्योछावर करते हैं– अरिष्टनेमि ने अपने हृदय की करुणा और अहिंसा की वेदिका पर न्योछावर कर दिया। उन्होंने साधना का मार्ग चुना। आत्म बोध– केवलज्ञान प्राप्त करके उन्होंने संसार को सत्य का संदेश दिया। हिंसा, अत्याचार, मदिरापान आदि बुराइयों का बहिष्कार किया तथा अहिंसा, सत्य, सदाचार और सादगी का प्रचार और प्रसार किया। लाखों-लाखों भव्यात्माओं के लिए वे कल्याण के महाद्वार बने। *[त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित से]* ❑❑

[२]
करुणामयी शबरी
(वैदिक)

रामायण में शबरी के चरित्र को बहुत सम्मान मिला है। श्रीराम को प्रेम-भक्ति के रस से पगे झूठे बेर खिलाकर वह भारतीय जनमानस के हृदय में अमर हो गई।

शबरी का जन्म निम्न कुल में हुआ था। उसके पिता भील थे।

वे भीलों की एक पल्ली में रहते थे। इस भील समूह को धर्म-कर्म का कुछ ज्ञान न था।

शुभपुण्योदय से शबरी में भगवद्भजन की उत्कण्ठा जगी। वह राम नाम को आधार बनाकर श्रीराम की भक्ति करने लगी। राम-नाम सुमरण से अन्य अनेक मानवीय गुण उसके जीवन में अलंकृत हो गए।

शबरी विवाहयोग्य हुई। एक भील युवक से उसका सम्बन्ध तय हुआ। विवाह में बारात के भोजन के लिए भीलों ने अनेक पशु-पक्षियों को एक विशाल बाड़े में बन्द कर दिया था। बन्धनों में तड़पते वे पशु-पक्षी करुण क्रन्दन कर रहे थे। उनके क्रन्दन की ध्वनि शबरी के कानों में पड़ी। शबरी उस क्रन्दन को सुन न सकी। उसका हृदय करुणा से भर गया।

शबरी ने अपनी सहेली से पूछा– ''इन पशु-पक्षियों को यों बाड़े में बन्द क्यों किया गया है?''

''तुम्हारे लिए आने वाली बारात के भोजन के लिए इन पशु-पक्षियों का मांस पकेगा, सखि! इसीलिए इन्हें बन्दी बनाया गया है।'' सहेली ने शबरी को बताया।

''मेरा घर बसेगा और अनेकों जीवन उजड़ जाएंगे।'' शबरी का चिन्तन जाग उठा–''मेरी शादी और मूक पशुओं की बरबादी! मैं ऐसी शादी नहीं करूंगी। मैं आजन्म कुंआरी रह जाऊंगी पर किसी प्राणी की हत्या का निमित्त नहीं बनूंगी।''

रात्री में शबरी उठी। उसने चुपके से बाड़े का द्वार खोल दिया। पशु-पक्षी स्वतंत्र होकर भाग गए। शबरी भी रातों-रात उस स्थान को छोड़कर दूर निकल गई। वह दण्डकारण्य में पहुंची। वहां एक झोपड़ी बनाकर भगवद्भजन और ऋषियों की सेवा में निमग्न रहने लगी। इसी स्थान पर उसके हृदय की पुकार की डोर से बन्धे श्रीराम उसकी झोपड़ी में आए थे और भक्ति-भाव से प्रदत्त जूठे बेर खाये। शबरी ने अपना शेष जीवन वहीं व्यतीत किया।

OOO

प्राणिमात्र पर 'करुणा' या 'अनुकम्पा' का भाव मानवता की पहचान है। निर्दयता तो व्यक्ति की पशुता या राक्षसी वृत्ति को ही प्रतिबिम्बित करती है। विशेषकर, धार्मिक आराधना में अग्रसर व्यक्ति के लिए तो करुणा-युक्त व अहिंसक होना अत्यन्त आवश्यक है। उक्त वैचारिक स्वर उपर्युक्त दोनों कथानकों में समान रूप से अनुगुंजित हुआ है।

प्रस्तुत कथानकों में से एक में वैदिक परम्परा की शबरी भक्तिमार्ग की पथिक है तो दूसरे में जैन परम्परा के अरिष्टनेमि वीतराग-मार्ग के पथिक हैं। दोनों की ही मंजिल परमपद व मुक्ति प्राप्त करना है।

वैवाहिक जैसे मांगलिक अवसर पर मूक प्राणियों के प्रति करुणार्द्र रहने और प्राणि-रक्षा को महत्त्व देते हुए विवाह से भी विरत हो जाने की जागरूक मानसिक स्थिति को दोनों कथानकों के प्रमुख पात्रों में समानतया देखा जा सकता है। निष्कर्षतः दोनों विचारधाराओं के साझे आदर्श वाक्य **'अहिंसा परमो धर्मः'** को इन दोनों कथानकों में व्याख्यायित किया गया है।

●

सेवा है परम धर्म

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

सेवा परम धर्म है। सेवा धर्म की गहराई की बड़े-बड़े योगीजन भी थाह नहीं पा सके। सेवा धर्म में समर्पित सेवक स्वयं के सुख और प्रसन्नता को विस्मृत करके सेव्य के सुख के लिए आत्मोत्सर्ग तक कर देता है। उसके लिए सेव्य की सेवा ही शेष रह जाती है, शेष अशेष हो जाता है। उसके हृदय की घृणा और ग्लानि सदा-सदा के लिए विनष्ट हो जाती है। उसका स्वत्व सेवा भाव की पुनीत यज्ञ-अग्नि में स्वाहा हो जाता है। सेव्य में ही उसका स्वत्व सिमट जाता है। स्वत्व का परित्याग इस जगत् की सर्वोच्च साधना है। चूंकि सेवा में स्वत्व का परित्याग प्रथम और अनिवार्य शर्त है, इसलिए सेवा धर्म अतिकठिन है। प्रसिद्ध नीतिकार भर्तृहरि ने कहा है–

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

(नीतिशतक, 52)

'सेवा धर्म परम गहन है और योगीजनों के लिए भी यह अगम्य है– अर्थात् इसकी गम्भीरता को वे भी नहीं समझ सकते।' संत कवि तुलसीदास ने भी सेवा को अतिकठिन धर्म बताया है–

अगम निगम प्रसिद्ध पुराना।
सेवा धरमु कठिन जगु जाना॥

प्रसिद्ध साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द ने सेवा को आनन्द का कारण स्वीकृत करते हुए कहा था— सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्‌गम है। सेवा ही वह सीमेंट है जो दम्पति को जीवन-पर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोड़ कर रख सकता है।

भारतीय संस्कृति की अंगभूत जैन व वैदिक— इन दोनों परम्पराओं में सेवा-धर्म की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकारा गया है। सर्वप्रथम वैदिक परम्परा को लें। भागवत पुराण में कहा गया है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं विद्धि तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

(भागवत पु. 8/7/44)

—परोपकारी सज्जन जनता का दुःख दूर करने के लिए स्वयं दुःख उठाते हैं, परन्तु यह दुःख नहीं है क्योंकि उनका परोपकार रूपी कार्य सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की ही आराधना है।

लोकसेवा पूर्णतः परोपकार का कार्य है, इसलिए यह भी ईश्वरीय आराधना का प्रमुख साधन है। विशेषकर, अपने पूज्यों, वृद्धों और श्रद्धेयों की सेवा से तो महान् सुखद लाभ मिलता है। महाभारत में कहा गया है— **वृद्धशुश्रूषया शक्र! पुरुषो लभते महत्** (महाभा. 12/215/34) अर्थात् बड़े- बूढे लोगों की सेवा से महान् लाभ मिलता है। महाभारत में ही अन्यत्र कहा गया है— **मेधावी वृद्धसेवया** (महाभा. 13/149/11), तथा **बुद्धिमान् वृद्धसेवया** (महाभा. 3/313/48)- अर्थात् वृद्धों की सेवा से व्यक्ति मेधावी व बुद्धिमान् होता है। इसी तथ्य को मनुस्मृतिकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते, आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनुस्मृति, 2/121)

—बड़े-बूढ़ों की सेवा एवं उनके प्रति अभिवादन आदि विनय-पूर्ण क्रिया करने वाले व्यक्ति की चार चीजें बढ़ती हैं:— 1. आयु, 2. विद्या, 3. कीर्ति, और 4. शारीरिक व मानसिक बल।

जैन परम्परा में भी सेवा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। सेवा को वैयावृत्त्य नाम से अभिहित करते हुए इसकी महनीयता के

सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश उत्तराध्ययन सूत्र में दिया गया है। वहां एक जिज्ञासु व्यक्ति पूछता है— भंते! वैयावृत्त्य (सेवा) से क्या लाभ होता है? भगवान् ने उत्तर दिया है—

वेयावच्चेणं जीवे तित्थयरनामगोयं कम्मं निबन्धइ ।

(उत्तरा. 29/44)

अर्थात् वैयावृत्त्य (सेवा) से व्यक्ति तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। सेवा की उक्त उपलब्धि इसकी महनीयता को स्वतः रेखांकित करती है। उत्तराध्ययन सूत्र में वृद्ध-सेवा को मोक्ष का मार्ग भी बताया गया है (द्र. उत्तरा. सू. 32/3)। जैन साहित्य में यह भी निरूपित किया गया है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने किसी पूर्वभव में जीवानन्द वैद्य के रूप में एक मुनि तपस्वी की रोगोपचार-सेवा का पुनीत कार्य किया था।

बौद्ध परम्परा के ग्रन्थ धम्मपद में भी वृद्ध-सेवा का फल इस प्रकार बताया गया है:—

अभिवादनसीलिस्स निच्चं बुद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा बड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं॥

(धम्मपद. 8/10)

अर्थात् अभिवादनशील व वृद्धसेवी व्यक्ति, अधिक आयु, कीर्ति, सुख व बल को प्राप्त करता है।

जैन और वैदिक वांग्मय से चुने गए कुछ कथानक यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनमें सेवा का एक जैसा माहात्म्य स्पष्ट निरूपित हुआ है।

[१]
नन्दीषेण मुनि
(जैन)

नन्दीषेण ब्राह्मण-पुत्र थे। पूर्वजन्म के पापों के फलस्वरूप, वे अत्यन्त विरूप/कुरूप थे। सभी उनसे घृणा करते थे। कोई उन से बात तक नहीं करना चाहता था। बचपन में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। वे मामा के यहां रहते थे। वे वहां घर का सारा काम करते तथा दिन भर खेतों पर पशुओं को चराते थे।

एक बार मामा के पुत्रों का विवाह था। नन्दीषेण के हृदय में भी विवाह करने का लोभ जगा। उसने मामा से अपने हृदय की बात कही। मामा ने उसे आश्वस्त कर दिया कि उसकी अपनी सात पुत्रियां हैं, किसी एक से वह उसका विवाह कर देगा।

समय आने पर, मामा की सातों पुत्रियों ने नन्दीषेण से विवाह करने की अपेक्षा आत्महत्या को बेहतर समझा। नन्दीषेण का हृदय टूट गया। उसने आत्महत्या करने की ठान ली। उसने घर छोड़ दिया। एक पर्वत से कूदकर उसने अपनी जीवन-लीला समाप्त करनी चाही। ज्योंही उसने पर्वत से छलांग लगानी चाही, एक मुनि की दृष्टि उस पर पड़ी। मुनि ने मधुर स्वर से उसे पुकारा– 'रूक जाओ वत्स! इस अमूल्य मानव-जीवन को व्यर्थ ही नष्ट मत करो।'

नन्दीषेण के कदम ठिठक गए। पीछे मुड़कर देखा कि शान्त-प्रशान्त एक मुनि उसे पुकार रहे हैं। नन्दीषेण मुनि के पास गया। मुनि ने मनुष्य-जीवन की दुर्लभता का उपदेश देते हुए उसे संयम की महिमा बताई। नन्दीषेण को एक दिशा मिल गई। सही दिशा दशा बदल देती है।

नन्दीषेण ने मुनित्व धारण कर लिया। उन्होंने बेले-बेले पारणा करने का संकल्प लिया। गुरु ने उन्हें सेवाव्रत प्रदान करते हुए कहा– ''नन्दीषेण! सेवा परम मेवा है। सेवा को अपने जीवन का सूत्र बनाओ। अग्लान भाव से की गई सेवा मोक्ष का द्वार है।''

गुरु की सीख को नन्दीषेण ने आत्मसात् कर लिया। वे तन-मन से अग्लान भाव के साथ ग्लान, वृद्ध और रोगी मुनियों की सेवा में तत्पर रहने लगे। उनकी सेवा की महिमा चारों ओर फैलती गई।

एक बार देव-परिषद् में देवराज इन्द्र ने नन्दीषेण मुनि के सेवा भाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक शंकालु देवता को इन्द्र के कथन पर विश्वास न हुआ। उसने नन्दीषेण के सेवाभाव की परीक्षा लेने का निश्चय किया।

देवता धरती पर आया। उसने एक वृद्ध ग्लान मुनि का रूप बनाया और रत्नपुर नगर के बाहर उपवन में लेट गया। वैक्रिय लब्धि से उसने अपना एक अन्य रूप– युवा मुनि का बनाया और नन्दीषेण के पास पहुंचा। नन्दीषेण मुनि अभी बेले का पारणा करने के लिए बैठे ही थे। मुनि

रूपी देव ने कर्कश स्वर में कहा– ''वाह सेवाव्रती नन्दीषेण! एक वृद्ध और रूग्ण मुनि बाहर उपवन में असहाय पड़े हैं और तुम यहां भोजन में मस्त हो! सेवा भाव तो कोई तुमसे सीखे।''

नन्दीषेण शान्त बने रहे। तोड़ा हुआ ग्रास रख दिया। तत्काल खड़े हो गए और उपवन की ओर चल दिए। उपवन में पहुंचकर उन्होंने वृद्ध मुनि की सफाई की। बोले–''आप उपाश्रय में पधारिए! मुझे अपनी सेवा का लाभ दीजिए।'' मुनि रूपी देव कुपित होकर बोला–''तुम्हें दिखता नहीं है कि मैं कितना अशक्त हो चुका हूं। इस स्थिति में मैं एक कदम भी नहीं चल सकता हूं।''

''तो आप मेरे कन्धे पर विराजिए।'' नन्दीषेण ने कहा–''मैं आपको उपाश्रय तक ले चलता हूं।''

अत्यन्त सावधानी और विनयभाव से नन्दीषेण मुनि ने उस वृद्ध मुनि को अपने कन्धे पर बैठाया और उपाश्रय की ओर चल दिए। देवता की परीक्षा अभी पूर्ण नहीं हुई थी। उसने नन्दीषेण के कन्धे पर बैठे हुए ही उनके शरीर को दुर्गन्धमय मल-मूत्र से भर दिया। इस पर भी नन्दीषेण के हृदय में घृणा की एक लहर तक न उठी। देवता नन्दीषेण के मनोभावों का बारीकी से अध्ययन कर रहा था। देवमाया से उसने नन्दीषेण के कदम डगमगा दिए। कन्धे पर से वृद्ध मुनि ने कठोर शब्दों से नन्दीषेण की भर्त्सना करते हुए कहा– ''देखकर क्यों नहीं चलते! अन्धे हो क्या? सेवा के नाम पर तुम मुझे कष्ट दे रहे हो।''

नन्दीषेण ने विनम्र शब्दों में क्षमा मांगी और संभलकर चलने लगे। देव पराजित हो गया। उसने अपना रूप प्रगट कर दिया। महामुनि के चरणों में नत होकर उसने क्षमा मांगी और उनकी सेवा की प्रशंसा करता हुआ अपने स्थान को लौट गया। इस सेवाव्रत ने नन्दीषेण की कुरूपता को जन्म-जन्मान्तरों तक के लिए धो डाला। आयुष्य पूर्ण करके वे देवलोक में गए। वहां से च्यव कर वसुदेव बने। कामदेव के अवतार वसुदेव! जो इतने सुरूप थे कि चौंसठ हजार स्त्रियों ने उन्हें अपना पति माना था। श्रीकृष्ण इन्हीं वसुदेव की पटरानी देवकी के पुत्र थे। *[आवयक चूर्णि आदि से]*

❑❑

[२]
वासुदेव श्रीकृष्ण
(वैदिक)

धृतराष्ट्र के पुत्र-मोह की तलवार ने हस्तिनापुर साम्राज्य को दो खण्डों में विभक्त कर दिया। पाण्डवों को खाण्डवप्रस्थ का भूभाग प्राप्त हुआ। अपने परिश्रम और पराक्रम से पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ नामक सुन्दर नगर बसाया। नगर के मध्य में बना राजमहल अतीव भव्य और चमत्कारिक कलाओं से युक्त था।

महल के उद्‌घाटन/प्रवेश-दिवस पर महाराज युधिष्ठिर ने अनेकों राजाओं महाराजाओं, ऋषियों और पारिवारिक बन्धु-बान्धवों को आमंत्रित किया। वासुदेव श्रीकृष्ण इस समारोह के मुख्य अतिथि थे।

भोज का आयोजन चल रहा था। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के पास आए और बोले–"बड़े भैया! सभी लोग किसी न किसी कार्य में जुटे हुए हैं। मैं खाली हूं। मुझे भी कोई कार्य बताइए।"

"वासुदेव!" युधिष्ठिर ने अत्यन्त विनम्रता और प्रेम से कहा–"आप तो पूज्य हैं। राजाधिराज वासुदेव सम्राट् हैं। आप सिंहासन पर विराजिए। आपके श्रीचरण तो सेव्य हैं।"

युधिष्ठिर का उत्तर सुनकर श्रीकृष्ण सन्तुष्ट नहीं हुए। वे सबकी आंख बचाकर उस स्थान पर पहुंचे जहां पंक्तियों में बैठे ऋषि जन और साधारण जन विराजमान थे। उन्होंजे सभी के चरण धोए। उन्होंने देखा–कोई सब्जी परोस रहा है, कोई रोटी तो कोई मिष्टान्न। सम्पूर्ण कार्य उचित विधि से चल रहा है। तभी उन्होंने देखा– जूठी पत्तलें उठाने वाला वहां कोई नहीं है। फिर क्या था– त्रिखण्डाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण जूठी पत्तलें उठा-उठा कर बाहर यथास्थान डालने लगे।

बहुत समय तक श्रीकृष्ण को न देखकर पाण्डव चिन्तित हुए। उन्हें खोजते हुए वे भोजशाला की ओर आए। श्रीकृष्ण को जूठी पत्तलें उठाते देख कर पाण्डव सन्न रह गए। युधिष्ठिर कुछ बोल न पाए। अर्जुन ने दौड़कर श्रीकृष्ण के चरण पकड़ लिए और बोले–"वासुदेव! आप यह क्या कर रहे हैं? इस कार्य के लिए अन्य अनेक सेवक हैं।"

"अर्जुन! इस मेवे के उपभोग में क्या मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है?" श्रीकृष्ण बोले– "मुझे मेरे भक्तों की पत्तलें उठाते हुए बड़ा आनन्द मिल रहा था। तुमने अनायास उस आनन्द में बाधा उत्पन्न कर दी।"

पांचों पाण्डव भगवान् श्रीकृष्ण की सेवापरायणता– भगवत्ता को अपलक नेत्रों से देखते हुए अभिभूत हो उठे थे। (द्रष्टव्यः महाभारत, सभा पर्व का 35वां अध्याय)

❑❑

[३]
सेवापरायण भक्तिमती शबरी
(वैदिक)

श्रीराम की अनन्य चरणोपासिका शबरी का जन्म अधम कुल में हुआ था। अधम कुल में जन्मी शबरी ने अपने भीतर उत्कृष्ट गुण-समूह को विकसित किया। भारतीय जनमानस में उसकी कीर्ति अमर हो गई।

अपने विवाह के प्रसंग पर निरीह मूक पशुओं की हत्या की कल्पना ने करूणामयी शबरी के हृदय को हिला डाला। रात्री के अन्धकार में शबरी ने गृहत्याग कर दिया। पशुओं को स्वतन्त्र करके वह अलक्ष्य मार्ग पर बढ गई। उसके कदम दण्डकारण्य में रूके। उसने वहां अनेक ऋषि-आश्रम देखे। शबरी ने वहीं रहकर ऋषि-सेवा का व्रत धारण कर लिया। लेकिन वह युग जातीय प्रथा का युग था। अधम कुल में जन्मी शबरी को ऋषि-सेवा का अधिकार न था। शबरी इस बात को भलीभांति जानती थी। अतः उसने गुप्त सेवा करने का निश्चय कर लिया।

अपने आपको अप्रगट रखती हुई शबरी उन मार्गों को साफ करती थी जिनपर ऋषि जन इधर-उधर जाते थे। वह जंगल से सूखी लकड़ियां एकत्रित करके प्रातः अन्धेरे में ही उन्हें ऋषि-आश्रमों के निकट रख देती। उसने अपने सुख को बिसरा दिया और दिन-रात इसी सेवा कर्म में वह तत्पर रहने लगी।

कंटीले रास्तों को निष्कण्टक और कंकर-पत्थर रहित देखकर तथा आश्रम-द्वारों पर समिधा का संग्रह देखकर ऋषि जन आश्चर्यचकित हो

गए। महर्षि मतंग ने इस अदृश्य सेवक का पता लगाने का निर्देश अपने शिष्यों को दिया। शिष्य रात भर जाग कर आश्रम के पास पहरा देने लगे। प्रातः भोर में ही समिधा-संग्रह आश्रम द्वार पर रखती हुई शबरी पकड़ी गई। शिष्य उसे महर्षि मतंग के पास ले गए। भयातुर शबरी ने हाथ जोड़कर ऋषि को साष्टांग प्रणाम करते हुए कहा–

" हे दयासिन्धो! मेरे अपराध को क्षमा कर दो। मैंने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण किया है। अन्य किसी प्रकार की सेवा में अपना अनधिकार समझकर मैंने इस प्रकार की सेवा में ही मन लगाया है। मैं आपकी सेवा के योग्य नहीं हूं। मुझे क्षमा कर दो।"

आत्मतत्त्व को पहचानने वाले महर्षि मतंग ने कहा–"शबरी! तुम महान् भाग्यवती सन्नारी हो। तुम मेरे आश्रम की परिधि में रहकर ही प्रभु नाम का सुमरण करो।" महर्षि ने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि वे शबरी के लिए एक कुटिया और अन्न का प्रबन्ध कर दें। सत्संग श्रवण करती हुई तथा ऋषियों की सेवा करते हुए शबरी सुखपूर्वक समय बिताने लगी। अन्य अनेक ऋषि शबरी को शरण देने के कारण मतंग ऋषि से नाराज हो गए और भोजनादि तो दूर, उन से संभाषण तक का परित्याग कर दिया। मतंग ऋषि ने इसकी परवाह नहीं की।

एक दिन मतंग ऋषि ने परलोक-प्रस्थान की घोषणा की। शबरी का हृदय ज़ार-ज़ार हो उठा। वह रोने लगी। बोली–"नाथ! मुझ चरण-सेविका को भी अपने संग ले चलो। आपके जाने के बाद मुझ भीलनी की क्या गति होगी?"

"महाभागा! आंसू पोंछ।" महर्षि मतंग बोले– "भगवान् श्रीराम दण्डकारण्य में आएंगे। उनके दर्शन करके तेरी आत्मा का सदा सर्वदा के लिए उद्धार हो जाएगा। शोक बन्द कर। उन दीनानाथ को हृदय में धारण करके उनकी प्रतीक्षा कर। अवश्य तेरा कल्याण होगा।" कहकर मतंग ऋषि ने देह छोड़ दिया।

सेवा और श्रीराम की प्रतीक्षा में उद्विग्न शबरी समय बिताने लगी। एक दिन वह तालाब से जल लेकर आ रही थी। उधर से एक ऋषि भी स्नान करके आ रहे थे।

सहसा शबरी का वस्त्र ऋषि को छू गया। ऋषि क्रोध से

पागल हो उठा। उसने शबरी को बुरा-भला कहा और वापिस स्नान करने के लिए तालाब पर गया। तालाब के जल को स्पर्श करते ही तालाब कृमियों से भर गया और जल रूधिर के समान रक्त हो गया। यह सब शबरी के अपमान के कारण हुआ।

फिर एक दिन श्रीराम लक्ष्मण और सीता के साथ दण्डक वन में पधारे। ऋषियों के आग्रह भरे आमंत्रणों को ठुकरा कर श्रीराम सर्वप्रथम शबरी की कुटिया में आए। शबरी का प्राण-प्राण हर्षातिरेक से नृत्य कर उठा। अपने प्रभु राम को शबरी ने बेरों का भोजन कराया। ऋषियों के अहम् गल गए। सभी ने अपनी भूल पर पश्चात्ताप किया।

ऋषियों के निवेदन पर श्री लक्ष्मण जी ने शबरी से कहा कि वह तालाब के जल का स्पर्श करे। शबरी ने वैसा किया तो रूधिर भरा जलाशय पुनः स्वच्छ जल सा बन गया।

सेवा की मूर्ति, भक्तिपरायणा सन्नारी शबरी ने अपने जीवन के श्वास-प्रश्वास को सेवा और रामनाम से जोड़कर देह त्याग किया। उसे परमधाम की प्राप्ति हुई। OOO

वैदिक व जैन– इन दो परम्पराओं से जुड़े तीन कथानक यहां प्रस्तुत किये गये हैं। जैन परम्परा के 'नन्दीषेण मुनि' के कथानक में नन्दीषेण अतिकुरूप और संसार के ठुकराए हुए एक ऐसे युवक थे जिन्होंने आत्महत्या का निर्णय कर लिया था। लेकिन एक संत के निर्देश पर उन्होंने सेवा के कर्म को अपना धर्म बनाया। उनकी ख्याति न केवल त्रिलोक में फैली, बल्कि कुरूप नन्दीषेण से सर्वांगसुन्दर वसुदेव का उद्भव हुआ। (1)वासुदेव श्रीकृष्ण, (2)भक्तिमती शबरी– ये दो कथानक वैदिक परम्परा से उद्धृत हैं। इन दो कथानकों में सेवा के माहात्म्य का समान संगान हुआ है। वैदिक व जैन– इन दो पृथक्-पृथक् परम्पराओं से जुड़े इन तीन कथानकों में एक ही सत्य मुखरित हुआ है। वह है- सेवा से मेवा मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट

प्रमाणित होता है कि वैदिक व जैन - दोनों संस्कृतियों की धाराओं में एक समन्वित महासंस्कृति की जलधारा प्रवाहित हो रही है। दोनों संस्कृतियों का उद्गम-स्रोत एक साझी महासंस्कृति है। इसलिए इन दोनों की विविधता में भी एकता प्रतिबिम्बित हो रही है।

एक बात और महत्त्व की है जो यहां उल्लेखनीय है। दोनों परम्पराओं ने अपनी-अपनी मौलिक अवधारणा को सुरक्षित रखते हुए इस तथ्य को भी रेखांकित करने का प्रयास किया है कि ईश्वर भी सांसारिक व्यवहार में लोकसेवा को प्रमुखता देता है।

यहां दोनों परम्पराओं की मौलिक अवधारणा क्या है– इसे जानना यहां प्रासंगिक है। जैन परम्परा की मौलिक अवधारणा है– उत्तारवाद, और वैदिक परम्परा में अवतारवाद की अवधारणा को मान्य किया गया है। उत्तारवाद के अनुसार, संसारी प्राणी वीतरागता का पथिक होकर, क्रमशः सांसारिक दशा से ऊपर उठकर प्रमुख कर्मों का क्षय करते ही तीर्थंकर या सामान्य सर्वज्ञ दशा को प्राप्त करता हुआ, अंत में परमपद सिद्ध-बुद्ध-मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। सर्वोच्च अवस्था में पहुंचने के बाद, उसे संसार से कुछ लेना-देना नहीं होता। वह संसार में लौट कर पुनः नहीं आता।

लोकसेवा आदि सांसारिक कार्यों को करने का अवसर उन्हें परमात्मा या तीर्थंकर बनने से पूर्व ही प्राप्त होता है। तीर्थंकर के रूप में भी भौतिक देह में रहने तक वे धर्मोपदेश जैसे परम लोककल्याण का कार्य करते हैं। इसके विपरीत, वैदिक परम्परा में मान्यता यह है कि ईश्वर या परमेश्वर संसार-हित की दृष्टि से, विशेष परिस्थिति में पृथ्वी पर अवतरित होता है और अपनी लीला से सांसारिक कार्यों में संलग्न होता हुआ धर्म का रक्षण व संवर्धन करता है और अपना अभीष्ट कार्य संपन्न कर पुनः अपने लोक में चला जाता है।

उपर्युक्त कथानकों में वैदिक परम्परा के श्रीकृष्ण परमात्मा या परमेश्वर के अवतार हैं और वे आदर्श लोकसेवा का उदाहरण

क्रियात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। दूसरी तरफ, जैन परम्परा के नन्दीषेण मुनि, जो परमात्मा बनने की प्रक्रिया में निरन्तर अग्रसर हैं, लोकसेवा का कार्य कर देवताओं में भी चर्चित होते हैं।

वैदिक व श्रमण– दोनों परम्पराओं में अध्यात्म-साधना का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है। उस लक्ष्य को पाने के लिए साधनाभूत अनेक साधनाएं– तप, जप, ध्यान, भक्ति आदि प्रचलित हैं। सेवा भी उनमें एक साधना है। इसीलिए वैदिक परम्परा के शास्त्रों में सेवा को प्रभु की आराधना बताया गया है। उपर्युक्त कथानकों में इसी परम्परा की सेवापरायणा भक्तिमती महासती शबरी का जीवन-चरित वर्णित है जो सेवा व भक्ति का आलम्बन लेकर सद्गति व मुक्ति की प्राप्ति में अग्रसर है। जैन परम्परा भी यह मानती है कि वैयावृत्त्य/सेवा से कर्म-निर्जरा होकर तीर्थंकर (विकल) परमात्मा की अवस्था और अन्त में मुक्ति (सकल/पूर्ण परमात्मा) की स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार दोनों परम्पराएं सेवा-भाव को महत्त्व देने की दृष्टि से परस्पर समान विचारधारा का समर्थन करती हैं– जिसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति उपर्युक्त कथानकों में दृष्टिगोचर होती है। निष्कर्षतः उपर्युक्त सभी कथानक भारतीय संस्कृति में समादृत सेवाधर्म के मौलिक सिद्धान्त को हृदयंगम कराते हैं।

●

क्षमा का उत्कृष्ट आदर्श

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

क्षमा एक विशिष्ट आत्मगुण है। क्षमा को शूरवीरों का आभूषण कहा गया है। अपकारी के प्रति उपकार का भाव क्षमा है। शक्तिसम्पन्न होते हुए निर्बल द्वारा दिए गए कष्ट को सहज शान्त भाव से जी लेना और उसके अहित का विचार तक न करना ही वस्तुतः क्षमा का सही स्वरूप है।

मानव में बदले की प्रवृत्ति होती है। कोई उसे कष्ट दे तो वह बदले में क्रोधित होता है और उसे कष्ट देने के लिए प्रयत्नरत हो जाता है। क्षमा भी एक बदला है। उत्कृष्ट बदला है। क्षमावान् पुरुष को कोई कष्ट देता है तो वह बदले मे कष्टदाता को करुणा देता है उसके हित के प्रति चिन्तित बनता है। क्षमा का माहात्म्य प्रत्येक धर्म-परम्परा में स्वीकार किया गया है। भगवान् महावीर ने क्षमा को आत्मशक्ति का हेतु बताते हुए कहा था–

खन्तीए णं परीसहे जिणइ।

(उत्तरा. 29/46)

–क्षमा से परीषहों (संकटों) पर विजय प्राप्त की जाती है।

आचार्य हेमचन्द्र के मत में संयम रूपी उद्यान को यदि हरा-भरा रखना है तो क्षमा रूपी क्यारी अत्यावश्क है– ***श्रयणीया क्षमैकैव संयमारामसारणिः*** *(हैमयोगशास्त्र. 4/11)। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में क्षमावान् व्यक्ति ही धर्म के मूल 'दया' की साधना कर सकता है–* ***यः***

क्षान्तिपरः, स साधयत्युत्तमं धर्मम् *(प्रशमरति प्रकरण, 168)। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार क्षमा-मंडित मुनि समस्त कर्मों का क्षय करने में सक्षम होता है–* ***पावं खमइ असेसं खमाय पडिमंडिओ य मुणिपवरो*** *(भावपाहुड. 108)। क्षमा-भाव की साधना से भ्रष्ट व्यक्ति अपने क्रोध के कारण वैर-विरोध के वातावरण को बढाता हुआ सभी महाव्रतों व सद्गुणों को विध्वस्त कर देता है (द्रष्टव्यः प्रश्नव्याकरण. 2/2 सू. 123)। तथागत बुद्ध ने क्षमा को परम तप की संज्ञा देते हुए कहा–*

खन्ति परमं तपो तितिक्खा। *(धम्मपद. 14/6)*

–क्षमा (सहिष्णुता) परम तप है। महात्मा बुद्ध का स्पष्ट विचार था–

न हि वेरेण वेराणि सम्मन्तीध कदाचनं।
अवेरेण च सम्मन्ती एस धम्मो सनन्तनो॥ *(धम्मपद. 1/5)*

–वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता। अवैर (क्षमा आदि) से ही वैर शान्त होता हैं– यही शाश्वत नियम है।

वैदिक परम्परा में भी क्षमा को महनीय स्थान दिया गया है। वैदिक ऋषि की स्पष्ट उद्घोषणा है– ***मा विद्विषावहै*** *(तैत्तिरीयोपनिषद्, 8/2)।*

महर्षि वाल्मीकि ने क्षमा को सर्वोच्च पद प्रदान करते हुए उद्घोषणा की–

क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञश्च पुत्रिकाः।
क्षमा यशः क्षमा धर्मः क्षमयाविष्टितं जगत्॥

(वा.रामा. बालकाण्ड 33/9)

–क्षमा ही दान है। क्षमा ही सत्य है। क्षमा ही यज्ञ है। क्षमा ही कीर्ति है। क्षमा ही धर्म है। सारा जगत् क्षमा से ही अधिष्ठित है।

महाभारतकार महर्षि व्यास के शब्दों में क्षमा तेजस्वियों का तेज है और 'ब्रह्म' है– ***क्षमा तेजस्विनां तेजः, क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्*** *(महाभारत, 3/29/40)। क्षमावान् सर्वत्र शान्ति व मैत्री के वातावरण का संवर्धन करता है। इसके विपरीत, वैर से वैर शान्त नहीं होता, अपितु उसी तरह बढता है जैसे घी से आग बढ़ती ही है–* ***न वापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति। हविषाऽग्निर्यथा कृष्ण भूय एवाभिवर्धते*** *(महाभारत, 5/72/63-64)। क्षमा धर्म को प्राणवन्त करने वाले कुछ महान् पुरुषों के जीवन के वे पल यहां चित्रित किए गए हैं जब उन्होंने स्वयं को कष्ट देने*

वालों को न केवल क्षमा किया अपितु उनके कल्याण के लिए भी वे चिन्तातुर बने। विभिन्न संस्कृति-सरिताओं के ये कथानक रूपी जलामृत एक जैसा स्वाद- एक जैसी शीतलता और एक जैसी सुगन्ध रखते हैं। विभिन्न कालों और परम्पराओं में हुए इन महापुरुषों के हृदयतल से उठे एक ही भाव का दर्शन प्रस्तुत घटनाक्रमों के दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है।

[१]
क्षमामूर्ति भगवान् महावीर
(जैन)

भगवान् महावीर क्षमा के अवतार थे। साढ़े बारह वर्ष का उनका साधना-काल असंख्य उपसर्गों और परीषहों से पूर्ण रहा। मनुष्यों, पशुओं और देवों ने उन्हें हृदय-दहला देने वाले कष्ट दिए। इस पर भी करुणा और तितिक्षा के मेरुतुंग वे सदैव अविचल-अडोल रहे। उनके क्षमा-धर्म को मूर्त्तिमन्त करता एक प्रसंग यहां उद्धृत किया जाता है।

भगवान् महावीर केवलज्ञान की साधना में तल्लीन थे। उन दिनों महावीर के धैर्य-वीर्य और शौर्य की गाथाएं धरा और गगन में व्याप्त थीं। देवराज इन्द्र ने एकदा महावीर की अडोल समाधि और उनकी तितिक्षा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा– "समस्त ब्रह्माण्ड की शक्तियां एकत्रित होकर भी महावीर को चलायमान नहीं कर सकतीं।"

संगम नामक देवता को देवराज की बात पर विश्वास नहीं हुआ। उसने कहा– "देवेन्द्र! मनुष्य कितना ही बलशाली क्यों न हो, पर देवशक्ति के समक्ष उसकी शक्ति नगण्य है। मनुष्य देवता से नहीं जीत सकता है।"

"महावीर अनन्त बली हैं।" इन्द्र बोले– "वर्तमान समय में वे साधना रत हैं। अपनी शक्ति का उपयोग वे कैवल्य के सृजन में कर रहे हैं। कैवल्य ही आत्मा का लक्ष्य भी है। संगम! महावीर के के सम्बन्ध में मैंने जितना भी कहा अत्यल्प है। उनका धैर्य और शौर्य अपरम्पार है। उनकी करुणा और क्षमा की महिमा अकथ्य है।"

"मैं महावीर की समाधि को तोड दूंगा।" संगम बोला—
"पार्थिवदेह मानव मुझसे कदापि नहीं जीत सकता। मुझे आज्ञा दीजिए।"

"दुराग्रही देव! तुम भी अपना संशय मिटा लो।" इन्द्र बोले—
"सुमेरू से टकराकर रजकण की जो दशा होती है, वही तुम्हारी भी होगी।"

उन्मादी संगम चल पड़ा महावीर को चलायमान करने के लिए। ग्रहों-नक्षत्रों की गति को भंग करता हुआ, रौद्र रूप लिए वह महावीर के पास पहुंचा। अविचल मौन-शांत समाधिस्थ महावीर पर संगम देव ने घोर उपसर्गों की झड़ी लगा दी। देव शक्ति से उसने दिशाओं को धूल से आच्छादित कर दिया। भयानक आंधी उठी। महावीर के कान-नाक और आंखों में धूल भर गई। इस पर भी वे अविचल रहे। संगम को बड़ा आश्चर्य हुआ।

प्रथम आक्रमण में विफल हो जाने पर संगम ने अत्यधिक क्रोध से भरकर हजारों बिच्छुओं, सर्पों और चूहों की सेना तैयार की। बिच्छुओं ने महावीर की देह पर असंख्य दंश मारे। सर्पों ने अपना विष उनकी देह में उतारा। चूहों ने उनके मांस को कुतर-कुतर कर खाना शुरू कर दिया। महावीर की देह से रक्त की धाराएं बह चलीं। इन असह्य पीड़ा के क्षणों में भी वे शान्त-दान्त व अविचल बने रहे।

संगम महावीर की इस अकंप समाधि को देखकर आश्चर्य से अभिभूत था। उसने क्रोधित होते हुए वज्रदंत हाथी का रूप धारण किया और महावीर को सूंड में लपेटकर आकाश में उछाल दिया। नीचे गिरने पर वह उनकी देह को पैरों से रोंदने लगा। लेकिन वह उनकी समाधि को नहीं तोड़ पाया। पराजय के कगार पर पहुंचा व्यक्ति अपना प्रत्येक प्रयत्न करता है। वही संगम ने किया। शेर-व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओं का रूप बनाकर उस ने प्रभु को नोंचा-खरोसा। भूत-पिशाच का रूप बनाकर क्लेशित किया, परन्तु असफल रहा।

प्रतिकूलताओं में महावीर को अडोल पाकर संगम ने अनुकूलताओं का आश्रय लिया। देवमाया से मौसम को वासन्ती बनाया। देव कन्याओं की विकुर्वणा करके नृत्य-राग-रंग का स्वांग रचा। कामदेव को भी कामोन्मादी बना देने वाले राग-रंग भी महावीर को डोला न सके।

प्रथम दिन संगम देव ने अनेक उपसर्ग उपस्थित किए। लेकिन वह महावीर को विचलित न कर सका। उसने महावीर के विरूद्ध लम्बी लड़ाई लड़ने का निश्चय कर लिया। यह लड़ाई छः माह तक चली। अनगिनत उपायों से संगम ने महावीर की समाधि तोड़ने के यत्न किए लेकिन वह असफल रहा। देव का धैर्य डोल गया। महावीर से पराजय स्वीकार करके वह लौट चला। संगम को लौटते देख महावीर के नेत्रों में आंसू भर आए। संगम ने लौटकर देखा। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने प्रभु से कहा–"भगवान् आपकी आंखों में आंसू क्यों? अब तो आप कष्ट मुक्त हो रहे हैं। मैं जा रहा हूं।"

"तुम्हारे कष्टमय भविष्य को देखकर।" महावीर बोले– "संगम! तुमने इतने आंसू संचित कर लिए हैं कि उन्हें बहाने के लिए कोटिशः जन्म भी कम पड़ेंगे। पीड़ा में डूबे तुम्हारे भविष्य पर दृष्टिपात करके मेरा हृदय द्रवित हो उठा है।"

संगम महावीर के चरणों से लिपट कर रो पड़ा। बोला– "मुझे क्षमा कर दो देवाधिदेव! देवराज का कथन अक्षरशः सत्य था कि आपकी महिमा अकथ्य है। आप महान् हैं। अपरम्पार हैं।" रोता हुआ संगम अपने लोक को लौट गया। ◻◻

[२]
श्रीकृष्ण की क्षमा
(वैदिक)

वासुदेव श्रीकृष्ण जैन और वैदिक– दोनों धाराओं के स्वीकृत महापुरूष हैं। श्रीकृष्ण तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव थे। वे अपूर्व महिमाशाली और अपरिमित बलशाली थे। क्षमा उनकी परम विशिष्टता थी। अपरिमित बलशील होते हुए भी वे सदैव क्षमा की मूर्ति बने रहे। उनके जीवन के अनेक प्रसंगों से उनकी तितिक्षा तथा क्षमाशीलता का परिचय मिलता है। उनकी बिदायगी का पल भी उनकी अपूर्व क्षमा का चित्र प्रस्तुत करता है।

अनेक बार सम्पन्नता के शिखर से दुर्गुणों की सरिता बहती है। यादवों के साथ यही घटा। श्रीकृष्ण के कुशल नेतृत्व की शीतल छाया में यादव कुल ने परमोन्नति की। सम्पन्नता के शिखर चूमे। सम्पन्नता के साथ-

साथ यादवों में विलासिता भी आ गई। द्वारिका में मदिरा का प्रवेश हो गया। यादव मदिरा के प्याले में डूब गए। मदिरा विवेक की शत्रु है। और विवेक का अभाव-अविवेक महाविनाश का द्वार है।

भगवान् श्री अरिष्टनेमि ने उद्घोषणा की कि द्वारिका का विध्वंस मदिरा के कारण होगा। श्रीकृष्ण ने सख्ती से द्वारिका में मदिरा-निषेध की घोषणा कराई। लेकिन भवितव्यता के समक्ष अन्ततः सभी को झुकना पड़ता है। अग्निकुमार देवों में जन्मे द्वीपायन ऋषि ने द्वारिका को भस्म कर डाला। सहस्रों यादव परिवार भयानक आग में जल मरे।

वासुदेव श्रीकृष्ण और बलराम ही इस दावानल से बच सके। वे दोनों द्वारिका को छोड़कर कौशाम्बी वन में पहुंचे। बिर्जन-घने जंगल में पहुंचकर श्रीकृष्ण की थकान बढ़ गई। श्रीकृष्ण जिन्होंने जीवन में कभी थकना नहीं सीखा था, जिन्होंने कंस और जरासन्ध जैसे प्रबल पराक्रमी नरेशों को खेल-खेल में ही पराजित कर दिया था और जो महाभारत जैसे महासंग्राम में निःशस्त्र होते हुए निर्णायक सिद्ध हुए थे, वे आज कुछ ही दूर चलकर थक गए थे। प्यास से उनका कण्ठ सूख गया था। वे एक वटवृक्ष की शीतल छाया में बैठ गए। बलराम से बोले—"दाऊ! मैं बहुत प्यासा हूं। एक कदम चलने की सामर्थ्य मेरे भीतर शेष नहीं है। कहीं से जल का प्रबन्ध करो।"

बलराम ने श्रीकृष्ण को मधुर शब्दों में आश्वस्त किया और जल की तलाश में चल दिए। कुछ दूर एक दिशा में जाकर वे अदृश्य हो गए। श्रीकृष्ण लेट गए। सिर के नीचे एक पत्थर का तकिया लगा लिया। धन, वैभव व ऐश्वर्य की चंचलता पर वे चिन्तन करने लगे। उनके खड़े हुए बाएं पैर पर दायां पैर टिका था। पैर के तलवे में स्थित अनन्त सौभाग्य का सूचक पदम रत्न चमक रहा था। उनकी देह पर उनका प्रिय वस्त्र पीताम्बर था।

जंगल में दूर एक शिकारी—जराकुमार जो श्रीकृष्ण का चचेरा भाई था, शिकार की खोज में भटक रहा था। उसकी दृष्टि वट वृक्ष की छाया में लेटे श्रीकृष्ण पर पड़ी। दूर से उसे लगा कि कोई मृग वट वृक्ष के नीचे बैठा है। पैर का पदम मृग की आंख प्रतीत हो रहा था। पीताम्बर मृग की देह— पीतवर्णी देह ज्ञात हो रही थी। जराकुमार ने पदम का निशाना साधकर बाण छोड़ दिया।

श्रीकृष्ण के मुख-कमल से एक आह निकली। परिचित स्वर सुनकर जराकुमार दौड़कर वटवृक्ष के पास पहुंचा। सत्य से साक्षात् होने पर उसके कदमों के नीचे से धरा सरक गई। उसका हृदय टूक-टूक हो गया। वह दौड़कर श्री कृष्ण के कदमों में गिरकर क्षमा मांगने लगा।

श्रीकृष्ण ने आंखें खोलीं और बोले– "जराकुमार! भवितव्यता को मिटाना असंभव है। मेरी मृत्यु तुम्हारे हाथ होनी थी। लेकिन तुम दाऊ को जानते हो। वे मेरी मृत्यु को कदापि सह नहीं पाएंगे। वे तुम्हें जीवित नहीं छोड़ेंगे। तुम भाग जाओ। दूर जहां दाऊ तुम्हें खोज न पाएं।"

जराकुमार भाग गया। अपने जीवन पर मृत्यु के हस्ताक्षर करने वाले जराकुमार की प्राणरक्षा करके श्रीकृष्ण ने इस जीवन से आंखें मूंद लीं। निकल गए परलोक की यात्रा पर।

स्वयं को मौत देने वाले के प्रति भी करुणा! उसके प्रति भी क्षमा का भाव! यही तो विशेषता होती है महापुरुषों की। श्रीकृष्ण जैसा महनीय व्यक्तित्व फिर इस महागुण से कैसे रिक्त हो सकता था?

□□

[३]
ब्रह्मर्षि वशिष्ठ
(वैदिक)

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ सूर्य वंश के पुरोहित थे। वे काम, क्रोध और मोह के विजेता थे। प्रथमतः वे पुरोहित का पद स्वीकार नहीं करना चाहते

करुणामूर्ति ईसा मसीह

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह थे। ईसा मसीह करुणा की प्रतिमा थे। विरोधी लोगों ने उन पर अनेक अत्याचार किये, उन्हें सताया, दुःखी किया परन्तु ईसा ने उन का बुरा न सोचा। ईसा के जीवन का अन्तिम प्रसंग कितना मार्मिक है, पढ़िये, और स्वयं देखिये वे कितने क्षमावान् थेः—

ईसा मसीह करुणा और प्रेम के देवता थे। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व वे इस धरा पर अवतरित हुए थे। उनके भीतर संचित ईश्वरीय सद्गुणों को देखकर लोगों ने उन्हें परमात्मा का पुत्र माना था। ईसा मसीह ने लोगों को प्रेम का संदेश दिया। उन्होंने कहा– सब मनुष्य उस परमपिता परमात्मा की संतान हैं। जातियों, धर्मों और राष्ट्रों की सीमाएं मनुष्य को बांट नहीं

थे। काम और मोह के विजेता को किसी पद की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु ब्रह्मा जी ने उन्हें समझाया कि सूर्यवंश में श्रीराम अवतरित होंगे, वे उनके गुरु का गौरवशाली पद पाकर कृतार्थ हो जाएंगे, तब वशिष्ठ जी ने इस पद को स्वीकार कर लिया।

एक बार ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी के आश्रम में राजा विश्वामित्र आए। वशिष्ठ जी ने उनका आतिथ्य स्वीकार किया। वशिष्ठ जी ने कामधेनु गौ के प्रभाव से राजा विश्वामित्र और उनकी विशाल सेना का भोजन-पानादि से विशेष सत्कार किया। गौ का यह महान् प्रभाव देखकर विश्वामित्र जी ललचा गए। उन्होंने वशिष्ठ जी से कामधेनु गौ की याचना की। वशिष्ठ जी ने विश्वामित्र की याचना स्वीकार नहीं की।

राजा विश्वामित्र ने कामधेनु गौ के बदले अपार स्वर्ण देने का प्रस्ताव किया। वशिष्ठ जी बोले– "राजन्! ऋषिजन गाय का विक्रय नहीं करते हैं। भले ही उसके बदले में उन्हें सम्पूर्ण धरा का राज्य ही क्यों न मिलता हो।"

सकती हैं। मनुष्यों! अपने अज्ञान और भ्रम को तोड़ो। अपने हृदयों से ईर्ष्या को नष्ट करके वहां प्रेम के फूल खिलाओ। क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है।

ईसा मसीह के इन संदेशों को सुनकर हजारों लोग उनसे प्रभावित हुए और उन्हें ईश्वर का अवतार मानने लगे। ईसा ने इस बढ़ते प्रभाव को देखकर कुछ तथाकथित धार्मिक चिन्तित हो उठे। ईसा को यहूदी धर्म के लिए खतरा मानने लगे। उन्होंने शासकों से ईसा के विरूद्ध शिकायत की। शासकों ने ईसा के प्रचलित रूढ़ परम्पराओं का प्रचार करने के लिए बाध्य किया और निर्देश दिया कि वे सदियों से चली आ रही मान्यताओं का खण्डन न करें। ईसा को को निर्देश देते हुए वे शासक यह भूल गए कि सत्य का परम उपासक प्राण देकर भी असत्य का साक्षी नहीं हो सकता। ईसा सत्य के मार्ग पर डटे रहे। उन्होंने किसी के कहे की चिन्ता न की। वही कहा जो उनके हृदय ने कहा। वही किया जिसे उनकी आत्मा ने स्वीकार किया।

विरोधी बौखला उठे। ईसा को गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें अनेक कष्ट दिए गए। इस पर भी वे अपने सिद्धान्तों पर अटल रहे। उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया।

ईसा मसीह को क्रूस पर लटका दिया गया। कीलों से बिंधे उन के हाथों-पैरों से रक्त-धाराएं बह चलीं। उस क्षण भी प्रेमावतार प्रभु ईसा के अधरों से ये शब्द निकले थे–

Forgive them, Father! They know not what they do.

हे परमपिता ईश्वर! क्षमा कर देना इन लोगों को, क्योंकि ये नहीं जानते हैं कि ये क्या कर रहे हैं। शताब्दियों पर शताब्दियां अतीत के गर्भ में समा गईं परन्तु प्रभु ईसा के ये अन्तिम शब्द आज भी उनकी भगवत्ता का मुखर गान कर रहे हैं। ❑❑

"कामधेनु मुझे चाहिए।" विश्वामित्र ने तेवर बदलते हुए कहा– "आप इसे नहीं देंगे तो मैं इसे छीन लूंगा। राजा प्रजा का स्वामी होता है। प्रजा की प्रत्येक वस्तु पर उसका अधिकार होता है।"

"अपना प्रयास कीजिए!" वशिष्ठ जी बोले। उन्होंने अपने योगबल से एक विशाल सेना तैयार कर दी। विश्वामित्र की सेना वशिष्ठ जी की सेना से युद्ध का साहस न जुटा पाई। विश्वामित्र के अहंकार को चोट लगी। उन्होंने वशिष्ठ जी को पराजित करने का निश्चय कर लिया।"

विश्वामित्र ने घोर तप करके शंकर जी को प्रसन्न कर लिया। उन्होंने शंकर जी से अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये। अब उन्हें विश्वास था कि वे वशिष्ठ जी को परास्त कर देंगे। वे वशिष्ठ जी के पास पहुंचे। वशिष्ठ जी ने अपने ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र को परास्त कर दिया।

विश्वामित्र के जीवन का एकमात्र लक्ष्य शेष रह गया था– वशिष्ठ जी को पराजित करना। उन्होंने घोर तप करके ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। विश्वामित्र जी ने महर्षि वशिष्ठ को अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक कष्ट दिए। वे अकारण उनके जानी दुश्मन बने हुए थे। उन्होंने उनके सौ पुत्रों को मार दिया। इस पर भी वशिष्ठ जी शान्त-दान्त व क्षमामूर्ति बने रहे। उन्हें विश्वामित्र पर तनिक भी क्रोध नहीं आया। बार-बार की पराजय पराजित व्यक्ति के विवेक को नष्ट कर देती है। उसका लक्ष्य शेष रह जाता है– विजय। वह विजय फिर कैसे भी प्राप्त हो। महर्षि विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की हत्या करने का निश्चय कर लिया। पूर्णमासी की रात थी। चांद की चांदनी सृष्टि के कण-कण पर शीतलता बरसा रही थी। परन्तु महर्षि विश्वामित्र का हृदय प्रतिशोध की ज्वालाओं से धधक रहा था। वे महर्षि वशिष्ठ की हत्या करने के लिए चल दिए। महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुंच कर विश्वामित्र ने देखा कि एक स्थान पर वशिष्ठ और उसकी पत्नी बातें कर रहे हैं। विश्वामित्र ने उनका वार्तालाप सुनने का यत्न किया।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ अपनी पत्नी से कह रहे थे– "इस सुन्दर चांदनी रात में तप करके भगवान् को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न तो विश्वामित्र जैसे बड़भागी ऋषि ही करते हैं।"

महर्षि वशिष्ठ के मुख से एकान्त में अपनी प्रशंसा सुनकर विश्वामित्र दंग रह गए। अपने जानी दुश्मन की प्रशंसा! एक ऐसे दुश्मन की

प्रशंसा जो अकारण उनका शत्रु बन बैठा है। जिसने अहंकार के कारण उसके सौ पुत्रों की हत्या कर डाली है। फिर भी वशिष्ठ मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। अब मैं समझा वशिष्ठ जी के ब्रह्मर्षि होने का गुप्त रहस्य। ऐसा विचार करते हुए विश्वामित्र जी ने शस्त्र फेंक दिया। और वे आंसू बहाते हुए वशिष्ठ जी के चरणों पर गिर पड़े और अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगने लगे।

विश्वामित्र के नेत्रों से पश्चात्ताप के आंसुओं की अविरल अश्रुधारा देखकर वशिष्ठ जी ने उन्हें उठाकर छाती से लगाते हुए कहा– "आओ, ब्रह्मर्षि! पश्चात्ताप का जल बड़े-बड़े दुष्कृत्यों को धो डालता है।" वशिष्ठ जी द्वारा ब्रह्मर्षि स्वीकृत कर लिए जाने पर विश्वामित्र जी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

□□

[४]

मातृहृदया द्रौपदी

(वैदिक)

महाभारत के युद्ध में दुर्योधन-पक्ष के सभी बड़े-बड़े योद्धा वीरगति को प्राप्त हो चुके थे। कौरव सेना का अन्तिम सेनापति शल्य भी गिर गया। दुर्योधन पराजय को साक्षात् देखकर हड़बड़ा गया। वह एक जलाशय में छिप गया। जय-पराजय के निश्चित निर्धारण के लिए पाण्डवों ने दुर्योधन को ललकारा। दुर्योधन जल से बाहर निकला। अन्ततः भीम और दुर्योधन के मध्य युद्ध हुआ। दुर्योधन पराजित हो गया।

इस घोर पराजय पर दुर्योधन को महान् दुःख हुआ। उसके श्वांस उसके कण्ठ में अटके थे। उसी समय गुरुद्रोण का पुत्र अश्वत्थामा दुर्योधन के पास आया। दुर्योधन की दुर्दशा पर आंसू बहाकर वह बोला– "युवराज! यह हमारी पराजय का क्षण है। पराजय से उत्पन्न इस घाव को कैसे भरूं! पाण्डवों ने मेरे पिता को धोखे से मारा है। मैं इस बात को कभी नहीं भूल सकूंगा। हृदय चाहता है कि पांचों पाण्डवों के शीश धड़ से अलग कर दूं।"

"पांचों पाण्डवों के शीश!" पीड़ा से कराहते हुए दुर्योधन बोला– "मित्र! यदि तुम ऐसा कर दोगे तो मुझे पराजय में भी जय का सुख

मिलेगा। पाण्डवों की जय मुझसे सहन नहीं हो रही है। मैं उनके कटे हुए शीशों पर धूल उड़ती हुई देखना चाहता हूं।''

''मैं पांचों पाण्डवों के सिर अवश्य काटूंगा।'' अश्वत्थामा बोला– ''युवराज! आप मेरी प्रतीक्षा कीजिए। पाण्डवों की विजय के विचार के साथ नहीं, अपितु पाण्डवों के विनाश के सुखद विचार के साथ आप वीरगति प्राप्त कीजिए।''

''शीघ्रता करो!'' दुर्योधन बोला– ''मैं तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा करूंगा। तुम्हारा पथ मंगलमय हो।''

नंगी तलवार हाथ में लेकर अश्वत्थामा पाण्डव-शिविर की ओर चल दिए। अन्धेरी रात में सैनिकों की दृष्टि से बचते हुए उसने शिविर में प्रवेश किया। निद्राधीन द्रौपदी के पांच पुत्रों को पांच पांडव समझकर उसने उनके सिर तलवार से काट डाले। कटे हुए सिरों को लेकर वह तीव्र

मंसूर

मंसूर एक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। सन्त क्षमाशील होते हैं। मंसूर कितने क्षमाशील थे, उनके जीवन का प्रसंग बता रहा है:—

मंसूर आत्मा में परमात्मा का दर्शन करने वाले एक सच्चे फकीर थे। वे 'अनलहक' अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूं' का जप करते थे। स्वयं को ब्रह्म घोषित करने वाले इस फकीर से पुरातनपंथी ईर्ष्या से भर गए। उन्होंने खलीफा से शिकायत की– मंसूर स्वयं को खुदा घोषित करके खुदा का अपमान कर रहा है। उसे दण्ड मिलना चाहिए।

खलीफा ने आदेश दिया– मंसूर को पहले दण्डों और पत्थरों से मारा जाए। फिर भी वह अपनी घोषणा को वापिस न ले तो उसके हाथ- पैर काट दिए जाएं। उसके बावजूद भी वह अपनी जिद्द न छोड़े तो उसे सूली पर लटका दिया जाए। खलीफा के दूसरे आदेश का पालन करते हुए मंसूर के पैर काट दिए गए। असह्य पीड़ा के क्षण में भी मंसूर के अधरों पर अनलहक–अनलहक का स्वर था। अन्तत: मंसूर को सूली पर चढ़ा दिया गया। रक्त में नहाए मंसूर ने अपार भीड़ पर एक दृष्टि डाली। फिर उन्होंने आकाश की ओर देख कर खुदा से प्रार्थना की–

''अय खुदा! इन लोगों को क्षमा कर देना। इन्हें सुख से वंचित मत करना। ये मेरे शत्रु नहीं, उपकारी हैं। इन्होंने मेरी मंजिल को कम करके तुम्हारे और मेरे मध्य शेष दूरी को मिटा दिया है।''

तत्पश्चात् अनलहक–अनलहक कहते हुए उस सच्चे आत्मज्ञानी फकीर ने आंखे मूंद लीं। स्वयं को मृत्यु का कष्ट देने वालों के लिए भी सुख और क्षमा की प्रार्थना करने वाले मंसूर सदा–सर्वदा के लिए अमर हो गए। धन्य है मंसूर की तितिक्षा! क्षमापरायणता! मंगलप्रार्थना! ❑❑

कदमों से दुर्योधन के पास पहुंचा। द्रौपदी पुत्रों के सिर देखकर दुर्योधन प्रसन्नता के स्थान पर पीड़ा में डूब गया। उसने कहा—"यह मेरी एक और पराजय हुई, अश्वत्थामा!" कहते हुए उसने आंखें मूंद लीं। प्रभात हुआ अपने मृत पुत्रों को देखकर द्रौपदी को अपार पीड़ा हुई। पाण्डवों की विजय की प्रसन्नता द्रौपदी के करुण क्रन्दन से धुल गई। पाण्डव-शिविर शोक में डूब गया। द्रौपदी के सम्मुख भीम-अर्जुन सहित पांचों पाण्डव खड़े थे। भीम ने कहा— "द्रौपदी! हमारे पुत्रों का हत्यारा आज सूर्यास्त नहीं देख सकेगा। हम जा रहे हैं उसे खोजने के लिए।"

"उसे मैं स्वयं दण्डित करूंगी!" द्रौपदी ने कहा

"ऐसा ही होगा।" कहकर भीम और अर्जुन अपने पुत्रों के हत्यारे की खोज करने चल दिए। शीघ्र ही उन्होंने ज्ञात कर लिया कि हत्यारा कोई और नहीं, उन्हीं के गुरु द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा है। भीम और अर्जुन ने अश्वत्थामा को खोज निकाला। उसे बन्धनों में बांधकर वे

महर्षि दयानन्द

महर्षि दयानन्द आर्य समाज के प्रवर्तक थे। उनके के बारे में ज्यादातर लोगों की धारणा है कि वे बड़े कठोर हृदय रहे होंगे, परन्तु वे कितने दयालु थे इस प्रसंग में देखेंगे—

महर्षि दयानन्द एक क्रान्तिकारी पुरुष थे। उन्होंने अनावश्यक धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन करके आवश्यक धर्म के तात्विक रूप का मण्डन किया था। उन्होंने 'आर्य समाज' की नींव डाली॥

कुरूढ़ियों और कुरीतियों के विरूद्ध आवाज उठाने के कारण अनेक पुरातनपंथी महर्षि दयानन्द के शत्रु बन बैठे। ये लोग किसी न किसी तरह महर्षि की हत्या करना चाहते थे। इन लोगों ने महर्षि के रसोइए को लोभ के जाल में फंसाया और उसे उनकी हत्या के लिए नियुक्त कर दिया। रसोइए ने महर्षि दयानन्द के भोजन में सीसा पीस कर मिला दिया। महर्षि ने भोजन किया। उदर में जाते ही कांच ने अपना प्रभाव दिखाया। असह्य वेदना से महर्षि छटपटाने लगे। रसोइए का विश्वासघात उनसे छिपा न था। लेकिन वे मौन रहे। रसोइये ने वह महापाप किया, परन्तु वह इसे हजम न कर सका। वह महर्षि के चरणों पर गिर कर अपने दुष्कृत्य के लिए क्षमा मांगने लगा॥ उसने लालच के जाल में फंसने की अपनी कथा कह दी।

महर्षि दयानन्द ने जेब से कुछ रूपये निकाले और रसोइए को देते हुए बोले— ""पाचक! भाग जाओ यहां से अन्यत्र। अगर लोग सच्चाई जान गए तो वे तुम्हें मार डालेंगे।"

आकाश जैसे अनन्त महर्षि दयानन्द की हृदयविशालता और महानता को देखकर, आंसू बहाता हुआ वह रसोइया भाग गया। यह है एक ऐसा उदाहरण जो भारतीय संतों व ऋषियों की महान करूणा–क्षमा का सहस्रकण्ठ से यशोगान करता है। ❑❑

द्रौपदी के पास ले आए। भय से कांपते हुए बन्धनों में बंधे अश्वत्थामा को द्रौपदी ने देखा। उसकी भृकुटी चढ़ गई। आंखों में रक्त उतर आया। उसने हाथ में तलवार ली और अश्वत्थामा की ओर बढ़ी। द्रौपदी ने अश्वत्थामा का सिर काटने के लिए जैसे ही तलवार ऊपर उठाई उसका मातृहृदय जाग उठा। उसे तत्काल विचार आया "द्रौपदी! अश्वत्थामा तो मर जाएगा। परन्तु उसकी माता? उसकी माता क्या पुत्र विरह में पागल नहीं हो जाएगी? पुत्र की मृत्यु का कितना कष्ट होता है यह मैं स्वयं अनुभव कर रही हूं। अश्वत्थामा की मां तो निर्दोष है। फिर उसे दण्ड क्यों मिले?"

एक मां का हृदय एक मां के हृदय को पुत्र-मृत्यु का कष्ट प्रदान करते हुए कांप उठा। द्रौपदी के हाथ से खड्ग गिर गया। वह बोली– जाने दो इसे! इसकी मृत्यु से दण्ड इसे नहीं, इसकी माता को मिलेगा। मैं यह नहीं चाहती कि जैसे मैं अपने बालकों के लिए आंसू बहा रही हूं, वैसे इसकी माता गौतमी भी आंसू बहाए। मैं किसी निर्दोष माता को इतना बड़ा दण्ड नहीं देना चाहतीः–

मा रोदीरस्य जननी, गौतमी पतिदेवता।
यथाऽहं मृतवत्साऽऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः॥

(भागवत पु. 1/7/47)

द्रौपदी की इस महान् क्षमा को देखकर अश्वत्थामा स्वयं के प्रति आत्मग्लानि और द्रौपदी के प्रति महान्-कृतज्ञता से भर गया। वह बोला–"देवी द्रौपदी! तुम्हारी इस महान् क्षमा और असीम करुणा को सदा याद रखा जाएगा। साहित्यकारों और कवियों की कलम तुम्हारी क्षमा और करुणा की आशंसा में सदैव अविश्रांत चलती रहेंगी।"

क्रोध व क्षमा– ये दो विपरीत स्थितियां हैं। जहां क्रोध व्यक्ति की शक्ति को क्षीण करता है और उसके सद्गुणों का नाश कर अनेकानेक दुर्गुणों को संवर्धित करता है, वहां क्षमा व्यक्ति को स्वस्थ– शक्तिसम्पन्न बनाती है और अनेकानेक सद्गुणों को जन्म देती है। धार्मिक आराधना वाले व्यक्ति के लिए तो क्रोध

भयानक दुष्परिणाम का कारण बनता है। इसके विपरीत, क्षमा सद्गति आदि सुखद व प्रशस्त परिणाम देती है। सामाजिक व राजनैतिक दृष्टि से भी देखें तो यह परम सत्य उद्घाटित होता है कि वैर या क्रोध से किसी विरोध या कलह का समाधान नहीं होता। वैर से वैर बढा है और परस्पर वैर रखने वालों की अनेकों पीढियां अकाल कालकवलित हुई हैं। किन्तु क्षमा से शान्ति, मैत्री, निर्भयता, परस्पर-विश्वास व उदारता के वातावरण का निर्माण होता है और व्यक्तियों में प्रेम व सौहार्द की स्थापना होती है। इस सत्य को वैदिक व जैन– दोनों परम्पराओं में समान रूप से स्वीकारा गया है।

उपर्युक्त कथानकों में क्षमा की महत्ता पूरी तरह प्रस्फुटित हुई है। वैदिक परम्परा के श्रीकृष्ण, पाण्डवपत्नी सती द्रौपदी, ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और जैन परम्परा के तीर्थंकर भगवान् महावीर ने क्षमा का उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत कर भावी पीढी को क्षमा अपनाने की प्रेरणा दी है। दोनों परम्पराओं के सभी कथानकों में समानतया एक स्वर से क्षमा की उत्कृष्टता रेखांकित हुई है जो दोनों परम्पराओं की साझी भारतीय संस्कृति में एक सर्वमान्य मौलिक आदर्श के रूप में मान्य रही है।

●

प्रेम है अमृत

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

धन-संपत्ति, कुल, जाति, शास्त्रीय ज्ञान– ये प्रायः व्यक्ति को अहंकारी बना देते हैं। वह अहंकार व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य एक दीवार बन कर खड़ा हो जाता है और परस्पर प्रेम व सौहार्द के वातावरण को क्षति पहुंचाता है। इसके विपरीत, प्रेम व्यक्ति-व्यक्ति की दूरी को कम करता है, उनके हृदयों को जोड़ता है और सौहार्द के सूत्र में दोनों को बांध देता है। प्रेम ही आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रद्धा-भक्ति का रूप धारण कर लेता है। इसी श्रद्धा-भक्ति का प्रभाव था कि अहंकारी दुर्योधन के राजवैभवपूर्ण समस्त भोगोपभोगों को ठुकरा कर श्रीकृष्ण ने विदुर-पत्नी के हाथ से केले के छिलके खाए। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने वन में भक्तिमती महासती शबरी के बेर खाए। जैन परम्परा में चन्दना के प्रेमामृत व श्रद्धा-भक्ति-भाव के कारण भगवान् महावीर ने नीरस भोजन स्वीकार किया था।

प्रेम परम स्वाद है। प्रेम अनिर्वचनीय रस का अमृत-कलश है। प्रेम वह सूत्र है जो हृदय को हृदय से गुम्फित कर देता है।

कबीरदास ने कहा–

जा घट प्रेम न संचरे, ता घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, मांस लेत बिन प्रान॥

प्रेमशून्य हृदय श्मशान के समान है। जैसे लुहार आंच को

तेज करने के लिए यन्त्र द्वारा खाल के गुब्बारे में हवा भरता और निकालता है। वह खाल श्वास तो लेती है पर प्राणविहीन होती है, वैसे ही प्रेमरहित मनुष्य केवल श्वास लेता है। वह मृत तुल्य है।

प्रेम परम आधार है। प्रेम के बिना समस्त क्रियाएं निःसार हैं। क्रिया में हृदय-रस, प्रेम रस के संचार में ही अलौकिकता घटित होती है। प्रेम, श्रद्धा और भक्ति हृदय के तल पर समानार्थी शब्द हैं। या यों कहें कि श्रद्धा और भक्ति पराकाष्ठा पर पहुंचकर प्रेम रूप में रूपान्तरित होती हैं। प्रेम की इस परम महिमा को संसार के समस्त धर्मों और महापुरुषों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। वैदिक ऋषि की उद्‌घोषणा है– **प्रियं प्रियाणां कृणवाम** (अथर्व. 12/3/49)- अर्थात् हम अपने प्रिय व्यक्तियों का हित करें। परस्पर-प्रेम से बंधे व्यक्तियों के समाज में सभी एक दूसरे के हित-साधन में तत्पर होते हैं। फलस्वरूप वह समाज निरन्तर प्रगति व विकास के पथ पर अग्रसर होता है। भक्ति-मार्ग तो विशुद्ध ईश्वरीय प्रेम का ही पर्याय है। यह विशुद्ध भक्तिमय प्रेम अनिर्वचनीय होता है–. उसे शब्दों में पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। नारद भक्तिसूत्र में कहा गया है– **अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् मूकास्वादनवत्** (नारदभक्तिसूत्र, 51-52)। भक्ति या ईश्वरीय प्रेम भक्त व ईश्वर को एकसूत्र में जोड़ता है। इस प्रसंग में भागवत पुराण का यह पद्य मननीय है जो स्वयं भगवान् की स्वीकारोक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया हैः–

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(भागवत पु. 9/4/63)

–मैं भक्तजनों का प्रिय हूं और मुझे भी भक्त जन प्रिय हैं। इसलिए मैं भक्तों के अधीन होकर पूर्णतया परतन्त्र हो जाता हूं। मेरा हृदय भक्त साधुओं के वश में रहता है।

बौद्ध परम्परा में भी सुख-शान्ति का मूल 'प्रीति' को माना गया है–

का च भिक्खवे सुखस्स उपनिसा? पस्सद्धी।
का च भिक्खवे पस्सद्धिया उपनिसा? पीती।

(संयुत्तनिकाय, 2/12/23)

अर्थात् हे भिक्षुओं! सुख का हेतु क्या है? शान्ति (प्रस्रब्धि) है। उस शान्ति का हेतु क्या है? वह हेतु 'प्रीति' है।

प्रीति-परम्परा का विश्लेषण करते हुए बौद्ध परम्परा में बताया गया है:-

पमुदितस्स पीति आयति। पीतिमनस्स कायो पस्सम्मति। पस्सद्धकायो सुखं विहरति *(संयुत्तनिकाय, 4/35/97), अर्थात् प्रमोद होने से प्रीति होती है, प्रीति से शरीर की स्वस्थता और स्वस्थता से सुखपूर्वक विहार होता है। क्राइस्ट ने प्रेम को ईश्वर का पद प्रदान करते हुए कहा था–*

Love is God.

प्रेम परमात्मा है।

जैन परम्परा में अहिंसा धर्म की महत्ता आदि के सम्बन्ध में प्रचु उद्धरण प्राप्त होते हैं। 'प्रेम' उसी अहिंसा की अभिव्यक्ति का विशिष्ट प्रकार ही है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा–

पीत्तिसुण्णो पिसुण्णो।

(निशीथ भाष्य, 6212)।

अर्थात् प्रेम-शून्य व्यक्ति पिशुन है। वह निन्दनीय है। धार्मिक साधना में तो प्रेम-करुणा, दया आदि सद्भाव अत्यन्त आवश्यक हैं ही। संत, मुनि आदि का हृदय नवनीत (मक्खन) के समान कोमल होता है– ***नवणीयतुल्लहियया साहू*** *(व्यवहार भाष्य-7/165)। संत तुलसीदास जी ने भी कहा है–* ***संत-हृदय नवनीत समाना।*** *स्नेह-पूर्ण हृदय वाले वे संत-मुनि प्रेम-करुणा की गंगा प्रवाहित करते हैं और क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी इनके समक्ष नतमस्तक हो जाता है। भगवान् महावीर निर्विकार थे। भयंकर चण्डकौशिक विषधर सर्प ने उनके शरीर में विष छोड़ा, किन्तु बदले में उसने प्रेम का अमृत पाया, करुणा का दूध पाया। उस दूध के प्रभाव से विषधर विष को भूल गया। ऐसा क्यों हुआ? इसलिए हुआ कि भगवान् महावीर के शरीर का कण-कण प्रेमामृत से परिपूर्ण था। प्राणिमात्र के लिए प्रेम के अतिरिक्त उनमें कुछ नहीं था। रक्त के स्थान पर उनके शरीर में अहिंसा प्रवाहित थी, अतः वे स्वयं भी प्रेमामृत पी सके और औरों को भी पिला सके। यह तथ्य आध्यात्मिक प्रेम-भक्ति के प्रसंग में तो पूर्णतः चरितार्थ होता है।*

आचार्य जयवल्लभ-कृत प्राकृत साहित्य 'वज्जालग्गं' में प्रेम के स्वरूप व सुप्रभाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया हैः—

पडिवन्नं जेण समं पुव्वणिओएण होइ जीवस्स।
दूरट्ठिओ न दूरे जह चंदो कुमुयसंडाणं॥

(वज्जालग्ग, 7/4)

—पूर्वकृत संस्कारों की प्रेरणा से ही कोई जीव किसी के साथ प्रीति से जुड़ता है, वह दूर रहने पर भी दूर नहीं रहता जैसे चन्द्रमा कुमुदवन से।

जा न चलइ ता अभयं, चलियं पेम्मं विसं विसेसेइ। *(वज्जालग्ग, 36/7)*

—स्थायी प्रेम अमृत है और प्रेम की अस्थिरता विष-तुल्य है।

उपर्युक्त प्राकृत सूक्तियों का निष्कर्ष यह है कि प्रेम एक दूसरे को जोड़ता है। चन्द्रमा व कुमुदिनी के बीच कितनी ज्यादा दूरी है, फिर भी प्रेम के कारण एक दूसरे के निकट ही प्रतीत होते हैं, यही कारण है कि कुमुदिनी सुदूर- स्थित चन्द्रमा के उदय से विकसित होती है। यह प्रेम जब काल आदि की परिधि में बंधता नहीं, तब अमृतमय हो जाता है।

वस्तुतः प्रेम एक विशुद्ध व प्रशस्त भाव है, बशर्ते वह निःस्वार्थ हो। वह त्याग, निरभिमानता, श्रद्धा-भक्ति, समर्पण-भावना के वातावरण में उत्पन्न होता और बढ़ता है। अपने आराध्य के प्रति प्रेम-भक्ति-श्रद्धा की भावना रखकर हम उसकी सच्ची आराधना कर सकते हैं। परिवार, समाज आदि को परस्पर एकसूत्र में जोड़ने वाला भी तत्त्व है— प्रेम। प्रेम-भावना ही वीतरागता के मार्ग में परम विशुद्धता को प्राप्त कर 'आत्मवत् दृष्टि' बन जाती है जिसमें समता के फूल खिलते हैं। विशुद्ध प्रेम का जन्म न संकीर्णता से होता है और न संकीर्णता के लिए होता है। संकीर्णता के बन्धनों का टूटना प्रेम का प्रारम्भ है। यह प्रेम आसक्ति नहीं, मोह नहीं है, अतः कभी किसी को बांधता नहीं, मुक्त करता है। वह व्यक्तित्व के उच्चतम प्रसार का मार्ग प्रशस्त करता है। इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में भारतीय विविध विचारधाराओं (वैदिक-जैन-बौद्ध-सिख) से सम्बद्ध कथानक यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो प्रेम-श्रद्धा-भक्ति के महत्त्व को रेखांकित करते हैं।

[१]

चन्दनबाला के बाकुले

(जैन)

चन्दनबाला राजकन्या थी। अचानक उस पर संकटों के पहाड़ टूट पड़े। उसके पिता का राज्य नष्ट हो गया। पिता को वन जाना पड़ा। माता का करुण अन्त उसने अपनी आंखों से देखा। दुर्भाग्य का अन्त इतने से ही न हुआ। राजकुमारी चन्दनबाला को शाक-सब्जी की भांति बाजार में बिकने का अभिशाप झेलना पड़ा।

एक धर्मज्ञ सेठ धनावह चन्दनबाला के सहायक बने। लेकिन सेठ की पत्नी मूला ने सेठ की अनुपस्थिति में चन्दनबाला को घोरतम यातनाएं दीं। डण्डों से पीटकर, उसके केश कतर डाले। लौह-शृंखलाओं में जकड़ कर उसे तलघर में पटक दिया।

तीसरे दिन सेठ आए। चन्दना को तलघर से निकाला। घर में खाने को कुछ न मिला तो घोड़ों के लिए तैयार किए गए उड़द के बाकुले एक सूप के कोने में डालकर सेठ धनावह ने चन्दनबाला को दे दिए। गृहद्वार पर बैठी चन्दना प्रार्थना करने लगी– " हे जिनेश्वर देव! मेरे द्वार पर पधारिए। मुझ अभागिन के हाथों आहार लेकर मेरा उद्धार कीजिए।"

तीर्थंकर महावीर उन दिनों घोर तप कर रहे थे। पांच महीने पच्चीस दिन से वे निराहार-निर्जल थे। कौशाम्बी नगरी के राजा शतानीक से लेकर बड़े सेठ-श्रावक तथा श्राविकाएं तीर्थंकर महावीर से भोजन के लिए प्रार्थना करते, लेकिन प्रभु बिना भोजन ग्रहण किए लौट जाते।

चन्दनबाला ने प्रभु को पुकारा। उसके अन्तर्हृदय से आवाज उठी। हृदय-रस-प्रेम-भक्ति से समन्वित पुकार अनसुनी नहीं होती। वह अवश्य सुनी जाती है। चन्दनबाला की आवाज-पुकार सुनी गई।

तीर्थंकर महावीर भिक्षा के लिए चले। द्वार-द्वार पर उनके लिए आमन्त्रण थे। द्वार-द्वार पर दृष्टि डालते महाप्रभु बढ़ते रहे। बढ़ते रहे उनके अविराम चरण। इसी क्रम में सेठ धनावह का द्वार भी आया। वह द्वार जिस पर चन्दनबाला हथकड़ियों-बेड़ियों में जकड़ी हाथों में उड़द बाकुले लिए थी। उस द्वार के समक्ष प्रभु के अविराम गतिमान् चरण

विरामित हो गए। प्रभु ने चन्दनबाला पर दृष्टिपात किया। प्रभु की कृपा-दृष्टि पाकर चन्दनबाला कृतकृत्य हो उठी। उसकी रोमराजी खिल उठी। प्रेमाश्रु उसके नेत्रों में मचलने लगे। तप के सुमेरू तीर्थंकर महावीर ने *अपनी कराञ्जलि* चन्दनबाला के समक्ष फैला दी। प्रेम और श्रद्धा के सुमेरू से चन्दनबाला ने महावीर को उड़द बाकुलों का दान दिया।

अहोदानं- अहोदानं के दिव्य उद्घोषों से दिग्-दिगन्त गूंज उठे। उड़द बाकुलों को परमान्न की भांति ग्रहण करके तीर्थंकर महावीर ने पांच-महीने पच्चीस दिन के दीर्घ उपवास को विराम दिया।

प्रेम-श्रद्धा का प्रसाद— उड़द बांकुले भी परमान्न हो सकते हैं। यही दर्शन छिपा है चन्दना और महावीर के इस प्रसंग में। चन्दना ने मुहादायी को स्वयं में अवतारा तथा महावीर ने मुहाजीवी होकर उस प्रेम-भिक्षा को ग्रहण किया। *[आवश्यक चूर्णि आदि से]*

❑❑

[२]
शबरी के बेर
(वैदिक)

श्री राम के चरणों की अनुरागिनी शबरी भील कन्या थी। निम्न कुल में उत्पन्न होकर भी वह उच्च विचारों वाली महिला थी। अधर्म में लिप्त अपने परिवार का त्याग करके शबरी जंगलों में रहकर भगवान् के भजन में तल्लीन रहने लगी।

वह युग छूतछात का युग था। अस्पृश्यता का बोलबाला था। जाति मनुष्य से बड़ी मानी जाती थी। निम्न कुल में उत्पन्न शबरी को उच्च जाति में उत्पन्न लोगों की घृणा का शिकार होना पड़ा था। जंगल में यत्र-तत्र ऋषियों के आश्रम थे। उन आश्रमों से दूर एकान्त में एक पर्णकुटी बनाकर शबरी रहने लगी। उसके हृदय में भगवत्-स्मरण के साथ-साथ सन्त-सेवा का भी भाव था। अपनी श्रद्धा-पूर्ति के लिए उसने एक मार्ग निकाला— वह प्रतिदिन उस मार्ग को साफ-स्वच्छ कर देती जिस पर से चलकर ऋषिजन स्नानार्थ जाते थे। सूखी लकड़ियों के गट्ठर वह ऋषि-आश्रमों के निकट रख जाती थी। लेकिन यह सब कार्य करते हुए वह अपने को छिपा कर रखती।

महर्षि मतंग इस अदृश्य सेवक को देखना चाहते थे। उन्होंने अपने शिष्यों को इसका पता लगाने का निर्देश दिया। दूसरे दिन शबरी को लकड़ियों का गट्ठर ऋषि-आश्रम के निकट रखते हुए शिष्यों ने पकड़ लिया। उसे महर्षि मतंग के पास ले गए। शबरी भय से कांप रहीथी। उसने हाथ जोड़कर कंपित स्वर से कहा—"महर्षि! मुझे क्षमा कर दो। मैं नीच कुल में उत्पन्न शबरी हूं। मैं अन्य किसी प्रकार की सेवा करने योग्य नहीं हूं। इसीलिए मैंने इस प्रकार की सेवा करने का दुःसाहस किया है।"

रेत की भिक्षा

महात्मा बुद्ध ससंघ चले जा रहे थे। एक बालक जिसकी मुट्ठी में रेत था महात्मा बुद्ध के निकट आया और बोला– मेरी भिक्षा ग्रहण कीजिए, भंते!

तथागत ने बालक को देखा। उसकी मुट्ठी में रहे हुए रेत को देखा। उन्होंने अपना पात्र उस बालक के सम्मुख फैला दिया। बालक ने अपनी मुट्ठी का रेत बुद्ध के पात्र में डाल दिया।

तथागत का अनुसरण कर रहा संघ बालक की धृष्टता देख कर क्रोधित हो उठा। संघ के कुछ लोग उस बालक को दण्डित करने के लिए उस पर लपके। उसी क्षण तथागत बोले– "रूक जाओ! इस बालक को दण्ड देने का किसी को अधिकार नहीं है। इस बालक को दिया गया दण्ड मुझे दिया गया दण्ड होगा।"

उन लोगों के कदम ठिठक गए। वे बोले– "भंते! जिस पात्र में उत्तमोत्तम पदार्थ डालने के लिए अंग-बंग-मगध आदि कितने ही देशों के श्रीसम्पन्न श्रेष्ठी और बड़े-बड़े सम्राट् लालायित रहते हैं, उसी पात्र में इस धृष्ट बालक ने रेत डाल दिया है। इसका अपराध अक्षम्य है।"

"श्रावकों!" बुद्ध बोले– "स्थूलदृष्टि उत्तम पदार्थ, श्रीसम्पन्नता और बड़े-बड़े सम्राटों को तो देख लेती है लेकिन जो वस्तुतः दर्शनीय है उसे नहीं देख पाती है। उसे देखने के लिए भीतर की आंख की आवश्यकता है।"

"भंते! वह दर्शनीय क्या है जिसे स्थूल दृष्टि नहीं देख पाती।" श्रावकों ने प्रश्न किया।

"वह है हृदय का प्रेम! कुछ देने की नृत्यपूर्ण उमंग।" बुद्ध बोलते चले गए– "तुमने बालक-प्रदत्त रेत को तो देख लिया, लेकिन तुम उस बाल हृदय को नहीं देख पाए। श्रद्धा का ज्वार था उस नन्हे से हृदय में। एक बालक के पास जो हो सकता है, वही तो वह देगा। इस बालक के पास रेत थी। उसने मुझे देना चाहा। उसका भाव देख कर उसका प्रेम-दान ग्रहण करने के लिए मेरा पात्र स्वतः उसके समक्ष फैल गया। उसके नन्हे हृदय-सागर में उठी आनन्द की उर्मियों को स्पर्श कर मुझे भी बड़ा सुख मिला। वह बालक दण्डनीय नहीं– अर्चनीय है।" तथागत का उपदेश सुनकर संघ ने अपनी भूल के लिए प्रायश्चित्त किया। ❑❑

महर्षि मतंग प्रसन्न हुए। उन्होंने शिष्यों से कहा—"इस भाग्यवती नारी को आश्रम के निकट रहने को स्थान- कुटी दे दो तथा इसके लिए अन्नादि का उचित प्रबंध कर दो।"

भगवान् की भक्ति में तल्लीन, ऋषियों की सेवा करती हुई शबरी अपने जीवन को धन्य बना रही थी। इन्हीं दिनों उधर यह सूचना फैल गई कि दशरथ-नन्दन श्रीराम अपनी भार्या और भाई सहित उस जंगल—दण्डकारण्य में आएंगें।

भगवान् श्री राम के स्वागत और उनकी मेजबानी के लिए सभी आश्रमाधिपति ऋषि उत्सुक हो गए। सभी ने अपने-अपने आश्रमों को लीप-पोत कर सजाया। प्रत्येक ऋषि को यह विश्वास था कि श्रीराम उसी के आश्रम में आएंगे। इसके लिए वे दावे भी करते थे।

शबरी का तो मन-मन उल्लसित हो उठा था। उसे दृढ़ श्रद्धा थी कि श्री राम उसकी झोपड़ी में आएंगे। वह प्रति दिन उस मार्ग को बुहारती जिस से राम आने वाले थे। उस मार्ग पर फूल बिछाती। जंगल से मधुर-मधुर फल संचित करके रखती। प्रतिदिन का यह क्रम बन गया था शबरी का। उसके प्राण-प्राण में पल-पल श्री राम के लिए पुकार थी। एक क्षण भी वह श्री राम को विस्मृत नहीं करती थी।

आखिर एक दिन श्री राम का आगमन हुआ। बड़े-बड़े नामी तपस्वी ऋषियों के आवेदन ठुकराते और सुसज्जित आश्रमों को लांघते श्री राम के चरण शबरी की झोपड़ी पर पहुंचे। भावविह्वल बनी शबरी श्री राम को अपने द्वार पर देखकर अग-जग सब भूल गई। उसका हर्ष उसकी हृदय-गगरी में नहीं समा रहा था। रामचरितमानस में संत तुलसीदास जी ने शबरी की प्रेम-भक्तिपूर्ण स्थिति का निरूपण इस प्रकार किया हैः—

प्रेम मगन मुख वचन न आवा
पुनि-पुनि पद-सरोज सिर नावा॥

(रामचरितमानस, अरण्य काण्ड, 33/5)

शबरी ने भगवान् को बड़े श्रद्धाभाव से बैठाया। पश्चात् वह उन्हें भोजन कराने लगी।

इस भाव से कि कहीं उसके बेरों में कोई बेर खट्टा न हो, पहले वह स्वयं चखती फिर श्रीराम के हाथ पर रखती। प्रेम और भक्ति से

परिपूर्ण उन जूठे बेरों को श्री राम बड़े भाव से खाने लगेः–

कन्दमूल फल सुरस अति, दिए राम कहुं आनि। प्रेम सहित प्रभु खाए वारंबार बखानि (अरण्य. 34)।

कहते हैं कि श्री राम को भोजन का वैसा आनन्द कभी न आया था। वे सदैव शबरी के बेरों के स्वाद की प्रशंसा करते। तुलसीदास जी की भाषा में–

घर, गुरु गृह, प्रिय सदन, सासुरे भइ जब जहं पहुनाई।
तब तहं कहि, सबरी के फलनि की रूचि माधुरी न पाई॥

यह आस्वाद बेरों का न था। यह आस्वाद था प्रेम का। भक्ति का। जब तक यह धरती और इस पर सृष्टि रहेगी, तब तक शबरी और उसके बेरों की चर्चा होती रहेगी। युग बदल जाते हैं। प्रत्येक प्राणी और वस्तु का स्वरूप बदल जाता है परन्तु प्रेम और भक्ति सदैव अपरिवर्तनशील नित नूतन रहती है। उसकी महिमा को पौंछने की शक्ति काल में भी नहीं है।

❑❑

[३]
विदुर-पत्नी
(वैदिक)

वनवास-काल की समाप्ति पर पाण्डवों ने दुर्योधन से अपना राज्य मांगा। दुर्योधन ने एक सूई की नोक टिके, इतना राज्य भी देने से इन्कार कर दिया। न्याय और अन्याय में द्वन्द्व चला। युद्ध की ठन गई। भारतवर्ष को महाविनाश से बचाने के लिए वासुदेव श्रीकृष्ण शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर गए।

श्रीकृष्ण को प्रभावित करने के लिए दुर्योधन ने उनके स्वागत के लिए हस्तिनापुर को दुल्हन की तरह सजाया। मार्ग पर पुष्प बिछवाए। स्थान-स्थान पर द्वार सजवाएं। अपने भाइयों सहित वह श्रीकृष्ण के स्वागत के लिए नगर-द्वार तक गया।

श्रीकृष्ण आए। हस्तिनापुर में उन्हें अभूतपूर्व स्वागत मिला। उस स्वागत में छिपा कपट श्रीकृष्ण जानते थे। दुर्योधन ने कृत्रिम विनय भाव प्रदर्शित करते हुए श्रीकृष्ण को अपने महल में आमन्त्रित किया।

सहजता से सभी प्रस्तावों को मौन देते हुए श्रीकृष्ण के कदम बढ़ते रहे। किसी अज्ञात पुकार की डोर से बन्धे वे खिंचे चले जा रहे थे। हस्तिनापुर का आबालवृद्ध श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिए राजमार्ग पर उतर आया था। हस्तिनापुर के महामंत्री महात्मा विदुर की पत्नी अपनी पर्णकुटी के द्वार पर बैठीं श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा कर रही थी। वह विचारों में लीन थीं– क्या वे दीन-बन्धु मेरे द्वार पर भी आएंगें? मार्ग में सुसज्जित अट्टालिकाएं क्या उनके लिए बाधा नहीं बन जाएंगीं? उसकी रोम-रोम प्रार्थना से भर गया–"मधुसूदन! मेरी कुटी का एक-एक तृण तुम्हारे दर्श को प्यासा है। अपनी पगधूलि से इस कुटी को पावन करो। आ जाओ वासुदेव! गिरिधर! राजाधिराज वासुदेव!"

गुरु नानकदेव

गुरु नानक देव सिखों के प्रथम गुरु थे। वे सत्य, अहिंसा और मानवता के अवतार थे। उन्होंने स्वयं कष्ट सहकर भी मानव-समाज को सत्य धर्म का उपदेश दिया था। गुरु नानक एक बार एक गांव में गए। एक निर्धन भक्त के घर ठहरे। प्रतिदिन उपदेश करने लगे। सैकड़ों ग्रामवासी उस निर्धन के आंगन में गुरु नानक का सत्संग सुनते। उस गांव में एक धनी सेठ रहता था। लोगों को लूट-लूट कर उसने बहुत धन जमा कर लिया था। धन अहंकार पैदा करने वाला होता है। उस सेठ को भी बड़ा अहं था। वह स्वयं को ग्राम का सबसे बड़ा आदमी समझता था। उस सेठ को यह जानकार कि अमुक निर्धन व्यक्ति के आंगन में प्रतिदिन गुरु नानक देव सत्संग करते हैं, बड़ी इर्ष्या हुई। उसने नानक देव को अपने घर बुलाने का निश्चय कर लिया।

सेठ गुरु नानक के पास पहंचा। सत्संग सुना। तत्पश्चात् उसने नानक देव से अपने घर भोजन करने का आग्रह किया। नानक देव ने उसके आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया। इससे उस सेठ के अहंकार को चोट लगी। उसने अधीर होते हुए गुरु नानक से कहा– "गुरुदेव! आप मेरी भक्ति को ठुकरा क्यों रहे हैं। मेरे भोजन में क्या कमी है?"

"देखना चाहते हो!" गुरु नानक देव बोले– "ऐसा करो कि तुम मेरे लिए यहीं भोजन ले आओ। तुम्हारे भोजन की अस्वीकृति का कारण तुम अपनी आंख से देख सकोगे।"

धनी सेठ ने विभिन्न पकवान तैयार कराए। चांदी के बर्तनों में भोजन लेकर वह गुरु नानक देव के पास पहुंचा। तब तक निर्धन भक्त भी गुरु नानक के लिए रूखी रोटी ले आया था। गुरु नानक ने एक हाथ से निर्धन व्यक्ति की रोटी पकड़ी तथा दूसरे हाथ में उस धनी के विभिन्न पकवान लिए। उन्होंने अपनी दोनों मुट्ठियां भींचीं। निर्धन भक्त की रखी रोटी से दुग्धधार बह चली। उस धनी के भोजन से रक्त की धार निकली।

भक्त हृदयों से उठी प्रार्थनाएं सदैव स्वीकृत होती हैं। श्रीकृष्ण विदुर की कुटी के समक्ष पहुंच गए। विदुरानी अनन्त हर्ष से आह्लादित हो उठी। हर्ष के तीव्र वेग ने उसकी समझ को कुण्ठित कर दिया। वह भान भूल गई उसे क्या करना चाहिए, कुछ ज्ञात न रहा।

"बूआ! मैं भूखा हूं। कुछ खाने को दो!" द्वार पर खड़े श्रीकृष्ण ने विदुर-पत्नी की श्रद्धा-तन्द्रा को तोड़ा।

"आइए, वासुदेव! पधारिए! विराजिए!" विदुरपत्नी ने एक पटड़ी रख दी। श्रद्धा के आवेश में उसे इतना भी भान नहीं था कि पटड़ी उल्टी है या सीधी। श्रीकृष्ण उलटी पटड़ी पर बैठ गए।

विदुर-पत्नी ने इधर-उधर देखा। केलों के अतिरिक्त वहां कुछ भी खाद्य-सामग्री न थी। उसने केले उठाए और श्रीकृष्ण के समीप धरा पर बैठ गई। वह स्वयं केले छीलने लगी। उसने केले की गरी को नीचे डाल दिया और छिलका श्रीकृष्ण के फैले हुए हाथ पर धर दिया। श्रीकृष्ण भी विदुरानी के हृदय से उठे भक्ति के तेज प्रवाह में बह गए। उन्हें भी यह भान नहीं रहा कि वे क्या खा रहे हैं।

भक्तिन भक्ति-सागर में डूबी हुई केले के छिलके खिलाती रही और भगवान् खाते रहे। खिलाने वाली को यह ज्ञात नहीं था कि वह क्या खिला रही है और खाने वाले को भी सुध नहीं थी कि वह क्या खा रहा है। दोनों प्रेमदान तथा प्रेम-सुधापान में तन्मय थे।

अकस्मात् विदुर जी आ गए। उन्होंने उल्टी पीढी पर बैठे केले के छिलके खाते श्रीकृष्ण को देखा। वे स्तंभित हो गए। उन्होंने पत्नी को डांटा– "क्या कर रही हो? श्रीकृष्ण को केले के छिलके खिला रही हो?"

सैकड़ों ग्रामवासियों के समक्ष धनी सेठ लज्जित हो गया। गुरु नानक देव ने कहा– "मेरे अस्वीकार का कारण स्पष्ट हो चुका है। तुम्हारा भोजन अन्याय से अर्जित धन से तैयार हुआ है। और इस निर्धन का भोजन श्रम और न्याय से निष्पन्न है। इसलिए तुम्हारा भोजन मेरे लिए बेस्वाद और अग्राह्य है। श्रम-संचित अन्न से तैयार इस निर्धन का भोजन रूखा- सूखा होते हुए भी मेरे लिए अमृत है। इस निर्धन के प्रेम और भक्ति ने इस रूक्ष भोजन को अमृत बना दिया है।"

"सेठ! अहंकार अमृत को भी विष बना देता है। प्रेम विष को भी अमृत में बदल देता है।" सेठ को सत्य की पहचान मिली। उसका धन निर्धन के धन–प्रेमधन के समक्ष पराजित हो गया था। ❑❑

एक झटके से विदुरानी का ध्यान टूटा। अपनी भयानक भूल पर उसे महान् दुःख हुआ। उसके नेत्रों से टप-टप आंसू टपकने लगे। इस बार उसने केला छीला। छिलका नीचे डाल दिया और केला श्रीकृष्ण के हाथ पर रख दिया। श्रीकृष्ण ने केला खाया। उन्होंने गर्दन हिला दी और बोले– ''अब वह स्वाद नहीं रहा। विदुर जी! आप बड़े बेमौके पर आ गए। आज तो मैं वह भोजन कर रहा था जिसके लिए मैं सदैव अतृप्त रहता हूं। उन छिलकों से आज जो स्वाद मुझे मिल रहा था, वैसा स्वाद तो मोहन भोगों से भी आज तक प्राप्त नहीं हुआ।''

जिस भोजन में भक्ति का स्वाद मिल जाए, वह भोजन देखने में अतिसाधारण होकर भी अमृत होता है। यही दर्शन विदुरानी के छिलकों से निःसृत हुआ था। OOO

ऊपर प्रस्तुत सभी कथानकों में एक ही तथ्य मुखरित होता है कि प्रेम ही अमृतमय परम आस्वाद है। शबरी के बेर, विदुरानी के केले के छिलके, चन्दना के उड़द बाकुले, निर्धन भक्त की सूखी रोटी तथा नन्हे बालक द्वारा दी गई रेत की भिक्षा– ये वस्तुएं आराध्य को प्रेमपूर्वक समर्पित की गई हैं। वस्तुएं जरूर साधारण हैं किन्तु देने वाले की प्रेमभावना असाधारण है। साधारण वस्तुओं के दान से भी घटनाएं असाधारण बन गईं। वस्तुतः प्रेम अमृत है, उसका पावन स्पर्श पाकर प्रत्येक वस्तु असाधारण बन जाती है।

निस्सन्देह प्रेमपूर्ण समर्पण में श्रद्धा-भक्ति के साथ-साथ निश्छलता, निरभिमानता व त्याग की पावन भावना जुड़ी हुई है जिसके कारण, समर्पित की जाने वाली वस्तु का महत्त्व नहीं रह जाता, महत्त्व रहता है तो भक्त के उदार विराट् हृदय का और उसे उसी उदारता से स्वीकार करने वाले की सहज निश्छलता का। वहां प्रेम के धरातल पर आराध्य व आराधक– दोनों में एक सूक्ष्म-सी अभेद सम्बन्ध की रेखा स्थापित हो जाती है। उक्त सत्य उपर्युक्त सभी कथानकों में समानरूप से मुखर हुआ है। ●

श्रद्धा का चमत्कार

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

श्रद्धा यदि अडोल-अकंप हो तो अपूर्व चमत्कार घटता है। श्रद्धा के प्रदीप में यदि धैर्य का घृत डाला जाए तो दिव्य आलोक का जन्म होता है। श्रद्धा परम शक्ति स्वरूपा है। उस के बल पर आत्मा परमात्मा को और नर नारायण को अवतरित कर लेता है। असंभव संभव हो जाता है।

श्रद्धा की महत्ता व उपयोगिता के समर्थन में भारतीय संस्कृति की अंगभूत सभी विचारधाराओं में प्रचुर प्रमाण उपलबध हैं। श्रद्धा का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय-पक्ष से है। उपनिषद् के ऋषि का कथन है– ***हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवति।*** *(बृहदा. उप. 3/9/21)। अर्थात् श्रद्धा हृदय में प्रतिष्ठित होती है। तर्कशील मस्तिष्क से वह उत्पन्न नहीं होती। श्रद्धा का विषय इसीलिए 'अतर्क्य' होता है। इसीलिए श्रद्धा से जुड़े और विशिष्ट प्राणियों द्वारा विशिष्ट परिस्थितियों में अनुभूत चमत्कारों की भी तार्किक दृष्टि से व्याख्या प्रायः संभव नहीं हो पाती। श्रद्धा के लौकिक व आध्यात्मिक उपलब्धियों के विषय में वैदिक परम्परा में उपलब्ध कुछ उद्धरण यहां प्रासंगिक हैं:–*

> ***श्रद्धया सत्यमाप्यते*** *(यजुर्वेद, 19/30)।*
> *– श्रद्धा से 'सत्य' का साक्षात्कार या उसकी उपलब्धि होती है।*
> ***श्रद्धया विन्दते वसु*** *(ऋग्वेद, 40/151)।*
> *– श्रद्धा से लक्ष्मी मिलती है।*

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् (गीता, 4/39)।

—श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करता है।

एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते (अथर्व. 6/122/3)।

—श्रद्धालु व्यक्ति ही इस संसार का सुख प्राप्त कर पाते हैं।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः (गीता 17/3)।

—यह पुरुष श्रद्धामय है। वह जिसकी (जिसके प्रति) श्रद्धा करता है, उसी के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध परम्परा में भी श्रद्धा को मुक्ति में उपकारी माना गया है:—

सद्धाय तरति ओघं। (सुत्तनिपात, 1/10/4)

— श्रद्धा से प्राणी भवसागर को तैर जाता है।

जैन परम्परा में मुक्ति-मार्ग 'रत्नत्रय' के अंगभूत तीनों रत्नों में 'सम्यक्श्रद्धान' को परिगणित कर, साधक के लिए श्रद्धावान् होना प्रारम्भिक रूप से अनिवार्य माना गया है— **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्** (तत्त्वार्थसूत्र- 1/1-2)। आचारांग सूत्र में भी कहा गया है— **सड्ढी आणाए मेहावी** (आचारांग, 1/3/4), अर्थात् अर्हन्त की आज्ञा/उपदेश पर श्रद्धाशील व्यक्ति मेधावी होता है।

परमेश्वर का स्तुति-गान करने वाले आचार्यों व कवियों ने परमेश्वरीय श्रद्धा के चामत्कारिक स्वरूप को इन शब्दों में व्यक्त किया है:—

त्वन्नामकीर्तन-जलं शमयत्यशेषं दावानलम्।

(भक्तामर-स्तोत्र-40)

—हे परमेश्वर! तीर्थंकर! तुम्हारे नाम का कीर्तन रूपी जल समस्त कल्पान्तकारी विश्वसंहारक दावानल को भी शान्त कर देता है।

चिट्ठउ दूरे मंतो तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ।
नरतिरिएसु वि जीवा पावंति न दुक्खदोहग्गं॥

(आ. भद्रबाहु-कृत उपसर्गहर स्तोत्र)

— नमस्कार मंत्र की तो बात दूर की है, हे परमेश्वर। आपके प्रति किया गया नमस्कार भी अनेकानेक फलों को प्रदान करता है। भक्तिभाव से नमस्कार करने वाले प्राणी तिर्यञ्च आदि योनियों में कभी दुःख व दुर्भाग्य को प्राप्त नहीं करते। चूंकि जैन परम्परा में परमेश्वर प्राणियों के सुख-दुःख में हस्तक्षेप नहीं करता, वह तो संसारातीत होता

है, इसलिए उक्त चमत्कारिक लाभ होने की व्याख्या इस प्रकार की जाती है– परमेश्वर की आराधना से आत्मीय भावात्मक परिणाम प्रशस्त होते जाते हैं और फलस्वरूप अशुभ कर्मों की मन्दता व शुभ कर्मों की प्रबलता होती जाती है, जिससे समस्त संकटों का विनाश सम्भव हो जाता है।

उपर्युक्त श्रद्धा-भक्ति से सम्बद्ध चमत्कारों का वर्णन भारतीय साहित्य में प्रचुरतया प्राप्त होता है। निश्चित ही इन्हें प्राचीन मनीषियों द्वारा अनुभूत सत्य के रूप में मानने के लिए हम बाध्य हैं। वैदिक परम्परा के ईश्वर की तो स्पष्ट उद्घोषणा है– **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** (गीता, 9//31)- अर्थात् 'मेरा भक्त कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता', उसे कोई क्षति नहीं हो पाती। और भी– **अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्** (गीता, 9/22)– अर्थात् अनन्यचित्त से जो भक्त-श्रद्धालु मेरी उपासना करते हैं, उन के योग-क्षेम की सार-सम्भाल मैं करता हूं। योग-क्षेम से तात्पर्य है– नयी अभीष्ट उपलब्धियों की प्राप्ति, तथा प्राप्त उपलब्धियों की रक्षा। निष्कर्ष यह है कि भक्त कभी संकटों का सामना नहीं करता, यदि संकट आ भी जाएं तो भक्ति-भाव के अधीन परमेश्वर की कृपा से वे संकट नष्ट हो जाते हैं– यही श्रद्धा-भक्ति का चमत्कारी स्वरूप है जो वैदिक परम्परा में मान्य है। श्रद्धा की अडोलता से होने वाले चमत्कारों की पुष्टि करने वाले दो कथानक यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं। अभयकुमार का कथानक जैन परम्परा से सम्बद्ध है तो भक्त प्रहलाद का कथानक वैदिक परम्परा से सम्बद्ध है। भक्त या साधक के जीवन में श्रद्धा-भक्ति के कारण कभी-कभी कुछ चमत्कार घटित होते हैं, उसी का निदर्शन इन कथानकों के माध्यम से कराया जा रहा है। श्रद्धाजनित चमत्कारपूर्ण घटना की दृष्टि से इन कथानकों की समानता द्रष्टव्य है।

[१]
अमरकुमार
(जैन)

राजगृह नगर में ऋषभदत्त नाम का एक निर्धन ब्राह्मण रहता था। उसके आठ पुत्र थे। उसके सबसे छोटे पुत्र का नाम अमरकुमार था। यह परिवार अत्यन्त दरिद्रता में जीवन बिता रहा था। दरिद्रता के

कारण परिवार के प्रत्येक सदस्य को पेट भरने के लिए कुछ न कुछ कार्य करना पड़ता था।

अमरकुमार जंगल में ढ़ाक-पात बटोर कर शहर जाता था। उसे बेच कर वह चन्द पैसे प्राप्त करता था। जिस दिन वह 'काम' नहीं करता था, उस दिन उसे भोजन नहीं मिलता था।

एक बार जंगल में एक मुनिसंघ दिशाभ्रम के कारण भटक गया। मार्ग बताने वाला कोई न था। सहसा मुनि –प्रमुख की दृष्टि बालक अमरकुमार पर पड़ी। मुनि अमरकुमार के निकट आए और बोले– "बालक तुम कौन हो?"

"मेरा नाम अमरकुमार है।"

"कहां रहते हो?"

"राजगृह नगर में।"

"क्या हमें राजगृह का मार्ग बताओगे?"

"क्यों नहीं?" अमरकुमार बोला– "चलिए मेरे साथ। मैं आपको राजगृह तक का मार्ग बता देता हूं।"

मुनि-संघ अमरकुमार का अनुगमन करता हुआ राजगृह पहुंच गया। मुनि-प्रमुख ने अमरकुमार को साधुवाद दिया और पूछा– "बालक! यह आयु तो पढ़ने की है। तुम पढ़ते क्यों नहीं हो?"

अमरकुमार ने पारिवारिक दरिद्रता की कष्ट कहानी मुनियों को सुना दी। मुनियों का हृदय करुणार्द्र हो उठा। उन्होंने अमरकुमार को महामंत्र नमोकार प्रदान करते हुए कहा–"अमर! यह महामंत्र सदैव श्रद्धा से पढ़ना। यह सदैव तुम्हारी रक्षा करेगा।" श्रद्धासिक्त हृदय में महामंत्र धारण करके अमरकुमार अपने घर चला गया।

उस समय राजा श्रेणिक राजगृह के राजा थे। तब तक वे भगवान् महावीर के उपासक न बने थे। राजसी वैभव के प्रदर्शन के लिए उन्होंने राजगृह में एक अभूतपूर्व चित्रशाला का निर्माण कराया। चित्रशाला का सिंहद्वार अतीव भव्य बना। लेकिन रात्री में वह अचानक गिर गया। दूसरे दिन पुनः कुशल शिल्पियों ने सिंहद्वार का निर्माण किया। लेकिन रात्री में पुनः द्वार गिर गया। द्वार के पुनः पुनः ढ़ह जाने से राजा श्रेणिक को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने नगर के ज्योतिषियों को आमंत्रित किया। ज्योतिषियों ने

गणित लगाया और बोले– "राजन्! दैवी प्रकोप से चित्रशाला का सिंहद्वार पुनः पुनः ढ़ह जाता है। देवी नरबलि चाहती है। देवी की इच्छा-पूर्ति पर ही द्वार की स्थिरता संभव है।"

"नरबलि! कौन मनुष्य मरना चाहेगा?" श्रेणिक ने सोचा। बहुत सोचा। अन्ततः उन्हें एक मार्ग सूझ गया। उन्होंने नगर में उद्घोषणा कराई– जो भी व्यक्ति बलि के लिए अपने पुत्र को देगा, राजकोष से उसे पुत्र के तौल का स्वर्ण दिया जाएगा।

इस राजघोषणा की सर्वत्र निन्दा हुई। परन्तु स्वर्ण का लोभ भी कम न था। यह घोषणा ऋषभदत्त ने भी सुनी। उसने अपनी पत्नी से सलाह करके अपने पुत्र अमरकुमार को नरबलि के लिए राजा को सोंप दिया। पुत्र के तौल का धन लेकर वह सपने संजोता हुआ अपने घर लौट आया।

माता-पिता की निर्दयता देखकर अमरकुमार रो उठा। उसने नगरजनों से त्राण/रक्षा की भीख मांगी। परन्तु जिसके अपने माता-पिता ही अपने न हो सके, उसका कौन अपना होता? अमरकुमार को बलि- वेदिका पर लाया गया। ब्राह्मण मन्त्रोच्चार कर रहे थे। कांपते हुए अमरकुमार ने श्रेणिक से प्राण-दान की याचना की। श्रेणिक ने कहा– "बालक! हम तुम्हें बलात् नहीं लाए हैं। तुम्हारे माता-पिता स्वयं तुम्हें बेचकर गए हैं।"

असहाय अमर पर मृत्यु का ताण्डव था। उस क्षण उसे मुनियों द्वारा दिया हुआ महामंत्र स्मरण हो आया। उसकी आंखों में आत्मविश्वास का तेज उतर आया। उसकी कंपन मिट गई और भय समाप्त हो गया। वह तल्लीनता से नमोकार मंत्र पढ़ने लगा।

वधिक ने तलवार से अमर पर वार करना चाहा। लेकिन मंत्र के प्रभाव से वह दूर जा गिरा। दूसरे वधिक ने तलवार उठा कर वार किया तो उसकी भी वही गति हुई।

सर्वत्र आश्चर्य फैल गया। राजा और पण्डित अज्ञात भय से भर गए। सभी ने अमरकुमार से क्षमा मांगी। श्रेणिक ने उसे राज्य महल में रखना चाहा। परन्तु अमरकुमार तो संसार का बीभत्स रूप देख चुका था। उसने राजा का प्रस्ताव ठुकरा दिया और यज्ञ वेदी से उठकर उन महामुनियों

की खोज में निकल गया जिन्होंने उसे महामंत्र प्रदान किया था। इस तरह अखण्ड श्रद्धा के द्वारा 'नमोकार महामन्त्र' का दिव्य चमत्कार घटित हुआ। ❑❑

[२]

भक्त प्रह्लाद

(वैदिक)

हिरण्यकशिपु दैत्यों का राजा था। वह भगवान् का घोर विरोधी था। वह स्वयं को ही भगवान् मानता था। अपनी प्रजा को भी वह स्वयं को भगवान् मानने के लिए बाध्य करता था। जो भी व्यक्ति किसी भगवान् को मानता था वह उसकी हत्या करा देता था। वह घोर अहंकारी था।

हिरण्यकशिपु की रानी का नाम कयाधू था। जब वह गर्भवती थी तो उसे देवर्षि नारद के पास रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। देवर्षि नारद के सत्संग का उसके गर्भस्थ शिशु पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कयाधू ने जिस शिशु को जन्म दिया, उसका नाम प्रह्लाद रखा गया।

प्रह्लाद पांच वर्ष के हुए तो उसके पिता दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने गुरुपुत्रों के पास उन्हें शिक्षा के लिए भेज दिया। गुरुपुत्र बालक प्रह्लाद को दैत्य-परम्परा के अनुसार शिक्षा देते, लेकिन प्रह्लाद मात्र उस शिक्षा को सुनता था, ग्रहण नहीं करता था। उसके हृदय में तो भगवान् का नाम समाया था। वह भगवद्शिक्षा ही प्राप्त करना चाहता था। वह सदैव एकान्त में बैठकर भगवान् का भजन किया करता था।

एक बार प्रह्लाद घर आए। माता ने उन्हें वस्त्राभरणों से सजाया। प्रह्लाद पिता के पास गए। उन्हें प्रणाम करके उनकी गोद में बैठ गए। हिरण्यकशिपु ने प्रेम से अपने पुत्र के सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा– "बेटे! तुमने जो अच्छी बातें सीखी हैं, मुझे बताओ।"

प्रह्लाद बोले– "पिता जी! इस जगत् में भगवन्नाम के अतिरिक्त अन्य कुछ अच्छी बात नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को उस परमपिता का स्मरण करना चाहिए। उसी की ज्योति से यह समस्त ब्रह्माण्ड ज्योतिर्मय है।"

पुत्र की बात सुनकर हिरण्यकशिपु आश्चर्य में पड़ गया। उसने गुरु-पुत्रों को निर्देश दिया कि वे प्रह्लाद को दैत्य-कुल के अनुरूप

धर्म, अर्थ व 'काम' की शिक्षा दें। प्रह्लाद पुनः शिक्षा के लिए गुरु-पुत्रों के साथ चले गए। गुरुपुत्रों ने प्रह्लाद को दैत्य-मर्यादाओं की शिक्षाएं दीं। लेकिन प्रह्लाद ने उन्हें ग्रहण नहीं किया।

प्रह्लाद को जब भी समय मिलता, वे छोटे-छोटे बालकों को एकत्रित कर लेते और उन्हें भगवन्नाम की महत्ता बताते। अनेक बालक प्रह्लाद के अनुगामी बन गए।

शिक्षा-समाप्ति पर प्रह्लाद अपने घर पहुंचे। हिरण्यकशिपु ने पुनः एक दिन प्रह्लाद से कहा—"बेटे! आज तक तुमने जो सीखा है, उसका सार क्या है?"

" भगवान् की भक्ति ही सार है!" प्रह्लाद बोले— "पिता जी! भक्ति के अतिरिक्त शेष समस्त जागतिक पदार्थ निःसार हैं।"

पुत्र की बात सुनकर हिरण्यकशिपु लाल-पीला हो गया। उसने धक्का देकर प्रह्लाद को नीचे गिरा दिया। वह गरजा— "गुरु-पुत्रों! तुमने प्रह्लाद को शिक्षा के नाम पर हमारे शत्रु भवगान् की भक्ति सिखाई है। तुम्हारा अपराध अक्षम्य है।"

गुरुपुत्रों को भय से कांपते हुए देखकर प्रह्लाद ने कहा— "पिता जी! गुरु-पुत्र निर्दोष हैं। मैंने इनसे अक्षर-ज्ञान ही प्राप्त किया है, तात्त्विक ज्ञान नहीं। तात्त्विक ज्ञान तो मेरे हृदय से उमड़ा है। भगवद् भक्ति को स्रोत मेरी आत्मा से फूटा है।"

हिरण्यकशिपु अपना भान भूल गया। उसने प्रह्लाद को मार देने का आदेश दिया। दैत्य तलवार-भाले लेकर प्रह्लाद पर टूट पड़े। लेकिन उनके शस्त्र प्रह्लाद की देह को स्पर्श करते ही टूट कर बिखर गए। हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र को अनेक विधियों से मरवाना चाहा, लेकिन सफल न हो सका। हिरण्यकशिपु की बहन होलिका के पास एक ऐसा वस्त्र था जो आग को निष्प्रभावी बना देता था। होलिका वह वस्त्र ओढकर, प्रह्लाद को गोद में लेकर यह कहकर अग्निकुण्ड में बैठ गई कि यदि भगवान् में शक्ति होगी तो तुझे बचा लेंगे। चमत्कार घटा। होलिका का वस्त्र उड़कर प्रह्लाद की देह से जा लिपटा। होलिका जल मरी। प्रह्लाद बच गए।

हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानने लगा। उसने प्रह्लाद को मारने का स्वयं निश्चय कर लिया। उसने प्रह्लाद को दरबार

में बुलाया। प्रह्लाद आए। हिरण्यकशिपु ने खड्ग निकालकर क्रोध से कहा– "दुष्ट बालक! आज मेरे खड्ग से तुझे कोई नहीं बचा सकता। पुकार अपने भगवान् को। देखता हूं उसे भी।"

निर्भीक प्रह्लाद हंसे और बोले– "पिताजी! उसे पुकारने की आवश्यकता नहीं है। वह तो सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। आप में, मुझ में, इस खड्ग में, इस खम्भे में, सर्वत्र वही विद्यमान है।"

"क्या वे इस खम्भे में भी है?" हिरण्यकशिपु गरजा– "मैं देखता हूं कि हैं कि नहीं।" वह उठा और उसने जोर से एक मुक्का उस खम्भे पर मारा। एक भयंकर शब्द के साथ खम्भा फट गया। उसमें से नृसिंह भगवान् प्रगट हुए। उनका मुंह सिंह का था तथा शेष शरीर मनुष्य का। उन्होंने हिरण्यकशिपु को अपने पंजों में दबा लिया। दरबार के द्वार पर ले जाकर उन्होंने हिरण्यकशिपु के हृदय को अपने नखों से फाड़ डाला। देखते ही देखते अपने को सर्वशक्तिमान् मानने वाला अहंकारी हिरण्यकशिपु कालकवलित हो गया। नृसिंह भगवान् ने प्रह्लाद को अपनी गोद में उठा लिया। उसे प्यार करते हुए वे बोले– "बेटे! इस दुष्ट ने तुझे बड़े कष्ट दिए हैं। मुझे आने में विलम्ब हो गया।"

"आप प्रतिपल मेरे हृदय में थे परमपिता!" प्रह्लाद ने कहा– "आपने ही प्रतिक्षण मेरी रक्षा की।"

भगवन्नाम व भगवद्-भक्ति में दृढ़ श्रद्धावान् मनुष्य सदैव रक्षित होते हैं। [द्रष्टव्यः भागवतपुराण- 7/8/अध्याय, अग्निपुराण 4/3-5, 276/10,13]

OOO

सभी भारतीय धर्म- परम्पराओं में श्रद्धा-भक्ति से जुड़े चमत्कारों का घटित होना माना गया है और उनमें इस तथ्य के समर्थक अनेक कथानक पढ़े, पढ़ाए, सुने व सुनाए जाते रहे हैं। इन चमत्कारों की वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं है। परन्तु इनकी सत्यता को पूर्णतया नकारना भी सम्भव नहीं है। साधारण पाठक या अध्येता के मन में यह जिज्ञासा भी उठती रही है कि आखिर चमत्कार है क्या? चमत्कार

होता भी है या नहीं? तर्कशील मस्तिष्क भले ही इन्हें न स्वीकारे, श्रद्धालु मन इन्हें स्वीकार करता है।

वैदिक व जैन— इन दोनों विचारधाराओं से जुड़े तथा दैवी चमत्कारों से पूर्ण दो कथानक ऊपर प्रस्तुत किये गयें हैं। अभयकुमार का कथानक जैन परम्परा से, तथा भक्त प्रह्लाद का वैदिक परम्परा से सम्बद्ध है।

अमरकुमार के समस्त आश्रय अनाश्रय हो गए। सारे सहारे निरर्थक हो गए। यहां तक कि उसके माता-पिता और राजा घोर स्वार्थी हो गए। मृत्यु के क्षण में अमरकुमार को गुरु-प्रदत्त नमस्कार महामन्त्र का सहारा सूझा। महामंत्र नवकार के श्रद्धापूर्ण स्मरण से अपूर्व चमत्कार घटित हुआ।

इसी तरह, दैत्यकुल में हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद पुण्य-योग के कारण ईश्वर-भक्ति के मार्ग पर अग्रसर हुए। उनका यह कार्य दैत्यकुल की मान-मर्यादा के प्रतिकूल था। उनकी दृढ आस्था का ही चमत्कार था कि भगवान् विष्णु ने नरसिंह रूप में प्रकट होकर पिता के कोप से तथा दैत्यों से प्रह्लाद की रक्षा की।

अडोल आध्यात्मिक श्रद्धा की दृष्टि से दोनों कथानकों की समता उल्लेखनीय है। जहां तक वैदिक परम्परा का प्रश्न है, स्वयं परमात्मा अवतार रूप में अवतरित होकर लीलामय जीवन जीते हैं। उनकी कुछ क्रियाएं 'चमत्कार' रूप होती हैं। कई अवतार तो साक्षात् 'चमत्कार' रूप में प्रकट होते हैं— अर्थात् उनका अवतार ही एक चमत्कारपूर्ण घटना होती है। जैसे प्रह्लाद की रक्षा के लिए एकाएक नृसिंहावतार का प्रकट होना। इसके अतिरिक्त, ऐसी अनेक प्रसिद्ध पौराणिक घटनाएं हैं जिनमें संकटग्रस्त भक्त की पुकार पर भगवान् एकाएक प्रकट होकर तात्कालिक संकट से भक्त को उबारते हैं। जैसे भागवत पुराण (अष्टम सर्ग, 2-4 अध्याय) की 'गजेन्द्र-मोक्ष' कथा में ग्राह के शिकंजे में फंसे हुए भक्त गजेन्द्र की पुकार सुनकर प्रभु आते हैं और उसे संकट से उबारते हैं। महाभारत

में दुःशासन द्वारा चीर-हरण के संकट में द्रौपदी श्रद्धा से प्रभु को स्मरण करती है और भगवान् सूक्ष्म रूप में उपस्थित होकर चीर को इतना लम्बा बढा देते हैं कि दुःशासन थककर स्वयं पाप-कार्य से निवृत्त हो जाता है।

भगवान् ही नहीं, इन्द्रादि देव-असुर आदि भी यथासमय धर्मानुकूल चमत्कार करने में सक्षम माने गए हैं। इनके अलावा, योग-साधना के क्रम में प्राप्त होने वाली सिद्धियां भी सामान्य जनता को चमत्कृत करने वाली मानी गई हैं।

जहां तक जैन परम्परा का प्रश्न है, इस परम्परा में परमेश्वर संसार-निर्लिप्त होता है, अतः वह कोई चमत्कार नहीं करता। किन्तु तीर्थंकरों का अहिंसामय जीवन ऐसा होता है कि सामान्य मनोविकारग्रस्त जनता को तो चमत्कृत करता ही है। आधिदैविक जगत् के विशिष्ट प्राणी (शासन-देव, यक्ष, देवेन्द्र, असुरेन्द्र आदि, विद्याधर जाति आदि) कभी-कभी मुनष्य-लोक में उपस्थित होकर उपकार या अपकार की दृष्टि से जो कार्य करते हैं, वे भी सामान्य जनता के लिए चमत्कार ही होती हैं। देव आदि में जन्मजात ऐसी क्षमता होती है।

वैदिक परम्परा की तरह जैन परम्परा में भी तपोजनित चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धियों का होना सम्भव माना गया है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्तियां अन्तर्निहित होती हैं, तप द्वारा इन्हें प्रकट किया जा सकता है। ये शक्तियां भी लौकिक चमत्कार का कारण बनती हैं।

जैन परम्परा में मन्त्रादि-जनित चमत्कार दैवी चमत्कार के रूप में मान्य हैं। किन्तु इन चमत्कारों में श्रद्धा की प्रबलता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। जहां श्रद्धा होगी, वहीं कुछ चमत्कार घटित हो पाएगा। श्रद्धा की प्रबलता के कारण ही दैवी शक्तियां आकृष्ट होकर विविध चमत्कार करती हैं। इसीलिए कहा भी है– संदिग्धो हि हतो मन्त्रः (भागवत माहात्म्य, 73)। अर्थात् अश्रद्धा या संदेह-अविश्वास की स्थिति में मन्त्र का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

गुरु का गौरव

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

गुरु सागर के समान होता है और शिष्य घड़े के समान। घड़े को जल से भरने के लिए सागर के समक्ष झुकना, उसमें डूबना पड़ता है। घड़ा यदि सागर के समक्ष झुकने को तैयार नहीं है तो वह कदापि जल से भर नहीं सकता है। इसी तरह शिष्य को अपनी ज्ञान-पिपासा-उपशान्ति के लिए गुरु के समक्ष झुकना पड़ता है। गुरु-चरणों में झुका हुआ विनम्र शिष्य शीघ्र ही ज्ञानामृत का पान करके आत्मतृप्त हो जाता है।

गुरु का सम्मान और उसकी उच्चता को संसार के सभी धर्मों, पन्थों और महापुरुषों ने एक स्वर में स्वीकार किया है। जैन धर्म में शिष्य के लिए गुरु की विनय को उसका मूल धर्म बताया गया है—

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो॥

(विशेषा. भाष्य. 3468)

विनय जिन-शासन का मूल है। विनीत ही संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसका क्या धर्म और क्या तप?

भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी जिसमें संकलित मानी जाती है, उस उत्तराध्ययन सूत्र के प्रारम्भ में जो अध्ययन (परिच्छेद) है, वह

'विनय' के ऊपर ही है। इसमें गुरु या आचार्य की महत्ता व पूज्यता को ध्यान में रखकर शिष्य द्वारा रखी जाने वाली सावधानियों और कर्तव्यों का निरूपण प्राप्त होता है। गुरु या आचार्य सदैव वन्दनीय हैं, पूज्य हैं, आदरणीय हैं, नमस्करणीय हैं, स्तुति करने योग्य हैं। इस तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट होती हैः—

जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा, वंदिज्जा, नमंसिज्जा।

(राजप्रश्नीय सू. 4/76)।

— जहां भी धर्माचार्य या गुरु दिखाई पड़ें, उन्हें वन्दना करे, और नमस्कार करे।

गीर्यते वा गुरुः (उत्तराध्ययन-चूर्णि, पृ. 161)।

—जिसकी स्तुति की जाती है, वह गुरु होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार गुरु का अनुशासन दुष्कृतों का निवारक होता है (द्र. उत्तरा. 1/28)। गुरु के प्रसन्न होने पर विपुल श्रुत-ज्ञान की प्राप्ति हो पाती है और विनीत शिष्य की कीर्ति का सर्वत्र विस्तार होता है (द्र. उत्तरा. 1/45-46/)। गुरुकुल में रहकर, उनके सतत निर्देशन में रहकर, ज्ञानार्जन करने वालों को 'धन्य' कहा गया है— **धण्णा गुरुकुलवासं** (बृहत्कल्प-भाष्य- 5713)।

बौद्ध परम्परा में भी गुरु की पूज्यता का समर्थन इस प्रकार किया गया हैः—

यस्माहि धम्मं पुरिसो विजञ्ञा इन्दं व तं देवता पूजयेय।

(सुत्तनिपात-20/1)

—जिससे धर्म की शिक्षा ग्रहण करे, उसकी पूजा अदि उसी प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार देवता इन्द्र की करते हैं।

'गुरु' या 'आचार्य' ही वह प्रमुख स्रोत है जहां से विद्या या ज्ञानामृत प्राप्त किया जा सकता है। महर्षि व्यास के शब्दों में— **न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः** (महाभा. 12/326/22)। अर्थात् गुरु के बिना ज्ञान या विद्या की प्राप्ति नहीं सम्भव हो पाती। उपनिषद् के ऋषि ने इसके समर्थन में कहा— **आचार्यादेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति** (छान्दोग्य उप. 4/9/3), अर्थात् सद्गुरु से सीखी हुई विद्या ही व्यक्ति को अभीष्ट उद्देश्य को पाने में सफल बनाती है। मनुस्मृति में ज्ञानदाता को

सदा तथा सर्वप्रथम अभिवन्दनीय बताया गया है– **आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवन्दयेत्** (मनुस्मृति, 2/117), अर्थात् जिससे ज्ञान ग्रहण करे, उसे सर्व प्रथम अभिवन्दन करे। वैदिक ऋषि का निर्देश है– **दिवक्षसो अग्नि जिह्वा ऋतावृधः** (ऋग्वेद-10/65/7), अर्थात् सत्य के पोषक, तीक्ष्ण प्रवक्ता ज्ञानी देववत् पूज्य होते हैं। उपनिषद् में **'आचार्यदेवो भव'** (तैत्ति. उप. 1/11) कहकर माता-पिता की तरह आचार्य की भी पूज्यता का संकेत किया गया है।

वैदिक धर्म में भी कहा गया है–

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥

–'गु' शब्द का अर्थ है– अन्धकार। 'रु' शब्द का अर्थ है उसका निरोधक। अंधकार का निरोध करने से 'गुरु' कहा जाता है।

अंग्रेजी में एक शब्द है– अण्डरस्टेण्ड। इस शब्द में गुरु की गुरुता और शिष्य की विनम्रता ध्वनित होती है। 'अण्डर' शब्द का अर्थ 'नीचे' और 'स्टेण्ड' शब्द का अर्थ खड़े होना है। अतः 'अण्डरस्टेण्ड' का अर्थ हुआ, नीचे खड़े होना। लेकिन अण्डरस्टेण्ड का अर्थ समझना होता है। जो लोग अपनी शंकाओं का समाधान पाने और उनको समझने के लिए पादरी (धर्मगुरु) के पास जाते थे, वे एक स्थान-विशेष पर नीचे खड़े हो जाते थे और ऊपर खड़ा पादरी उनको समझाता था। चूंकि समझने वालों के खड़े होने या बैठकर समझने का स्थान नीचे होता था, इसलिए नीचे खड़े होने के अंग्रेजी पर्याय अण्डरस्टेण्ड का अर्थ ही समझना हो गया।

सभी धर्मों में गुरु को पूज्य स्थान उपलब्ध है। गुरु का आसन सदैव ऊपर और शिष्य का स्थान उसके चरणों में रहा है। विद्या-प्राप्ति अथवा ज्ञान-ग्रहण का यही एकमात्र उपाय भी है। ज्ञानपिपासु शिष्य अथवा व्यक्ति यदि उच्चासन पर बैठे और ज्ञानदाता शिक्षक अथवा गुरु निम्न आसन पर स्थित हो तो यह ज्ञान के आदान-प्रदान की उपयुक्त रीति नहीं है। उस स्थिति में प्रयत्न करके भी ज्ञानपिपासु की ज्ञानपिपासा उपशान्त नहीं हो पाएगी।

इसीलिए जिनवाणी में स्पष्ट निर्देश दिया गया है–

जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे॥ (दशवै. 9/1/12)

—जिससे धर्म-शिक्षा ग्रहण करे, उसके प्रति विनय-भाव प्रदर्शित करना अपेक्षित है। गुरु या आचार्य के बराबर बैठने का निषेध भी जिनवाणी में है (द्र. उत्तरा. सू. 1/18-19)।

शिक्षक और शिष्य के आसनों की उपयुक्तता को दर्शाती तीन कथाएं यहां उद्धृत की गई हैं। इनमें से एक कथा जैन कथा साहित्य से उद्धृत है तथा शेष दो कथाएं वैदिक धर्म की पौराणिक कथाओं से ली गई हैं।

[१]

राजा श्रेणिक और चाण्डाल

(जैन)

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व-मगध देश पर महाराजा श्रेणिक राज्य करते थे। राजगृह नगरी उनकी राजधानी थी। उनके बड़े पुत्र अभयकुमार बड़े बुद्धिमान् थे। इसीलिए श्रेणिक ने उन्हें अपना महामंत्री नियुक्त कर लिया था।

महाराजा श्रेणिक का गुणशीलक नामक एक अतिसुन्दर और विशाल राजोद्यान था। उस उद्यान के एक भाग में एक आम्रबाग था जो देव वरदान के कारण प्रत्येक ऋतु में फलवान् बना रहता था। सर्वऋतुफलदाता उस आम्रबाग की सुरक्षा के लिए सशस्त्र पहरेदार नियुक्त किए गए थे।

राजगृह के बाह्यभाग में एक चाण्डाल रहता था। उसे आकर्षणी विद्या सिद्ध थी। विद्याबल से वह चाण्डाल जड़ और चेतन वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित कर सकता था। अपने गुरु के निर्देश के कारण वह अपनी विद्या का प्रदर्शन चमत्कार या स्वरोजगार के लिए नहीं कर सकता था।

एक बार चाण्डाल की पत्नी गर्भवती हुई। उसे गर्भकाल में आम खाने की इच्छा हुई। गर्भकालीन इच्छाएं बड़ी प्रबल होती हैं। उसने अपने पति को आम खाने की अपनी इच्छा बताई। पति बोला— "प्रिये! तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। क्योंकि यह आमों की ऋतु नहीं है।"

चाण्डाल-पत्नी अपने पति की आकर्षणी विद्या और राजा श्रेणिक के सर्वऋतुफलदाता आम्रबाग के सम्बन्ध में जानती थी। उसने अपने पति

को राजा के बाग से फल लाने के लिए विवश कर दिया। त्रियाहठ के सम्मुख अन्ततः चाण्डाल को झुकना पड़ा।

सशस्त्र बागरक्षकों की आंखें बचाकर चाण्डाल ने आकर्षणी विद्या के प्रयोग से आम्रफलों से लदी एक शाखा को बाग की दीवार से बाहर झुकाया। फल तोड़े और अपनी पत्नी को लाकर दे दिए।

आम्रफल चोरी का यह क्रम कई दिन चला। राजा श्रेणिक को सूचना मिली। चोर को पकड़ने के अनेक यत्नों में विफल रहने पर, राजा ने यह दायित्व अभयकुमार को सोंपा। अभयकुमार रात्री में वेश बदलकर नगर-भ्रमण करने लगे। एक रात्री में चाण्डाल गृह के निकट से निकलते हुए अभयकुमार की दृष्टि कूड़े के ढ़ेर पर पड़े आम्रछिलकों पर पड़ी। फिर अभयकुमार को चोर को पकड़ते देर न लगी। अभयकुमार द्वारा चतुराई से पूछने पर चाण्डाल ने आकर्षणी विद्या-बल से आम्र चुराने की बात स्वीकार कर ली। दूसरे दिन चाण्डाल चोर को राजा श्रेणिक के समक्ष लाया गया। राजा श्रेणिक ने क्रोधित होते हुए चाण्डाल को मृत्यु-दण्ड सुना दिया।

मृत्यु को साक्षात् देखकर चाण्डाल भयविह्वल हो उठा। उसने करूण नेत्रों से अभयकुमार की ओर देखा। अभयकुमार दयार्द्र हो उठे। उन्होंने चाण्डाल की प्राणरक्षा के लिए अपने बुद्धिबल का उपयोग किया। उन्होंने ऐसा मार्ग निकाला कि चाण्डाल के प्राण भी बच गए और राजाज्ञा की अवहेलना भी नहीं होने दी।

अभयकुमार राजा श्रेणिक से बोले– "महाराज! यह चाण्डाल अभी मार दिया गया तो इसकी विद्या इसके साथ ही समाप्त हो जाएगी। अतः पहले आप इसकी आकर्षणी विद्या सीख लीजिए बाद में दण्ड दीजिए।"

राजा श्रेणिक को अभयकुमार की बात उचित लगी। उन्होंने चाण्डाल को बन्धनमुक्त कराया और उसे आदेश दिया कि उन्हें अपनी विद्या सिखाए। चाण्डाल राजा को विद्या सिखाने लगा। बार-बार दोहराकर भी श्रेणिक विद्या को कण्ठस्थ नहीं कर पा रहे थे। वे झुंझला उठे और बोले कि तुम मन लगाकर विद्या नहीं सिखा रहे हो।

यह सुनकर अभयकुमार बोले–"राजन्! आप गुरु-आसन की मर्यादा को तोड़ रहे हैं। आप ऊंचाई पर राजसिंहासन पर बैठे हैं और

आपको विद्या सिखाने वाला गुरु नीचे खड़ा है। इस ढंग से तो आप जीवन भर विद्या प्राप्त नहीं कर सकते हैं। आप राजा हैं और आपको विद्या देने वाला व्यक्ति आपकी प्रजा है। निःसंदेह यह चाण्डाल है, परन्तु इस क्षण यह आपका गुरु है और गुरु का आसन सदैव सर्वोपरि होता है। आप आसन बदल कर सीखिए।''

राजा श्रेणिक तीर्थंकर महावीर के परमभक्त थे। तात्त्विक बात वे तुरन्त समझ जाते थे। वे शीघ्र ही सिंहासन से नीचे उतरे और चाण्डाल को सिंहासन पर बैठाया और बोले—''गुरुदेव! मुझे विद्यादान दीजिए।''

चाण्डाल ने मंत्र बोला। प्रथम बार ही राजा श्रेणिक ने उसे हृदयंगम कर लिया। तत्पश्चात् उन्होंने चाण्डाल को पुनः वधिकों को सोंपते हुए उसका वध करने का निर्देश दिया।

अभयकुमार पुनः बोले— ''पृथ्वीनाथ! आप पुनः गुरु की महिमा को मिटा रहे हैं। गुरु तो सदा अवध्य होता है।''

राजा श्रेणिक ने चाण्डाल को मुक्त कर दिया। वह हंसते हुए अपने घर चला गया। *[त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से]* ❑❑

[२]

महाराजा जनक और मुनि अष्टावक्र

(वैदिक)

मिथिलाधिपति महाराजा जनक विद्वान् और आत्मज्ञानी सम्राट् थे। आत्मज्ञानी होने के कारण ही वे 'विदेह' कहलाते थे। महर्षि अष्टावक्र ने उनमें आत्मज्ञान— सम्यक्ज्ञान का प्रदीप प्रज्ज्वलित किया था। कथानक इस प्रकार है—

महाराजा जनक ने एक रात्री में एक भयावह स्वप्न देखा। शत्रु ने उनके राज्य पर आक्रमण कर दिया। जनक पराजित हो गए। वे दीन-दरिद्र बने दर-दर के भिखारी बन गए। क्षुधा ने उनको विचलित कर दिया। एक जगह खिचड़ी बंट रही थी। जनक भी याचकों की पंक्ति में लग गए। लेकिन जब उनका क्रम आया तो खिचड़ी समाप्त हो गई। उनको व्याकुल देखकर खिचड़ी परोसने वाले ने बर्तन में शेष खुरचन जनक को

दे दी। तभी एक चील ने झपट्टा मारा। खिचड़ी बिखर गई। क्षुधा से व्याकुल जनक मूर्च्छित हो गए। फिर उनकी निद्रा टूट गई। हैरान-परेशान जनक ने इधर-उधर देखा। वे स्वर्ण-पर्यंक पर थे। उनके अन्तर्मानस में एक प्रश्न उभरा– "सत्य क्या है?" "भिखारी जनक सत्य है या राजा जनक सत्य है?" चन्द क्षण पहले का भिखारी जनक उतना ही सत्य प्रतीत होता था जितना कि वर्तमान क्षण का राजा जनक।

महाराजा जनक सत्य की तह तक नहीं पहुंच पाए। वे उदास हो गए। उनकी सभा में अनेक विद्वान् थे। लेकिन कोई भी उन्हें समाधान नहीं दे पाया। एक दिन अष्टवर्षीय आत्मज्ञानी अष्टावक्र महाराज जनक की सभा में पहुंचे। वहां अनेक विद्वान् उपस्थित थे। आठ जगह से टेढे-मेढे अष्टावक्र को देखते ही सभा में उपस्थित विद्वान् खिलखिलाकर हंस पड़े। जनक के अधरों पर भी मुस्कान उभर आई। यह देख कर अष्टावक्र भी हंसने लगे।

महाराजा जनक ने अष्टावक्र से पूछा–"बालक! तुम क्यों हंसें?" अष्टावक्र ने प्रतिप्रश्न किया–"आप और आपके सभासद क्यों हंसे?" जनक ने सभासदों की हंसी का कारण उनकी बेढब आकृति को बताया। इस पर अष्टावक्र बोले– "मैं अपनी भूल पर हंसा। मैं भूलवश चमारों की सभा में आ पहुंचा हूं। भ्रमवश मैंने इसे विद्वानों की सभा समझ लिया था। चमार चमड़े की ही परख कर सकता है, वह आत्मगुण को नहीं पहचान सकता।"

महाराज जनक ने तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। नन्हे अष्टावक्र के सत्य शब्दों ने उनके अन्तस् को हिला दिया था। अष्टावक्र में उन्हें ज्ञानात्मा के दर्शन हुए। उन्होंने अपने मन का प्रश्न अष्टावक्र के समक्ष रखते हुए कहा– "विप्रवर! मुझे बताइए कि मैं राजा हूं या भिखारी? सत्य दर्शन का वरदान दीजिए ऋषिवर!"

अष्टावक्र सख्त स्वर में बोले– "नासमझ राजा! तुम प्रश्न का समाधान चाहते हो। लेकिन तुम्हें गुरु और शिष्य के आसनों की मर्यादा का विवेक नहीं है। सर्वप्रथम जिज्ञासु की मर्यादा का पालन कीजिए।"

जनक को अपनी भूल का अहसास हुआ। वे सिंहासन से नीचे उतर गए और अष्टावक्र को ससम्मान राजसिंहासन पर आसीन किया।

तत्पश्चात् अष्टावक्र को प्रणाम करके जनक ने जिज्ञासा रखी– "गुरुदेव! मुझे सत्य मार्ग का ज्ञान दीजिए। मुझे समझाइए कि स्वप्न के क्षण का भिखारी जनक सत्य है या स्वप्न के पश्चात् का राजा जनक सत्य है?"

अष्टावक्र ने कहा–"राजन्! जिसे आप अपना समझते हैं, वही मुझे दे दीजिए।" जनक ने कहा– "मैं अपना आधा राज्य आपको देता हूं।" इस पर अष्टावक्र सस्मित स्वर में बोले–"पर राज्य आपका है कहां?" जनक आश्चर्यचकित होते हुए बोले– "तो किसका है? गम्भीर होते हुए अष्टावक्र ने पूछा– "आपसे पहले इस राज्य का स्वामी कौन था?" जनक ने उत्तर दिया– "मेरे पिता।" अष्टावक्र ने पुनः प्रश्न किया– "और आपके बाद इस राज्य का स्वामी कौन होगा?" जनक बोले–"मेरा उत्तराधिकारी इसका स्वामी होगा।"

अष्टावक्र ने सत्य का दर्शन अनावृत करते हुए कहा–"राजन्! जिस साम्राज्य के स्वामी बदलते रहते हैं, वह तुम्हारा कैसे हो सकता है? आज जिसे तुम अपना कह रहे हो, वह कल किसी का था और कल किसी और का होगा। केवल मध्य में तुम्हारा है। और जो अस्थायी या क्षणिक तुम्हारा है, वह तुम्हारा कैसे हो सकता है।"

महाराज जनक की आंखों पर से ममत्व का पर्दा हट गया। वे बोले– "गुरुदेव! यह राज्य मेरा नहीं है। मैं अपना मन आपको अर्पित करता हूं।"

अष्टावक्र ने महाराजा जनक का मन स्वीकार करते हुए कहा– "राजन्! आपका मन अब मेरा हो गया। अतः आपके मन में जो आए उसे आगे बढ़ाना या न बढ़ाना मेरा अधिकार है।"

ऐसे विलक्षण गुरु बालक को पाकर जनक गद्गद थे। फिर अष्टावक्र ने जनक के प्रश्न का उत्तर दिया–

"तू अब भिखारी नहीं है, राजा है। स्वप्न में तू राजा नहीं था, भिखारी था। अतः भिखारी और राजा दोनों असत्य हैं क्योंकि असत्य अस्थिर होता है, वह नष्ट हो जाता है। लेकिन स्वप्न में तू था, अब भी तू है और भविष्य में भी तू रहेगा। शेष सब बनेगा, मिटेगा, लेकिन तू सदैव अपरिवर्तनशील सदा-स्थिर रहेगा। इसलिए तू ही सत्य है, शेष सब असत्य है। तू आत्मा है। तू न राजा है, न भिखारी है। अतः आत्मा ही सत्य है। यह

सनातन है। शाश्वत है। तू था, है और रहेगा। भिखारी नहीं रहा। राजा भी नहीं रहेगा। सत्य सदा रहता है। असत्य नहीं रहता है।''

महाराजा जनक और महर्षि अष्टावक्र के मध्य चले इस संवाद के फलस्वरूप 'अष्टावक्र गीता' का जन्म हुआ जो आज भी अध्यात्म जगत् का महान् ग्रन्थ माना जाता है।

❑❑

[३]
भक्तराज हनुमान्
(वैदिक)

वैदिक मान्यतानुसार महाभारत के युद्ध में भक्तराज हनुमान् अर्जुन की ध्वजा पर विराजित रहे थे। हनुमान् ने ध्वजा पर रहते हुए ही श्रीकृष्ण का गीता-संदेश श्रवण किया था। गीतोपदेष्टा श्रीकृष्ण से उच्चासन— ध्वजा पर बैठकर गीता उपदेश सुनने से हनुमान् ने श्रोता की मर्यादा का उल्लंघन किया था। अतः उन्होंने अपने इस दोष को धोने के लिए श्रीकृष्ण से क्षमा मांगना उचित समझा।

युद्धोपरान्त हनुमान् ध्वजा से नीचे उतरे और श्रीकृष्ण से बोले— ''भगवन्! आपने गीता का जो ज्ञान अर्जुन को दिया था, वह मैंने भी पूरे मनोयोग से ध्वजा पर बैठे-बैठे सुना था। वह सम्पूर्ण गीता ज्ञान मैंने आत्मसात् कर लिया है। मेरा ज्ञान-ग्रहण ज्ञान की चोरी और श्रोता की मर्यादा का उल्लंघन न माना जाए, इसीलिए मैं आपसे क्षमा मांगने और एतदर्थ आपको सूचित करने उपस्थित हुआ हूं।''

श्रीकृष्ण बोले— ''भक्तराज! यह रहस्य बताकर तुम ज्ञान की चोरी के पाप से तो मुक्त हो गए हो परन्तु तुमने श्रोता की मर्यादा का उल्लंघन किया है। इसके लिए तुम्हें दण्ड भोगना होगा। निःसंदेह तुम भक्तराज हो और असंख्य भक्तजन तुम्हें हृदय में धारण करके तुम्हारी उपासना करते हैं, परन्तु अक्षम्य दोष को तो भगवान् को भी अपनी ज्ञान और कर्म की शुद्धि से परिशुद्ध करना पड़ता है।''

श्रीकृष्ण बोलते चले गए—''हनुमान्! तुम को याद होगा कि अशोक वाटिका में माता-सीता अशोक वृक्ष के मूल में नीचे बैठी थी। और

तुम अशोक वृक्ष के ऊपर चढ़े हुए रामकथा कह रहे थे। सीता तुम्हारी पूज्य थी, फिर भी चूंकि वह श्रोता थी, इसलिए नीचे बैठकर रामकथा सुन रही थी और तुम पुत्र होकर भी चूंकि वक्ता थे, अतः ऊपर बैठे कथा कह रहे थे। वैसी मर्यादा का पालन तुमने नहीं किया। उच्चासन से ज्ञान ग्रहण किया। यह महापाप तुमसे हुआ है।''

हनुमान् ने कहा–''तो प्रभो! इसका प्रायश्चित्त भी आप ही बताइए। मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् अपने भक्तों को भी दण्डित करते हैं। मर्यादा की रक्षा के लिए श्रीराम ने परम पवित्र सीता को भी वनवास दिया था।'' श्रीकृष्ण बोले–''वक्ता से ऊंचे आसन पर बैठने के महापाप से परिशुद्ध होने के लिए तुम्हें पिशाच बनना पड़ेगा। जब तुम गीता पर भाष्य लिखोगे तो पिशाच योनि से मुक्त हो जाओगे।'' कहते हैं, गीता का हनुमद्भाष्य हनुमान् जी ने पिशाच योनि से मुक्ति के लिए लिखा था।

OOO

भारतीय संस्कृति की दोनों प्रमुख विचारधाराओं– वैदिक व जैन के पुरोधा आचार्यों ने 'गुरु की महत्ता' को एक स्वर से स्वीकारा है और उसे व्यावहारिक जीवन में उचित सम्मान देने की अनिवार्यता को भी रेखांकित किया है। भारतीय संस्कृति की उक्त व्यावहारिक शिक्षा का समर्थन उपर्युक्त कथानकों में समान रूप से अभिव्यक्त हो रहा है।

कथाओं के घटना-प्रसंग सर्वथा भिन्न हैं, पर सभी का हार्द और कथ्य एक ही है। वह यह है कि गुरु यदि चाण्डाल और नीच वर्ण का भी हो तथा शिष्य या श्रोता राजा हो तो भी वह राजसिंहासन पर बैठकर विद्या प्राप्त नहीं कर

सकता। ज्ञान-प्राप्ति के लिए राजा श्रेणिक को राजसिंहासन से नीचे उतर कर चाण्डाल ज्ञानदाता को उस पर आसीन करना पड़ा था। ठीक ऐसा ही घटनाक्रम महाराज जनक और महर्षि अष्टावक्र के सम्बन्ध में वैदिक ग्रन्थों में वर्णित है। तीसरी कथा हनुमान्जी द्वारा गीता-ज्ञान के श्रवण से सम्बन्धित है। उन्होंने वक्ता श्रीकृष्ण से ऊंचे आसन—अर्जुन के रथ की ध्वजा पर स्थिर रहकर गीता-पाठ श्रवण किया था। गुरु पद की मर्यादा का भंग हो जाने के कारण श्रीकृष्ण ने हनुमान्जी को पिशाच बनने का दण्ड दिया था।

तीनों कथाएं रोचक, सरस और गुरु की महिमा को एक स्वर में पुष्ट करती हैं।

●

सत्संग की महिमा

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

पापाचरण से मनुष्य पापी हो जाता है और धर्माचरण से धर्मात्मा। पाप मनुष्य को पतित करता है तथा धर्म उसका उत्थान करता है। इसीलिए पाप त्याज्य है और धर्म ग्राह्य।

अज्ञान के कारण मनुष्य पाप में संलग्न होता है। जब उसका अज्ञान टूटता है तो उसकी आंख खुलती है। पाप का स्वरूप और परिणाम जब उसे ज्ञात होता है तो फिर उसे छोड़ने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। वह स्वतः छूट जाता है। पापमुक्त मनुष्य पवित्र बन जाता है।

इस पवित्रता के संचार में संगति का महत्त्व निर्विवाद है। साधुजनों की सत्संगति से या सद्गुरु के सुयोग से ही सज्ज्ञान का प्रकाश मिल सकता है और फलस्वरूप व्यक्ति अपने आचरण को सुधार कर धर्मात्मा बन सकता है। वैदिक परम्परा में संगति के सम्बन्ध में बड़े उपयोगी विचार प्रस्तुत किये गए हैं। महाभारतकार व्यास ने एक सनातन नियम का निरूपण इस प्रकार किया हैः—

हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥

(महाभा. 3/1/30)

—अपने से हीन (गुणों वाले) व्यक्तियों की संगति से व्यक्ति

हीन बन जाता है। समान श्रेणी की संगति से जैसा का वैसा ही रहता है और विशिष्ट (उच्च विचार वाले) लोगों की संगति से विशिष्ट व्यक्ति बन जाता है। तात्पर्य यह है कि संगति के अनुरूप ही व्यक्ति का व्यक्तित्व परिष्कृत या तिरस्कृत आदि हो जाता है। इसी दृष्टि से संस्कृत के एक कवि ने ठीक ही यह परामर्श दिया है– **सद्भिरेव सहासीत, सद्भिः कुर्वीत संगतिम्** (सुभाषितरत्नभाण्डागार)- अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि वह सज्जनों के साथ ही उठे-बैठे और उन्हीं की संगति में रहे। वैदिक ऋषि भी यही कामना प्रकट करता है– **पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि** (ऋग्वेद, 5/51/15)– अर्थात् हम दानी, अहिंसक विद्वान् की संगति करें। महर्षि व्यास के मतानुसार- **सतां सद्भिर्नाफलः संगमोऽस्ति** (महाभारत, 3/297/97) अर्थात् सज्जनों की संगति कभी निष्फल नहीं होती। निश्चय ही सत्संगति से व्यक्ति में सद्गुणें का विकास होकर महापुरुष होने की क्षमता सार्थक होती है।

आदिगुरु शंकराचार्य ने कहा था–

क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका।
भवति भवार्णवतरणे नौका॥

सज्जनों की एक क्षण की संगति भी भव-सागर से उतारने वाली नौका के समान होती है। संग अपना रंग दिखाता है। दुर्बल-मानस मनुष्यों को कुसंग विनाश के गर्त में ढ़केल देता है। कहा गया है–

पाइ कुसंगति को न नसाई।

अर्थात् कुसंग पाकर कौन नष्ट नहीं हुआ? आत्मा परमात्मा रूप होती है। कुसंग से आत्मा मैली हो जाती है। सुसंग का संयोग आत्मा को सन्मार्ग का पथिक बना देता है, जिस से वह अपने शुद्ध-बुद्ध निरंजन स्वरूप को पुनः प्राप्त कर लेती है। सुसंग महान् प्रभावक होता है। कहा गया है–

शठ सुधरहिं सत संगति पाई।

अर्थात् दुष्ट भी सत्संग पाकर सुधर जाते हैं। लोहे से स्वर्ण बन जाते हैं। सुसंग- सत्संग को पाप-ताप और अभिशाप का हर्त्ता बताते हुए गर्गसंहिता में कहा गया है–

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुर्हरेत्।
पापं तापं तथा दैन्यं सद्यः साधुसमागमः॥

अर्थात् गंगा पाप का, चन्द्रमा ताप का और कल्पवृक्ष दैन्य

(द्ररिद्रता)के अभिशाप का अपहरण करता है, परन्तु सज्जनों का समागम पाप, ताप और दैन्य-अभिशाप— तीनों का तत्काल नाश कर देता है।

बौद्ध परम्परा में भी वैदिक परम्परा के उपर्युक्त स्वर को ही मुखरित किया गया है। इसके समर्थक निम्नलिखित उद्धरण मननीय हैं—

यादिसं कुरुते मित्तं यादिसं चूपसेवति।
स वे तादिसको होति, सहवासो हि तादिसा।

(इतिवुत्तक, 3/27)

जो जैसा मित्र बनाता है और जो जैसा सम्पर्क रखता है, वह वैसा ही बन जाता है, क्योंकि सहवास (का प्रभाव ही) ऐसा है।

सुखो हवे सप्पुरिसेन संगमो (विमानवत्थु, 2/34/411)
— सज्जन की संगति सुखदायी होती है।

सब्भिरेव समासेथ, पण्डिते हेत्थ दस्सिभिः।

(थेरगाथा, 7(1)4)

—विद्वान् और आत्महितैषी को सत्पुरुषों के साथ ही रहना चाहिए।

निहीनसेवी न च बुद्धसेवी, निहीयते कालपक्खे व चंदो।

(दीघनिकाय, 3/8/2)

—जो नीच पुरुषों की संगति करते हैं, ज्ञानी जनों की संगति नहीं करते, वे कृष्णपक्षी चन्द्रमा की तरह हीन-क्षीण होते जाते हैं।

जैन परम्परा में भी उक्त विचारधारा का ही समर्थन प्रचुरतया प्राप्त होता है। एक जैनाचार्य की उक्ति इस प्रसंग में मननीय हैः—

दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संसदो वि दोसेण।
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव॥

(भगवती आराधना, 346)

— दुर्जन के संसर्ग से निर्दोष व्यक्ति भी लोगों द्वारा दोषयुक्त ही गिना जाता है। मदिरा-गृह में जाकर दूध पीने वाले ब्राह्मण को भी लोग मद्यपायी (शराबी) ही समझते हैं।

जिनवाणी स्पष्ट रूप से दुर्जन नीच व मूर्ख की संगति से बचने तथा सज्जनों की संगति करने की स्पष्ट प्रेरणा देती हैः—

कुज्जा साहूहि संथवं (दशवै. 8/53)।

—सज्जनों-साधुओं की संगति करनी चाहिए।

अलं बालस्स संगेण *(आचारांग. 1/2/5)।*

—मूर्ख/मूढ व्यक्ति की संगति नहीं करनी चाहिए।

खुड्डेहि सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए। *(उत्तरा. 1/9)।*

— क्षुद्र (नीच) लोगों के साथ हंसी-मजाक, खेल खेलने आदि किसी भी प्रकार के संसर्ग से बचे।

उपर्युक्त समग्र भारतीय विचारधारा की पृष्ठभूमि में कुछ कथानक यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं। जहां महर्षि वाल्मीकि का कथानक वैदिक परम्परा से है, वहां अर्जुनमाली व सुलस कसाई के कथानक जैन परम्परा से हैं। अंगुलिमाल का जीवन-वृत्त बौद्धपरम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। इन सभी कथानकों में सत्संगति के नैतिक उपदेश का समर्थन तो कथाकार का अभीष्ट रहा ही है, साथ ही सत्संगति से व्यक्ति के उदात्त व परिष्कृत होने का निदर्शन भी है।

[1]
अर्जुनमाली
(जैन)

अर्जुनमाली राजगृह नगर का रहने वाला था। कुछ दुष्ट युवकों ने उसके सामने ही उसकी पत्नी बन्धुमती से बलात्कार किया तो अर्जुन के क्रोध की सीमा न रही। उसने अपने इष्टदेव मुद्गरपाणि यक्ष को पुकारा। यक्ष अर्जुन में प्रवेश कर गया। यक्ष की शक्ति से अर्जुनमाली की देह अपरिमित बल से सम्पन्न हो गई।

क्रोध और बल का सम्मिलन हुआ तो हिंसा का दरिया बह गया। अर्जुनमाली ने हजारों लोगों को मौत की नींद सुला दिया। अर्जुन के आतंक से पूरा मगध प्रदेश थर्राने लगा। भयभीत राजगृहवासियों ने नगर-द्वार बन्द कर लिए। राजा-प्रजा किसी का भी वश नहीं चला अर्जुनमाली पर।

तीर्थंकर महावीर राजगृह के बाहर पधारे। नगर के श्रद्धालु श्रावक भगवान् के दर्शनों के लिए उतावले बने। लेकिन भगवान् तक

पहुंचने के लिए अर्जुनमाली रूपी मौत की नदी को पार करना था। यह साहस कोई न जुटा पाया।

महावीर के परमभक्त सुदर्शन सेठ राजगृह में रहते थे। उन्हें भी प्रभु-पदार्पण का सुसमाचार मिला। प्रभु-दर्शन की तीव्र प्यास बलवती हुई। सुदर्शन को सभी ने रोकने का प्रयास किया। अर्जुमाली का भय दिखाया। लेकिन जिसे सच्ची लगन हो, उसे कोई नहीं रोक सकता। मृत्यु उसे भयभीत नहीं कर सकती।

सुदर्शन नगर से बाहर निकले। गुणशीलक उद्यान की ओर जहां महावीर विराजित थे, उनके कदम बढ़ रहे थे। सहसा अर्जुनमाली उधर से आ निकला। निर्भय सुदर्शन को देखकर उसने मुद्गर घुमाया और अट्टहास करते हुए उन्हें मारने को दौड़ा।

अंगुलिमाल

बौद्ध साहित्य में अंगुलीमाल नामक एक डाकू की कथा आती है। उसमें बताया गया है कि डाकू भी संत बन सकता है। कथा इस प्रकार है—

अंगुलिमाल नाम का एक क्रूर डाकू था। उसने निश्चय किया था कि एक हजार लोगों को मारकर उनकी अंगुलियों की माला बना कर वह अपने गले में धारण करेगा। इसीलिए उसका नाम अंगुलिमाल पड़ गया था।

अंगुलिमाल के लिए किसी की हत्या कर देना कठिन कार्य न था। उसका हृदय आर्त्तनाद सुन-सुनकर पत्थर का हो गया था। वह नौ सौ निन्यानबे लोगों को मार चुका था। नौ सौ निन्यानबे अंगुलियों की माला उसके गले में थी। अपने एक हजारवें शिकार की खोज में वह जंगल में भटक रहा था।

तथागत बुद्ध आत्मसाधना कर रहे थे। अंगुलिमाल की दृष्टि बुद्ध पर पड़ी। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। रौद्र रूप धारण किए हुए वह बुद्ध की हत्या करने के लिए उनकी ओर बढ़ा। बुद्ध अभय थे। शान्त, दान्त-निर्भय। अंगुलिमाल आश्चर्यचकित हो उठा। आज तक उसने मृत्यु से भागते भयभीत लोगों को ही देखा था। अभय पुरुष को समक्ष देखकर आज वह स्वयं भयभीत हो गया।

तथागत के हृदय की करुणा अंगुलिमाल पर बही। वे बोले- "दस्युराज! क्या चाहते हो?"

"मैं तुम्हारा वध करना चाहता हूं।" अंगुलिमाल बोला-"तुम्हारी अंगुली काटकर अपनी अंगुलिमाला को पूर्ण करूंगा।"

"मेरी हत्या से पहले मेरा एक छोटा सा कार्य कर दो।" बुद्ध ने कहा।

"कहिए! क्या करूं?" अंगुलिमाल ने पूछा।

मृत्यु साक्षात् थी। सुदर्शन सेठ ने प्रभु को भाववन्दन किया और सागरी संथारा धारण करके ध्यानस्थ हो गए। अर्जुन सुदर्शन के समक्ष पहुंचा। मुद्गर घुमाया। लेकिन यह क्या? मुद्गर वाला हाथ जड़ हो गया! अर्जुन ने सुदर्शन को अपलक देखा। अर्जुन की देह में संस्थित यक्ष सुदर्शन के तेज का सामना न कर सका। वह अर्जुन की देह से निकल कर भाग गया।

अर्जुन की देह निढ़ाल हो गई थी। वह खड़ा न रह सका। छः माह से वह निराहार था। सुदर्शन ने उपसर्ग टला जानकर ध्यान खोला। अर्जुन की दशा पर उन्हें बड़ी करुणा आई। उन्होंने अर्जुन को संभाला। अर्जुन ने सुदर्शन को प्रणाम करते हुए पूछा– "आप कहां जा रहे हैं?"

"मैं महावीर का उपासक हूं।" सुदर्शन सेठ बोले– "महावीर गुणशीलक में विराजित हैं। उन्हीं के दर्शनों के लिए मैं जा रहा हूं।"

"महावीर कौन हैं?" अर्जुन ने पूछा।

"महावीर जिनधर्म के प्रवर्त्तक हैं।" सुदर्शन सेठ बोले– "वे करुणा और अहिंसा के परमावतार हैं। वे मंगल और कल्याण के द्वार हैं। राजा और रंक, पापी और पुण्यात्मा सभी पर वे एक दृष्टि रखते हैं। उनका द्वार सभी के लिए खुला है।"

"क्या मुझ जैसे अधम और हिंसक के लिए भी?" अर्जुन ने

"सामने वृक्ष से कुछ पत्ते तोड़ लाओ।" बुद्ध बोले।

अंगुलिमाल ने झटपट बुद्ध का कार्य कर दिया। अंगुलिमाल ने बुद्ध को पत्ते देते हुए अपनी तलवार खींची। बुद्ध बोले–"धैर्य रखो अंगुलिमाल! अब इन पत्तों को इनकी शाखा पर पुनःस्थापित कर दो, जोड़ दो।"

अंगुलिमाल सहमते हुए बोला– "यह असंभव है। डाल से टूटा हुआ पत्ता दोबारा जुड़ नहीं सकता है। यह कार्य मुझसे नहीं होगा।"

बुद्ध बोले–"जो जोड़ न सके, उसे तोड़ने का भी कोई अधिकार नहीं है। अंगुलिमाल! तुम तोड़ने में बड़े कुशल हो। परन्तु जोड़ना नहीं जानते हो। तुम जीवन छीनना जानते हो, देना नहीं। तुमने हजारों लोगों से उनके जीवन छीने हैं, लेकिन क्या आज तक एक को भी जीवन दे सके हो?"

बुद्ध की वाणी ने अंगुलिमाल के हृदय में उथल-पुथल मचा दी। उसका जीवन बदल गया। उसने बुद्ध के चरण पकड़ कर सदा-सदा के लिए हिंसा का त्याग कर दिया। परार्थ और परमार्थ के लिए उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया। ❑❑

पूछा। "क्यों नहीं।" सुदर्शन ने कहा– "अर्जुन! सत्य तो यही है कि वे महाप्रभु तुम्हारे उद्धार के लिए ही यहां पधारे हैं। तुम मेरे साथ चलो। तुम्हारे भीतर संचित पाप-पंक को उनकी अमृत-देशना प्रक्षालित कर डालेगी।"

सुदर्शन ने सहारा देकर अर्जुन को उठाया। दोनों चल पड़े प्रभु के दर्शनों के लिए। राजगृह की प्राचीरों से हजारों लोग यह दृश्य देख रहे थे। प्रभु-महिमा को देखकर हजारों हृदय गद्गद हो गए। छः माह से बन्द राजगृह के द्वार खुल गए।

अर्जुनमाली महावीर के पास पहुंचे। महावीर की अमृतवर्षिणी वाणी में स्नान करके उन्हें शीतलता की अनुभूति मिली। सुदर्शन तो लौट आए पर अर्जुनमाली नहीं लौटे। उन्होंने मुनि-धर्म अंगीकार कर लिया। छः माह तक अर्जुन मुनि ने संयम का पालन किया। लोगों ने उन्हें भोजन के स्थान पर गालियां और प्रताड़ना दीं। अत्यन्त समताशील रहते हुए क्षमा भाव के जल से उन्होंने संचित पापों को धो डाला। छः माह में क्रोध से एकत्रित पापों को छः माह में ही क्षमा, तप और समता से नष्ट कर डाला। 'केवल ज्ञान' प्राप्त कर वे मोक्षाधिकारी बने। *[अन्त कृत् सूत्र से]*

❑❑

[२]
सुलस कसाई
(जैन)

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर इस धराधाम पर विचरण करते हुए जन-जन के मन की धरा पर अहिंसा और करुणा का वासन्ती वर्षण करते थे।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह नगर के बाहर गुणशीलक उद्यान में पधारे। राजगृह की जनमेदिनी भगवान् के दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी। मगधदेश के महामंत्री अभयकुमार को जब भगवान् के पधारने की सूचना मिली तो वे अत्यन्त उत्साहित होते हुए नंगे पैरों ही प्रभु -दर्शन के लिए चल पड़े।

जंगल में अकेले और नंगे पैर चलते हुए अभयकुमार के पैर में एक शूल चुभ गया। वे लंगड़ा कर चलने लगे। राजगृह नगर के कुख्यात कसाई कालसोकरिक का पुत्र 'सुलस' शिकार के लिए जंगल में घूम रहा था। उसने मगध में महामंत्री को नंगे पैर और बिना सुरक्षा व्यवस्था के देखा। उसे आश्चर्य हुआ। वह अभयकुमार के निकट आया और उन्हें प्रणाम करके अपना आश्चर्य प्रकट किया– "महामंत्री! आज इस अवस्था में कहां जा रहे हैं? न रथ, न सेना और न ही जूता!"

अभयकुमार सुलस को जानते थे। उन्होंने कहा– " सुलस! पहले मेरे पैर में चुभे शूल को निकालो। बाद में मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूंगा।"

सुलस ने तीर की तीक्ष्ण नोक से अभय कुमार के पैर से शूल निकाल दिया। उन्हें बड़ा आराम मिला। वे बोले–"सुलस! गुणशीलक उद्यान में भगवान् महावीर आए हैं। वे परम वैद्य हैं। वे जीवन में चुभे हिंसा-घृणा और अधर्म के शूलों को निकालते हैं। मैं उन्हीं के पास जा रहा हूं।"

"क्या मैं भी आपके साथ चलूं?" सुलस ने पूछा– "क्या वह द्वार मेरे लिए भी खुला है?"

"क्यों नहीं, सुलस!" अभय बोले–"महावीर का द्वार प्रत्येक का अपना द्वार है। वे सब की चिकित्सा करते हैं।"

गुणशीलक तक के मार्ग में महामंत्री अभय और सुलस के मध्य मधुर वार्तालाप चलता रहा। अभय के सुमधुर व्यवहार और निश्छल प्यार ने सुलस के हृदय में परिवर्तन के बीज बो दिए। वे दोनों भगवान् महावीर की सभा में पहुंचे। भगवान् महावीर ने अहिंसा और करुणा जैसे आत्मगुणों पर प्रकाश डाला तथा जीवहिंसा और क्रूरता को दुःख व पतन का कारण बताया। प्रभु के उपदेश ने सुलस का हृदय आमूलचूल बदल डाला। उसने आजीवन अहिंसा पालन का व्रत ग्रहण कर लिया।

सुलस घर लौटा। उसने अपने पिता कालसोरिक को जीववध का व्यापार छोड़ने के लिए कहा। कालसोकरिक जीववध को ही अपना धर्म समझता था। उसने अपने पुत्र की बात नहीं मानी। सुलस ने अपनी पत्नी के साथ अपने पिता का घर छोड़ दिया। घास-फूस की एक कुटिया बनाकर वह अपनी पत्नी के साथ रहने लगा। आजीविका के लिए उसने रूई की पूनियां

बनाना शुरु कर दिया। वह पूनिया श्रावक के नाम से जगत्-प्रसिद्ध हुआ।

पिता काल सोकरिक ने अपने पुत्र सुलस को पैतृक धन्धे में लौटाने के अनेक प्रयास किए। उसने एक रात्री में सुलस की झोपड़ी में आग लगवा दी। झोपड़ी और उसमें संग्रहीत रूई जल कर स्वाहा हो गई। महामंत्री अभय कुमार को सुलस की स्थिति की सूचना मिली तो वे उसके पास पहुंचे और उसे सुन्दर भवन देने का प्रस्ताव रखा। सुलस ने इसे विनम्रता से अस्वीकार कर दिया।

झोपड़ी के पुनर्निर्माण तथा रूई जलने से हुए नुकसान को पूरा करने के लिए सुलस और उसकी पत्नी ने क्रमशः एक दिन भोजन न करने का संकल्प लिया। निरन्तर एक वर्ष तक यह क्रम चला। एक दिन सुलस उपवासी रहते तो दूसरे दिन उसकी पत्नी। अक्षय तृतीया के दिन यह क्रम पूर्ण हुआ।

अभयकुमार और भगवान् महावीर की संगति ने सुलस को शिकारी से पूणिया श्रावक बना दिया था। वह पूणिया श्रावक जिसके लिए स्वयं भगवान् महावीर ने राजा श्रेणिक से कहा था कि यदि वह पूणिया श्रावक की एक सामायिक भी खरीद सकेगा तो उसका नरक-बंध टूट जाएगा। लेकिन राजा श्रेणिक पूणिया श्रावक की एक सामायिक को पूरा राज्य देकर भी नहीं खरीद सका था। ऐसा महान् साधक बन गया था– सुलस! ❑❑

[३]
वाल्मीकि
(वैदिक)

रत्नाकर नाम का एक युवक कुसंगति में पड़कर लुटेरा बन गया। वह जंगल में आने-जाने वाले मुसाफिरों को लूटता था और उनका वध कर देता था। यही था उसके जीवन का क्रम।

एक बार महर्षि नारद से उसका सामना हुआ। उसने नारद को ललकारा। नारद उस युवक पर दयार्द्र हो गए। उन्होंने कहा– "युवक! यह सब किसके लिए कर रहे हो?"

"मेरे परिवार के लिए!" रत्नाकर का उत्तर था।

"तुम्हारा परिवार क्या तुम्हारे पापों का फल भोगते हुए क्या तुम्हारा साथ देगा?" नारद ने पूछा।

"क्यों नहीं!" रत्नाकर बोले—"अवश्य वे मेरे पापों के फल को भी बांटेंगे।"

"जरा उनसे पूछ तो लो।" नारद बोले—"मैं भागूंगा नहीं, यदि तुम्हें संदेह है तो मुझे वृक्ष से बांध जाओ।"

रत्नाकर ने नारद को वृक्ष में बांध दिया। उसने घर जाकर अपनी पत्नी से प्रश्न किया—"क्या तुम मेरे पापों के फल के भागीदार बनोगी?"

"मैं क्यों भागीदार बनूंगी?" पत्नी ने उत्तर दिया— "जो करेगा, वही भरेगा। तुम हमारा पालन-पोषण करते हो, यह हम पर तुम्हारा अहसान नहीं है। यह तुम्हारा फर्ज है जो तुम्हें निभाना ही है। इसे पाप करके निभाओ या धर्म करके। यह तुम पर निर्भर है।"

"रत्नाकर की आंख खुल गई। वह दौड़ा हुआ आया और नारद जी के चरणों में गिर पड़ा। नारदजी ने उसे राम-नाम स्मरण का उपदेश दिया। रत्नाकर ने अखण्ड समाधि लगाकर राम-नाम जप शुरू कर दिया।"

कई युग बीत गए। देवर्षि नारद उधर से लौटे। देखा-बांबियों—बल्मीक से राम-नाम की ध्वनि निकल रही है। वे समझ गए। उन्होंने उसे पुकारा। रत्नाकर वल्मीक (बांबी) से निकलने के कारण वाल्मीकि नाम से विख्यात हुए। एक लुटेरे के जीवन से ऊपर उठ कर रत्नाकर अब एक लोकमान्य महर्षि बन गए थे। वही महर्षि वाल्मीकि जो रामायण के रचयिता हुए। क्रौंच-युगल में से एक का वध देखकर इन्हीं के हृदय-कण्ठ से आदि कविता का प्रथम छन्द फूट निकला था—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम् अवधीः काममोहितम्॥

— हे निषाद! तुम अनन्त वर्षों तक प्रतिष्ठा से वंचित रहो—सर्वदा अप्रतिष्ठा/अपयश पाते रहो क्योंकि तुमने प्रेम भावना में निमग्न क्रौंच-पक्षी के जोड़े में से एक को मार गिराया है।

संसार के प्रायः सभी धर्मों में कहा गया है—पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। पाप को मारो, पापी को नहीं। पाप को मिटाने के लिए पापी का वध कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है। यह तो वैसी ही बात हुई कि जैसे एक डाक्टर रोगी का रोग दूर करने के लिए उसे ही समाप्त कर दे। डाक्टर रोगी का नहीं, रोग का शत्रु होता है। रोगी की रक्षा के लिए ही वह रोग को नष्ट करता है।

निष्कर्ष यह है कि पापी या धर्मात्मा होना व्यक्ति की मानसिक स्थिति से सम्बद्ध है। मानसिक स्थिति एक जैसी नहीं होती। शुभ विचार का व्यक्ति धर्मात्मा कहलाता है तो अशुभ विचारों से पापी। अतः किसी पापी को जान से मार देने की अपेक्षा उसके मन में शुभ-विचारों को संक्रान्त करना अधिक श्रेयस्कर होगा। क्रूरता, हिंसा, द्वेष, निर्दयता आदि दुर्भावनाओं का विनाश दया, करुणा, अहिंसा, मैत्री, सौहार्द आदि सद्भावनाओं के माध्यम से ही संभव है, न कि दुर्भावना वाले व्यक्ति के साथ दुर्भावना का व्यवहार करने से। भारतीय संस्कृति के इसी सनातन सत्य व उदात्त चिन्तन का निदर्शन उपर्युक्त कथानकों में हुआ है।

वैदिक धारा के वाल्मीकि, जैन विचारधारा के अर्जुनमाली एवं सुलस कसाई तथा बौद्ध धारा के अंगुलिमाल— ये तीनों चरित नायक अपने जीवन के पूर्व भाग में आकण्ठ हिंसादि पापों में डूबे हुए थे, परन्तु बाद में वे परमपूज्य बन गए। महर्षि नारद ने रत्नाकर को, भगवान् महावीर ने अर्जुनमाली व सुलस कसाई को, तथागत बुद्ध ने अंगुलिमाल को सद्धर्म का उपदेश देकर, तथा दुर्भावना के बदले सद्भाव का व्यवहार कर, इनके जीवन की अधोगामिनी स्थिति को बदल दिया, उनके चिन्तन को झकझोर दिया जिससे उन्हें अपने अशुभ विचारों व दुष्कृत्यों का भान हुआ, परिणामस्वरूप वे धर्मात्मा बन गए।

इसी प्रसंग में भगवान् महावीर की उक्ति भी चरितार्थ होती है– **'कम्मे सूरा से धम्मे सूरा'** – अर्थात् जो सांसारिक कर्मों में शूर-वीर हैं, वे ही सत्संगति पाकर धर्मकार्यों में भी शूरवीर हो सकते हैं, धर्मात्माओं में भी अग्रणी हो सकते हैं।

भारतीय संस्कृति के उक्त चिरन्तन सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति उपर्युक्त कथानकों में हुई है। सभी धर्मों में, धार्मिक परम्पराओं में उक्त सत्य को अंगीकार किया गया है, इसीलिए **'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं'** यह मान्यता सर्वमान्य बन गई है।

निस्सन्देह प्रत्येक व्यक्ति में अमर उज्ज्वल आत्म-ज्योति विद्यमान रहती है, किन्तु कर्मों के कारण वह ज्योति आवृत होती है और अपना तेजस्वी रूप प्रकट नहीं कर पाती। वही आवरण जब सत्संग के प्रभाव से दूर होता है तब निष्कलुष शुद्ध आत्मा की ज्योति को अभिव्यक्त होने से कोई नहीं रोक सकता। उपर्युक्त कथानकों के माध्यम से यह सत्य स्वतः हृदयंगम हो जाता है।

●

भक्ति की शक्ति

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

संसार के प्रायः सभी धर्मों में एक बात विशेष रूप से स्वीकृत है। वह यह कि जब संसार के सभी सहारे छूट जाते हैं– कोई सहारा नहीं दिखाई देता, तब कोई अदृश्य शक्ति ही सहायक बन कर आती है। उस अदृश्य शक्ति को को वैदिक धर्मी भगवान् कहते हैं। एक प्रसिद्ध सुवचन भी है– 'निर्बल के बल राम'। उस शक्ति को आत्मवादी श्रमणधर्मी धार्मिक श्रद्धाबल कहते हैं। एक के लिए भगवन्नाम आधार बनता है तो दूसरे के लिए परमेष्ठी परमात्मा के प्रति नमन/समर्पण का प्रतीक– महामंत्र नवकार।

भगवान् या महामंत्र नवकार– इनकी आराधना ही साधक की साधना का लक्ष्य होता है। तीर्थंकर महावीर ने तो धर्म के अतिरिक्त दृश्यमान समस्त सहारों को मिथ्या और भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं माना। उन्होंने पुकार कर कहा–

जरामरणवेगेणं बुज्झमाणाणं पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठो य गई सरणमुत्तमं॥

–जरा और मृत्यु के तेज प्रवाह में बहते हुए इस प्राणी के लिए धर्म ही एकमात्र सहारा है। वही प्रतिष्ठा है और उत्तम गति है।

धर्म शरण है तो उसके परम उपदेशक तीर्थंकर भगवान् तो सभी के लिए परम शरण होंगें– यह निर्विवाद है। इसी दृष्टि से बौद्ध परम्परा

में '**धम्मं शरणं गच्छामि**' के साथ '**बुद्धं शरणं गच्छामि**' भी बोला जाता है। जैन धर्म के उपदेशक तीर्थंकरादि तो वर्तमान में उपलब्ध हैं नहीं, इसलिए उनका स्मरण करके ही अपने हृदय में प्रतिष्ठापित किया जाना सम्भव है। जैन परम्परा में नवकार मंत्र (नमस्कार मंत्र) परम्परा से श्रद्धा से पढा, सुना एवं जपा जाता है। मंत्र तीर्थंकरादि पंच परमेष्ठियों (सर्वोत्तम प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्तित्वों) की स्मृति करा कर उनके प्रति वन्दना-नमन करने का प्रमुख साधन है। यहां यह उल्लेखनीय है कि तीर्थंकरादि के प्रति नमन व्यक्ति-पूजा नहीं है, अपितु उनके गुणों के माहात्म्य को स्वीकारते हुए, स्वयं में उन गुणों को अवतरित किये जाने की भावना से किया गया विनय-प्रदर्शन है। इसलिए कहा गया है—

वन्दे तद्गुणलब्धये।

(तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण)

— हम प्रभु को वन्दन करते हैं ताकि उनके गुण हमें प्राप्त हों, हम उन जैसे गुण-सम्पन्न बन जाएं। उक्त नमस्कार मंत्र के माध्यम से तीर्थंकरादि के साथ की गई श्रद्धा-पूर्वक एकाग्रता जो की जाती है, वह आराधक व आराध्य की एकात्मता को स्थापित करती है। जैनाचार्य पूज्यपाद ने कहा है— **यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते** (समाधिशतक-95)। अर्थात् जिस आराध्य का श्रद्धापूर्वक स्मरण, ध्यान आदि किया जाता है, चित्त उसी में लीन हो जाता है, आराध्यरूप ही हो जाता है। परमात्मा के साथ ही एकाग्रता उच्च स्थिति में शुक्ल ध्यान की उत्कृष्ट परिणति बन जाती है और व्यक्ति स्वयं परमात्मा बन जाता है। प्रभु-वन्दना से प्रशस्त कर्मों का बन्धन होता है और सौभाग्य आदि शुभ फल स्वतः प्रकट होते जाते हैं—

वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं निबन्धइ। सोहग्गं च... निव्वत्तेइ (उत्तरा. सू. 29/11)।

अर्थात् वन्दना से व्यक्ति नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बन्ध करता है। वह अप्रतिहत (अखण्ड) सौभाग्य आदि प्राप्त करता है। जैन आचार्य ने प्रभु-स्तुति करते हुए कहा है— **जिनेन्द्र गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता, भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम्** (पात्रकेसरि-स्तोत्र, 1)। अर्थात् हे जिनेन्द्र! तुम्हारे गुणों की स्तुति थोड़ी-सी भी की जाय तो वह समस्त कर्मों का विनाश कर देती है। आचार्य भद्रबाहु ने 'उपसर्गहार

स्तोत्र' में कहा है- **तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ**— अर्थात् हे जिनेन्द्र! तुम्हें किया गया मात्र प्रणाम भी अनेक अच्छे फलों को प्रदान करता है।

'नमस्कार महामंत्र' प्रभुपरमेष्ठियों की वन्दना है, उनका तथा उनके गुणों का श्रद्धापूर्ण स्मरण है, साथ ही उनका एकाग्रता-स्वरूप ध्यान भी है। ये सभी क्रियाएं मानसिक शुद्धि को प्रतिफलित करती हुई सांसारिक संकटों के कारण अशुभ कर्मों को क्षीण या निर्बल करती हैं, परिणामतः संकट स्वतः समाप्त हो जाते हैं। यही नमस्कार महामन्त्र के चमत्कार की सैद्धान्तिक व्याख्या की जाती है। जैन पुराणों में तथा जैन आगमों के कथासाहित्य में प्रभु-भक्ति व नमस्कार महामन्त्र के चामत्कारिक प्रभाव के पोषक अनेक कथानक प्राप्त होते हैं।

वैदिक परम्परा में भी प्रभु-भक्ति एवं भक्त द्वारा किये गए प्रभु-स्मरण की अद्‌भुत चमत्कारपूर्ण उपलब्धियों का प्रचुर निरूपण प्राप्त होता है। वैदिक ऋषि की प्रार्थना है— **न स्तोतारं निदे करः** (ऋग्वेद, 6/45/27) अर्थात् हे परमेश्वर! तुम अपने भक्त (स्तुति करने वाले) को कभी निन्दा का पात्र नहीं बनने देते।

वैदिक पुराणों में स्वयं भगवान् ने भक्ति के महत्त्व को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।

(भागवत पु. 11/14/20)

— हे उद्धव! मुझे योग, सांख्य, स्वाध्याय, तप, त्याग आदि धर्म उतना प्रसन्न नहीं करते, जितनी कि मेरे प्रति की गई भक्ति मुझे प्रसन्न करती है।

मद्‌भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति। (भागवत पु. 11/14/24)

— मेरा भक्त समस्त लोक को पवित्र कर सकता है।

भक्ति से आत्मा की कर्म-मलों से शुद्धि हो जाती है और कर्म-जनित दोषों से भक्त अस्पृष्ट हो जाता हैः—

यथाग्निना हेम मलं जहाति, ध्यातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्‌भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

(भागवत, 11/14/25)

जैसे अग्नि के संपर्क से सभी मलों से छूट कर सोना शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार भक्त के सम्पर्क से भक्ति की आत्मा कर्मजन्य सभी दोषों से रहित होकर शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

प्रभु के नाम का स्मरण या उनके मंत्र का जप –ये कार्य भक्ति के ही अंग है। रामचरितमानस में भक्त शबरी को भगवान् राम ने कहा था– ***मंत्रजाप मम दृढ विश्वासा। पंचम भजन सो वेदप्रकासा*** *(रामचरितमानस, अरण्य. 35/1)- अर्थात् भक्ति के नव रूपों में पांचवां भेद है– रामनाम मंत्र का जप और दृढ (श्रद्धा व) विश्वास। अतः प्रभुनामस्मरण या जप आदि से भी अशुभ कर्मों की क्षीणता, निर्बलता, एवं आत्म-विशुद्धि होकर भक्त भगवान् का इतना प्रिय हो जाता है कि उसके सामने कोई संकट ठहर ही नहीं पाते। भक्त पर होने वाली भगवान् की असीम कृपा के चामत्कारिक प्रभावों का निदर्शन वैदिक परम्परा के पुराण-साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं।*

यहां वैदिक व जैन– दोनों सांस्कृतिक परम्पराओं से जुड़े कुछ कथानक यहां प्रस्तुत किये जा रहे है। जयकुमार का कथानक जैन परम्परा से, तथा द्रौपदी व गज-ग्राह की कथाएं वैदिक परम्परा से चुनी गई हैं। प्रभु-नाम स्मरण से कभी कभी चमत्कारपूर्ण घटना घटित हो जाती है– इस सत्य का निदर्शन दोनों परम्पराओं के कथानकों में समान रूप से कराया गया है, जो पठनीय व मननीय है। कथानकों के पात्र व स्थल आदि भिन्न हो सकते हैं, किन्तु सत्य-कथ्य और तथ्य एक ही है।

[१]
जयकुमार का जलसंकट
(जैन)

तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के पौत्र तथा बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ हस्तिनापुर में राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीवती था। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम जयकुमार था। जयकुमार न केवल अपने माता पिता को प्रिय था बल्कि प्रजा भी उससे बहुत प्यार करती थी। यौवनावस्था में

जयकुमार का विवाह श्रीमती नामक एक राजकुमारी से किया गया। पिता के श्रामणी दीक्षा लेने के बाद जयकुमार हस्तिनापुर के राजा बने।

एक बार जयकुमार वन-भ्रमण को गए। वहां पर उन्हें शीलगुप्त नामक एक मुनि के दर्शन हुए। उन्होंने देशना भी सुनी। वहीं एक सर्पयुगल रहता था। सर्पयुगल ने भी मुनि की देशना सुनी। उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई। लेकिन कुछ ही क्षण के पश्चात् मौसम बदला। आकाश में बिजली कौंधी। बिजली नर सर्प पर गिर पड़ी। तत्काल उसकी मृत्यु हो गई। धर्म-श्रवण के प्रभाव से वह मरकर नागकुमार देव बना।

कुछ दिनों बाद पुनः एक बार जयकुमार वन-भ्रमण को गए। उनके साथ अनेक अंगरक्षक थे। जयकुमार ने देखा कि वही सर्पिणी एक अन्य सर्प काकोदर के साथ रमण कर रही है। जयकुमार ने उस सर्प और सर्पिणी को धिक्कारा और इस दुष्कृत्य पर उनकी पिटाई भी कर दी। जयकुमार आगे बढ़े। उनके अंगरक्षकों ने भी नागनागिन को पीटा। आहत नाग और नागिन जयकुमार के प्रति क्रोध से भरे थे। काकोदर सर्प मरकर गंगा नदी में काली नाम का जलदेवता बना। आहत सर्पिणी को अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और इसीलिए वह मरकर नागकुमार देवों में देवी रूप में उत्पन्न हुई। वहां भी उसे अपना पूर्व जीवन साथी नागदेव पति रूप में प्राप्त हुआ।

सर्पिणी को अपना मृत्यु-क्षण याद आया। वह जयकुमार के प्रति क्रोध से भरी ही थी, अतः उसने अपना दुष्कृत्य छिपाते हुए अपने पति से जयकुमार की शिकायत कर दी। नागकुमार अपनी पत्नी को कष्ट देने वाले के प्रति रोष से भर उठा। वह जयकुमार को सबक सिखाने के लिए नागरूप में हस्तिनापुर के वाटिका-भवन में पहुंचा। उस समय जयकुमार अपनी रानी को उसी सर्पिणी का चरित्र सुना रहे थे। नागकुमार अपनी पत्नी के चरित्र से परिचित हो चुका था। उसने देवरूप में प्रगट होकर जयकुमार से क्षमा मांगी और उसे रत्नराशि का कलश देकर विलुप्त हो गया।

उन्हीं दिनों में वाराणसी-नरेश अकम्पन ने अपनी पुत्री सुलोचना के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया। दूर देशों के राजा उस स्वयंवर में आमंत्रित थे। आमंत्रितों में जयकुमार भी थे। राजकुमारी सुलोचना ने जयकुमार को ही अपना वर चुना। शेष राजा इससे तिलमिला उठे। फलस्वरूप युद्ध हुआ। जयकुमार विजयी हुए। विजय के पश्चात्, जयकुमार

ने अपनी नवपरिणीता पत्नी सुलोचना और सेना के साथ हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

हाथी पर आसीन जयकुमार गंगा के किनारे चल रहे थे। अचानक हाथी ने गंगा में प्रवेश किया। मध्य गंगा में पहुंचकर हाथी का पैर एक गड्ढे में धंस गया। वहीं पर 'काली' नाम का जलदेव रहता था। 'काली' ने ज्ञानबल से ज्ञात कर लिया कि हाथी पर वही जयकुमार आसीन है जिसने उसे पूर्व जन्म में मारा था। 'काली' ने बदले की भावना से हाथी का पैर पकड़ लिया गहरे जल में खींचने लगा।

मृत्यु-संकट साक्षात् था। सेना और अन्य रक्षक कुछ न कर सके। जयकुमार जल में डूबने के निकट थे। सुलोचना का हृदय पति को डूबते देख हाहाकार कर उठा। उसने सहायता के लिए इधर-उधर निहारा। लेकिन उस क्षण सब सहारे असहारे सिद्ध हुए। अन्ततः सुलोचना ने नयन बन्द करके पञ्चपरमेष्ठी मन्त्रराज नवकार का स्मरण किया। सच्चे हृदय से उठे मन्त्र की शक्ति ने गंगा नदी की अधिष्ठात्री देवी गंगा के सिंहासन को डोला दिया। गंगा देवी प्रगट हुई और उसने 'काली' जलदेव को प्रताड़ित करते हुए उससे जयकुमार और उसके हाथी की रक्षा की। तत्पश्चात् वह सुलोचना को नमस्कार करके अन्तर्धान हो गई।

विशाल सेना सहित स्वयं जयकुमार ने महामंत्र की महान् शक्ति का साक्षात् दर्शन किया। सभी की श्रद्धा महामंत्र के प्रति अटूट और गहरी हो गई। जब सभी आधार निराधार सिद्ध हो जाते हैं, महामंत्र का महाधार तब भी मनुष्य के साथ रहता है। बात केवल उस पर श्रद्धा की है।

❑❑

[२]
गज और ग्राह
(वैदिक)

एक राजा थे। उनका नाम इन्द्रद्युम्न था। किसी अपराध पर एक ऋषि ने उन्हें शाप दे दिया। शाप के फलस्वरुप इन्द्रद्युम्न गज-हाथी बन गए।

उक्त गजराज क्षीरसागर के तट पर त्रिकूट पर्वत के निकट हथिनियों के समूह का स्वामित्व करता हुआ विचरने लगा। त्रिकूट पर्वत के

निकट ही एक स्वच्छ जल से पूरित एक कमल-सरोवर था। उस सरोवर में एक बलशाली ग्राह रहता था। वह ग्राह भी पूर्व में हूहू नामक गंधर्व था। वह भी एक ऋषि के शाप के कारण मकर योनि भोग रहा था।

एक बार गजराज हथिनियों के साथ त्रिकूट के उस सरोवर में जल-विहार कर रहा था। हस्ति-समूह के जल-प्रवेश से शान्त सरोवर अशान्त हो गया। इससे ग्राह क्रोधित हो उठा। उसने गजराज को पकड़ लिया। गजराज को अपने बल पर घमण्ड था। सो वह भी ग्राह से उलझ गया। गज और ग्राह के मध्य युद्ध होने लगा।

कहावत है— जल में रहकर मगर से वैर मृत्यु का ही कारण बनता है। फिर वह तो बलशाली ग्राह था। उसके बल के समक्ष हाथी का बल थक गया। ग्राह गज को गहरे जल में खींच ले गया। गज की आंखों में मृत्यु का भय झलक उठा। उसने ग्राह से छूटने की लाख कोशिश की, परन्तु सब व्यर्थ। गज के सूंड का अग्रभाग ही जल से बाहर बचा था। बस प्राण गए— यह नौबत आ पहुंची थी। गज ने निर्बल के बल राम— भगवान् का स्मरण आर्त्त भाव से किया। भागवत पुराण में बताया गया है— **जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्** (भागवत पु. 8/3/1) अर्थात् गजेन्द्र को संकट की इस घड़ी में प्रभु का मन्त्र स्मरण हो आया जो उसने पूर्व-जन्म में सीखा था। उस परम मन्त्र का जप उसने प्रारम्भ किया। यह मन्त्र प्रभु-वन्दना रूप ही है, जिसका प्रारम्भ **'नमो भगवते'** इस पद से होता है (द्रष्टव्यः भागवत- 8/3/2)।

आर्त्त भक्त की पुकार सुनते ही भगवान् दौड़ पड़े। ग्राह को मार कर गज की प्राणरक्षा की। ग्राह अपने दिव्य रूप को प्राप्त कर गंधर्व लोक में गया। इस तरह भक्त गजराज की पुकार सार्थक हुई।

❑❑

[३]
द्रौपदी की रक्षा
(वैदिक)

द्रौपदी महाराजा द्रुपद की पुत्री थी। उसका विवाह अर्जुन से हुआ था। वैदिक और जैन— इन दोनों परम्पराओं में वह महासती स्वीकार की गई है। पांच महान् बलशाली पाण्डुपुत्रों के सम्मुख और

अपनी ही राज्यसभा में जब वस्त्र-हरण का अभिशाप उसे झेलना पड़ा, उस समय श्रीकृष्ण के रूप में उस सर्वशक्तिमान् अदृश्य शक्ति ने ही उसकी रक्षा की थी।

हस्तिनापुर-नरेश धृतराष्ट्र पुत्रमोह में अन्धे हो चुके थे कि कुलमर्यादा को ताक पर रखकर उन्होंने अपने अनुज-पुत्र युधिष्ठिर का हक़ अपने पुत्र दुर्योधन को दे दिया। संघर्ष चला। हस्तिनापुर स्वार्थ की वेदी पर चढ़कर दो हिस्सों में बंट गया। इस पर भी युधिष्ठिर के मन में मैल न था। उसने अपने भाइयों की सहायता से इन्द्रप्रस्थ नामक नगर बसाया। इन्द्रप्रस्थ का राजमहल अतीव भव्य था। इसी महल में दुर्योधन जल को थल समझकर गिर पड़ा तो द्रौपदी मुस्करा दी और बोली– 'अन्धे की अन्धी सन्तान'।

द्रौपदी के ये शब्द दुर्योधन के कानों में पिघले हुए शीशे की तरह उतर गए। उसने कठोर निश्चय कर लिया कि वह एक दिन द्रौपदी को सबक सिखाएगा।

राज्य-लिप्सा ने दुर्योधन को अन्धा बना दिया था। वह इन्द्रप्रस्थ को हड़पना चाहता था। युद्ध में वह पाण्डवों को हरा नहीं सकता था। अतः उसने कपट का आश्रय लिया। उसने पाण्डवों के पास द्यूतक्रीड़ा का प्रस्ताव भेजा। इस प्रस्ताव को युधिष्ठिर ने स्वीकार कर लिया। इस द्यूतक्रीड़ा का पितामह भीष्म आदि वृद्ध कुरूजनों ने अवश्य विरोध किया परन्तु तत्कालीन अभिशप्त राजसी पारम्परिक रीतियों के पालनार्थ युधिष्ठिर को विवशतया द्यूतक्रीड़ा में हिस्सा लेना पड़ा।

निश्चित समय पर पांचों पाण्डव हस्तिनापुर पहुंचे। द्रौपदी भी उनके साथ थी। दुर्योधन ने अपनी कपटलीला को आगे बढ़ाते हुए युधिष्ठिर की इस बात के लिए भी स्वीकृति ले ली कि दांव वह लगाएगा और उसकी ओर से पासे शकुनी फेकेंगा।

द्यूत विनाश का मूल है। द्यूत वह अभिशाप है जो बड़े-बड़े राजाओं को दर-दर का भिखारी बना देता है। भारतीय कथा साहित्य में ऐसे अनेक कथानक हैं जो द्यूत के विनाशक परिणाम दर्शाते हैं।

दो सम्राटों– युधिष्ठिर और दुर्योधन के मध्य द्यूतक्रीड़ा प्रारंभ हुई। युधिष्ठिर बाजी दर बाजी हारते चले गए। प्रत्येक पराजय के पश्चात्

अगली बाजी वे दोगुनी आशा से खेलते। परन्तु आशा तो छलना है और उसने युधिष्ठिर को इस कदर छला कि वे न केवल अपने राज्य को हार बैठे, अपितु अपने भाइयों, द्रौपदी और स्वयं को भी हार गए।

दुर्योधन के कपट-जाल की विजय हुई। अब वह मन-चाहा करने के लिए स्वतंत्र था। उसने भारतीय कुल-मर्यादाओं और मनुष्यता के साधारण नियमों को ताक पर रखते हुए द्रौपदी को दरबार में लाने का आदेश दिया।

दुःशासन द्रौपदी के केशों से पकड़कर घसीटते हुए दरबार में लाया और दुर्योधन के इंगित पर उसकी साड़ी खींचने लगा। मर्यादाओं का आंचल तार-तार हो गया। द्रौपदी- एक भारतीय महान्नारी-एक राजकुमारी-एक महारानी भरे दरबार में एक-एक व्यक्ति को खोज कर उससे सहायता की भीख मांगने लगी। पांचों बलवान् पाण्डुपुत्रों और भीष्म जैसे महान् योद्धा उसकी रक्षा न कर सके। द्रौपदी विवश हो उठी। धर्म-कर्म और मर्यादाओं के जानकारों और रक्षकों की भीड़ में उसे कोई रक्षक न मिला। उस समय की स्थिति का चित्रण महर्षि व्यास ने महाभारत में इस प्रकार किया है– **आकृष्यमाणो वसने द्रौपद्याश्चिन्तितो हरिः** (महाभारत, सभापर्व, 68/41)– अर्थात् द्रौपदी ने अपने चीर-हरण के संकट में प्रभु का चिन्तन-स्मरण किया। द्रौपदी ने अपने परमाधार श्रीकृष्ण को पुकारा–

"हे मधुसूदन! मेरी लाज की रक्षा करो। आज एक अबला की लाज यदि इस कौरव-सभा में लुट गई तो याद रखना! तुझे याद करने वाला कोई न रहेगा।"

निराधारों के आधार, अबलों के बल श्रीकृष्ण ने महासती द्रौपदी की तत्काल रक्षा की। धर्म की जय हुई, अधर्म परास्त हो गया।

OOO

[illegible]

जीवन समस्याओं से, कष्टों से भरा होता है। कष्ट आते हैं तो मनुष्य अपने इष्ट देव को स्मरण करता है। प्रभु को स्मरण करने के अनेक साधन हैं– स्तुति, जप, भजन आदि। उपर्युक्त तीनों कथाओं के पात्रों के हृदय से अपजे इष्ट के लिए उठी पुकार उनके अन्तर्हृदय से उठी पुकार है। विश्रुत

है कि मृत्यु के क्षण में मनुष्य या कोई प्राणी असत्य नहीं बोलता है। वह उस क्षण में हृदय पर लिखा हुआ बोलता है। जैन कथा साहित्य (आदि-पुराण) के जयकुमार और वैदिक साहित्य के (भागवत पुराण) ग्राह पर मृत्यु-संकट था। ऐसे क्षण में जयकुमार की अर्द्धांगिनी ने अपने इष्ट नवकार मंत्र का स्मरण किया तथा ग्राह ने भगवान् विष्णु को पुकारा तो उसकी पुकार तत्काल सुनी गई। नारी के प्राण उसकी लज्जा में बसते हैं। द्रौपदी ने जब अपनी लाज पर आंच देखी तो उसका रोम-रोम श्रीकृष्ण को पुकार उठा, और उसकी रक्षा हुई।

जैन मान्यतानुसार द्रौपदी ने नमस्कार महामंत्र का स्मरण किया। वैदिक मान्यतानुसार द्रौपदी ने श्रीकृष्ण का स्मरण-चिन्तन किया। बात एक ही है। परम्परा की मान्यता-भेदों को छोड़ दें तो उसने प्रभु-स्मरण किया। गज-ग्राह के कथानक में भी गजेन्द्र ने 'नमो भगवते'– इत्यादि प्रभु-नाम स्मरण-वन्दन के साथ अपनी आर्त वेदना अभिव्यक्त की थी।

पूर्ण भक्तिभाव से जब आराध्य का स्मरण किया जाता है तो भक्ति से दिव्य शक्ति प्रकट होती है। सभी धर्मों में इस सत्य को स्वीकारा गया है। उपर्युक्त सभी कथानकों द्वारा वैदिक व जैन– इन दोनों परम्पराओं में स्वीकृत 'प्रभुनामस्मरण की अद्भुत शक्ति' का निदर्शन हुआ है। इन सभी कथानकों में अन्तर्निहित सत्य-तथ्य-कथ्य एक ही है।

●

पतित से पावन

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

भारतवर्ष में नारी को सम्मान देने की परम्परा रही है। अर्द्धनारीश्वर की जो मान्य अवधारणा है, उसमें नारी और पुरुष को एक ही परमेश्वर के समान भाग के रूप में मान्यता दी गई है। पुरुष के समान ही नारी को समान आदर व सम्मान दिया गया है। पारिवारिक व सामाजिक प्रगति-उन्नति में दोनों का समान योगदान है– यह निर्विवाद है है। वैदिक संस्कृति के सामाजिक स्वरूप के व्याख्याता मनु ने तो स्पष्ट व्यवस्था दी थी– ***यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः*** *(मनुस्मृति- 3/56)। महाभारत – जो भारतीय संस्कृति का कोश है– में नारी-जाति के विषय में आदरपूर्ण विचार इस प्रकार व्यक्त किये गए हैं:–*

स्त्रियः साध्व्यो महाभागाः सम्मता लोकमातरः।
धारयन्ति महीं राजन् इमां सवनकाननाम्॥

(महाभारत, 13/43/19-20)

– सती-साध्वी नारियां लोक की माता के रूप में आदरणीय हैं। हे राजन्! ये नारियां ही इस पृथ्वी को धारण किये हुए हैं– इन्हीं के कारण समस्त पृथ्वी टिकी हुई है।

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मित्रं मरिष्यतः॥

(महाभारत, 1/68/40-41)

–भार्या (पत्नी)मनुष्य का आधा भाग है, वही सर्वश्रेष्ठ मित्र है, वही धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों के साधन में मूल और वही मरणधर्मा व्यक्ति की मित्र है।

जहां तक जैन परम्पराका प्रश्न है, इसने भी वैदिक परम्परा की तरह, प्रारम्भ से ही नारी-जाति को महनीय स्थान दिया है। जैन सूक्ष्म चिन्तन तो यह रहा है कि **एगा मणुस्स जाई** (आचारांग निर्युक्ति, 19) अर्थात् मनुष्य-जाति एक ही है, उसमें नारी-पुरुष आदि का भेद नगण्य है। जैन आचार्यों ने व्यावहारिक जगत् में नर व नारी को समान महत्त्व दिया। तीर्थंकर भगवान् ने भी चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना में श्राविका व साध्वी इन दो संघों को भी स्थान देकर स्त्री-पुरुष की समकक्षता का ही समर्थन किया। नारी भी पुरुष की तरह मुक्ति-मार्ग की अधिकारिणी हो सकती है, इसीलिए सिद्धों के भेदों में 'स्त्री-सिद्ध' को भी परिगणित किया गया है (द्र. उत्तरा. 36/50)। इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्त करने का सौभाग्य प्रथम तीर्थंकर की माता मरुदेवी को प्राप्त है (द्र. आवश्यक चूर्णि)। निष्कर्षतः मनुष्य-योनि में आकर जो कोई भी चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, धर्म-श्रवण व श्रद्धा का संवर्धन करता हुआ समय में पुरुषार्थ करता है, वह क्रमशः कर्मरज को धुनता हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है(द्र. उत्तरा. 3/11-12)।

किन्तु ऐतिहासिक क्रम में, दोनों ही परम्पराओं में, नारी की आदरणीय स्थिति घटती गई, जिसके कारण अशिक्षा व सामाजिक व राष्ट्रीय अशान्ति आदि रहे। सन्त तुलसीदास के युग में **'अधम ते अधम अधम अतिनारी'** (रामचरित मानस, अरण्य. 34/2)हो गई।

यहां तक तो सामान्य नारी की स्थिति का निरूपण है। किन्तु, नीच आजीविका के कारण, जैसे कुछ वर्ग को तिरस्कृत समझा जाता है, उसी तरह स्त्री-जाति में भी कुछ वर्ग समाज द्वारा हीन दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। किन्तु नीच से नीच मनुष्य भी, धर्माचरण कर अपने में पवित्रता का संचार कर धर्म-साधना का एवं मुक्ति पाने का प्रयास कर सकता है और सफल भी हो सकता है– यह भारतीय संस्कृति का चिन्तन रहा है।

यहां हम नारी-जाति के निन्दनीय वर्ग 'गणिका' के विषय में विचार करना चाहेंगें। गणिका या वेश्या शब्द कानों में गुंजित होते ही व्यक्ति का मन सहसा घृणा भाव से भर जाता है। नारी के कई प्रशंसनीय रूप हैं–

मां! बहिन! किन्तु उसका समाज-गर्हित रूप है– गणिका। दोनों में कितना अन्तर है? हम इसे इस तरह भी निरूपित कर सकते हैं– एक है झरने का स्वच्छ निर्मल जल तो दूसरा है नगर की नाली का गन्दा जल। जल दोनों हैं, पर अन्तर कितना है? इसका कारण है– नगर की नाली में बहने वाले पानी का संसर्ग ऐसे पदार्थों से हो गया जिससे उसमें विकृति आ गई और वह घृणा का पात्र बन गया। अब प्रश्न है, क्या वह पानी इसी रूप में सदा गन्दा ही रहेगा? वैज्ञानिकों का कहना है कि अगर उसे कुछ प्रक्रियाओं से गुजारा जाये तो वह पानी पुनः शुद्ध हो सकता है। यहां विचारणीय यह है कि वैज्ञानिकों की तरह ही, भारतीय संस्कृति के धर्मशास्त्री या धर्माचार्य इसे स्वीकारेंगें कि एक वेश्या भी धर्माचरण कर सन्नारी के रूप में आदरणीय हो सकती है? वैदिक व जैन– इन दोनों परम्पराओं में एक समान विचार प्रस्तुत किये गए हैं कि वेश्या भी सत्संगति पाकर प्रभु-कृपा का पात्र बन सकती है या धर्माराधना में अग्रसर होती हुई मुक्ति की अधिकारिणी हो सकती है।

वैदिक परम्परा के महाभारत में पतिता नारी को भी परम पद तक प्राप्त करने का अधिकार स्वीकारा गया हैः–

एवं हि धर्ममास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वेश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(महाभारत- 14/19/55-56)

–जो कोई भी पापाचारी, चाहे वे स्त्रियां हो, वेश्या हों या शूद्र हों, धर्म का आचरण कर परम गति को प्राप्त कर सकते हैं।

अपि वर्गापकृष्टस्तु, नारी वा धर्मकांक्षिणी।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम्॥

(महाभारत, 12/232/32)

– चाहे कोई निकृष्ट वर्ग का हो या कोई धर्माचरण की इच्छुक नारी हो, वे दोनों धर्मोचित मार्ग से परम गति प्राप्त कर सकते हैं।

वैदिक परम्परा के अहिल्या-उद्धार का प्रसंग उक्त सत्य का समर्थन करता है। गौतम-पत्नी अहिल्या के साथ इन्द्र ने कुकर्म किया था। स्वाभाविक था कि वह पति की नज़रों से गिर गई थी। समाज में भी वह इसीलिए सतीत्व-भ्रष्ट समझी गई। पति के शाप से वह पत्थर की हो

गई। निस्सन्देह कोई भी नारी इस अपमानित स्थिति में पत्थर जैसी मूक हो जाएगी। भगवान् राम ने इस पतिता नारी का अपने चरण-स्पर्श से उद्धार किया (द्रष्टव्यः देवी भागवत-1/5/46, वाल्मीकि रामायण, 1/49 अध्याय, ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्ण-जन्म खण्ड- 61/44-46 आदि)।

वैदिक परम्परा के धार्मिक साहित्य में एक गणिका का उदाहरण आता है। उस गणिका का नाम पिङ्गला था। कहा जाता है कि एक दिन वह अपूर्व श्रृंगार करके अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में बैठी रही।

किन्तु महान प्रतीक्षा के बावजूद भी कोई आधी रात तक नहीं आया तो पिङ्गला को बड़ी ग्लानि हुई। उसने सोचा– जितना समय आज मैंने इस व्यक्ति की प्रतीक्षा में बर्बाद किया, उतना अगर ईश्वर के भजन में लगाती तो मेरा अवश्य कल्याण हो जाता।

यह विचार आते ही उसने उसी क्षण वेश्यावृत्ति का त्याग कर दिया और अपने मन को संपूर्णतः भगवद्भजन में लगा दिया। फलस्वरूप उसके समस्त पाप नष्ट हो गए और उसकी आत्मा का उद्धार हो गया। (द्रष्टव्यः भागवत पुराण- 11/8/22-44)

कहने का अभिप्राय यही है कि असंख्य पापों का उपार्जन करने वाली वेश्या भी भोगों से विरक्त होकर संसार-मुक्त हो गई तो फिर संसार में ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो अपनी आत्मा का उद्धार नहीं कर सकता? पर इसके लिए धर्म पर सच्ची श्रद्धा सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है।

जैन परम्परा में भी उक्त मान्यता का समर्थन हुआ है। वेश्या जैसी पतिता नारी भी किसी महापुरुष या महात्मा की सत्संगति से धार्मिक जीवन स्वीकार कर परमपद की ओर अग्रसर हो सकती है– इसे जैन परम्परा निर्विवाद स्वीकार करती है।

इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में कुछ कथानक यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनमें उक्त सत्य स्पष्टतया अनुगुंजित होता है। जैन परम्परा से राजनर्तकी रूपकोशा का कथानक चुना गया है तो दक्षिण भारत की एक गणिका की घटना वैदिक परम्परा से जुड़ी है। आम्रपाली की कथा बौद्ध परम्परा की प्रतिनिधित्व करती है। सभी कथानकों में कथ्य-तथ्य-सत्य की एकस्वरता दर्शनीय है।

[१]
राजनर्तकी रूपकोशा
(जैन)

रूपकोशा पाटलिपुत्र नगर की प्रसिद्ध राजनर्तकी थी। वह अनिंद्य सुन्दरी और अनेक कलाओं में प्रवीण थी। बड़े-बड़े धनी, सामंत और राजकुमार उसे पाने के लिए लालायित रहते थे। इस सब से आंख मूंदकर कोशा अपनी नृत्य-साधना में तल्लीन रहती थी।

पाटलिपुत्र-नरेश धननन्द के महामंत्री का नाम था– शकडाल। शकडाल जैन श्रावक थे। उनके दो पुत्र थे– स्थूलभद्र और श्रीयंक। स्थूलभद्र बाल्यकाल से ही विरक्तचेता थे। व्यावहारिक ज्ञान की सीख के लिए पिता शकडाल ने स्थूलभद्र को कोशा के पास भेजा। कोशा और स्थूलभद्र का यह साक्षात्कार घनिष्ठता में बदल गया। घनिष्ठता से प्रेम का जन्म हुआ। स्थूलभद्र सब कुछ भूलकर कोशा में खो गया। कोशा और स्थूलभद्र तथा स्थूलभद्र और कोशा– शेष सब शून्य हो गया उन दोनों के लिए।

स्थूलभद्र बारह वर्षों तक कोशा के महल में रहे। स्थूलभद्र के पिता महामंत्री शकडाल ने अपनी राजभक्ति को सिद्ध करने के लिए स्वयं का बलिदान कर दिया। राजा धननन्द ने महामंत्री पद के लिए स्थूलभद्र को आमंत्रित किया। स्थूलभद्र को पिता की महान् मृत्यु ने अन्तर हृदय तक हिला डाला। उन्होंने कोशा को अलविदा कहकर साधु-जीवन अंगीकार कर लिया।

कुछ वर्ष पश्चात् स्थूलभद्र ने गुरु-आज्ञा से कोशा के महल पर चातुर्मास किया। कोशा और स्थूलभद्र- अर्थात् योग और भोग में द्वन्द्व चला। भोग पराजित हुआ। स्थूलभद्र ने कोशा को सन्मार्ग पर ला दिया। वह श्राविका बन गई। स्थूलभद्र चातुर्मास समाप्त करके गुरु-चरणों में लौटे। गुरु ने उन्हें कण्ठ में लगाते हुए कहा– "वाह स्थूलभद्र! तुमने दुष्करातिदुष्कर कार्य किया है।" एक मुनि जो सिंह-गुफा पर चातुर्मास करके और उसे अहिंसक बनाकर लौटे थे, स्थूलभद्र की इस प्रशंसा को सहन न कर पाए। दूसरे वर्ष उन्होंने कोशा के महल पर चातुर्मास बिताने का संकल्प कर लिया।

मुनि कोशा के महल पर पहुंचे। कोशा का रूप मुनि के हृदय में कांटा बनकर चुभने लगा। निरन्तर निकटता से मुनि विचलित हो उठे। एक दिन उन्होंने कोशा से प्रणय-निवेदन कर दिया। मुनि का निवेदन सुनकर कोशा को एक झटका लगा। मुनि और प्रणय-निवेदन! उसका जी चाहा कि वह उसे धक्के देकर निकाल दे। तभी उसे विचार आया–"कोशे! यह मुनि तेरे गुरु स्थूलभद्र का गुरु भाई है। स्थूलभद्र ने तेरे भीतर ज्ञान की ज्योति जलाई है। गुरु के महान् ऋण से अंश मात्र उऋण होने का यह अवसर है। अपने गुरु के गुरुभाई को सन्मार्ग पर लाकर उसे पतन से बचा।"

कोशा बोली– "मुनिराज! प्रेम परीक्षा चाहता है। मेरे लिए कुछ करो, तो ही तुम्हें मेरा प्रेम प्राप्त हो सकता है।"

"कहिए! क्या करूं?" मुनि बोला– "तुम्हारे एक इंगित पर मैं अपने प्राण न्योछावर कर सकता हूं।"

"मुझे तुम्हारे प्राण नहीं चाहिए।" कोशा बोली– "बस इतना कीजिए कि मेरे लिए एक रत्नकंबल ले आइए। नेपाल-नरेश भिक्षुओं को रत्नकंबल दान देते हैं। वहां से एक कंबल ले आइए।"

मुनि-मर्यादाओं को ताक पर रखकर चातुर्मास के मध्य ही वह मुनि नेपाल पहुंचा। नरेश से रत्नकंबल प्राप्त किया और कोशा के पास लौटा। रत्नकंबल कोशा को भेंट करते हुए मुनि बोला– "कोशे! अब तो मैं तुम्हारे प्रेम का अधिकारी हो गया हूं। प्रेम-परीक्षा मैंने उत्तीर्ण कर ली है।"

कोशा ने रत्नकंबल लिया। बोली– मैं स्नान करके आती हूं। कोशा ने स्नान किया। अपने आर्द्र गात्र को रत्नकंबल से सुखाया और मुनि को दिखाते हुए उसे गंदी नाली में डाल दिया। कोशा के इस कृत्य पर मुनि रोषारूण होते हुए बोला–"कोशा! तुम कितनी मूर्ख हो! महामूल्यवान् रत्नकंबल तुमने गंदी नाली में डाल दिया। मेरी सारी मेहनत पर तुमने पानी फेर दिया।"

"मुझसे बड़े मूर्ख तुम हो।" कोशा ने क्रोध का अभिनय करते हुए कहा–"रत्नकंबल तो पुनः प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु जिस संयम को तुम गंदी नाली में डालने को उद्यत हो, उसे प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है।"

उपयुक्त अवसर पर कही बात ने मुनि के डगमगाते हुए कदम थाम लिए। उसके नेत्र आर्द्र हो गए। बोला– "तुम ठीक कहती हो कोशा! तुमने मुझे बचा लिया है।" मैं स्थूलभद्र की बराबरी करने चला था। गुरु ने उनकी प्रशंसा अक्षरशः उचित की थी। मुझे क्षमा कर दो। अब मैं संयम में स्थिर हो गया।

चातुर्मासोपरान्त मुनि गुरु-चरणों में पहुंचा और अपनी ईर्ष्या के लिए क्षमा मांगते हुए बोला– गुरुदेव! स्थूलभद्र का कार्य निश्चित दुष्करातिदुष्कर था। सिंह को अहिंसक बनाना आसान है, परन्तु मन को विषयों से मुक्त करना सर्वाधिक कठिन है।

स्थूलभद्र से प्राप्त अन्तर्ज्योति से ज्योतित कोशा ने अनेक पतितों का उद्धार किया है। देखिए, उसी के जीवन का एक और ज्योतिर्मय चित्र–

राजनर्तकी होने के कारण कोशा ने अपने नियमों में आगार रखा था कि राजा द्वारा प्रेषित व्यक्ति को वह प्रसन्न करेगी।

एक रथिक कोशा पर प्राणपण से मोहित था। एकदा युद्ध में उसकी वीरता से राजा अतिप्रसन्न हुए और उससे वर मांगने को कहा। रथिक ने कोशा से मिलने की आज्ञा मांगी। राजा ने उसकी मांग स्वीकार कर ली।

रथिक कोशा के पास पहुंचा। राजाज्ञा-पत्र देखकर कोशा को उसका स्वागत करना पड़ा। रथिक ने कोशा को प्रभावित करने के लिए कला-प्रदर्शन किया। उसने सामने खड़े आम्रवृक्ष पर एक तीर छोड़ा। वह तीर आम्रफल में जा गड़ा। फिर दूसरा तीर छोड़ा। वह पहले तीर से जा चिपका। इस प्रकार तीर पर तीर छोड़कर अन्तिम तीर का छोर उस तक आ गया। उसने वहीं बैठे हुए आम तोड़ा। तीर समेटे। और आम्रफल कोशा को भेंट किया।

कोशा बोली–" यह कोई विशेष कला नहीं है। कलाकार तो स्थूलभद्र है। कला तो कोई उससे सीखे। तुमने अपनी कला दिखाई। मैं भी अपनी छोटी-सी कला दिखाती हूं।" कोशा ने सरसों की भरी थाली मंगवाई। ढ़ेर पर एक सूई गाड़ी। फिर वह नृत्य करने लगी। सूई पर नृत्य! न सूई हिली और न सरसों का एक दाना बिखरा।

"वाह! वाह! महान् कला!" रथिक ताली बजाते हुए बोला– "अतुल्य है तुम्हारी कला। बेजोड़ है तुम्हारा नृत्य, कोशा!"

"यह कला कुछ नहीं है।" कोशा बोली– "असली कला सीखनी है तो स्थूलभद्र से सीखो। वे महानतम कलाकार हैं।"

"उनकी कला की क्या विशेषता है?" रथिक ने पूछा।

कोशा ने स्थूलभद्र की आद्योपान्त जीवन-कथा सुनाते हुए कहा– "वह मन को साधना जानता है। और मन को साधना ही महान् कला है।"

रथिक पर कोशा की बात का गहरा असर हुआ। कोशा के अन्तर्हृदय में जल रही ज्ञान-ज्योति से अपने हृदय-दीप को प्रज्ज्वलित करके मन को साधने की महाकला सीखने के लिए वह रथिक स्थूलभद्र के पास चला गया और उनका शिष्य बनकर महान् कलाकार बन गया। *[कल्पसूत्र की कल्पद्रुमकलिका व्याख्या से]* ❑❑

[२]

एक गणिका की आस्था

(वैदिक)

दक्षिण भारत की एक सुप्रसिद्ध गणिका थी। अपार द्रव्य था उसके पास, परन्तु फिर भी मन में शान्ति नहीं थी। एक दिन उसके द्वार पर साधु आए। उसने सोचा- अवश्य किसी पुण्य-कर्म का उदय हुआ है मेरे जीवन में, अन्यथा वेश्या के द्वार पर साधु! कभी-कभी असम्भव भी घटित हो जाया करता है।

भक्ति-भाव से परिपूर्ण हो उसने साधुओं को प्रणाम किया। वयोवृद्ध साधु ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा, "नगर के मंदिर का निर्माण-कार्य अपूर्ण है देवी! हम उसकी पूर्ति-हेतु अर्थ-संग्रह के प्रयोजन से निकले हैं। यदि तुम्हारी कुछ श्रद्धा हो तो तुम भी पुण्य-उपार्जन के इस अवसर से लाभ उठा सकती हो, भगवान् कृष्ण तुम्हारा कल्याण करें।"

"अभी आई महाराज!" गणिका उत्साह से भीतर गई और चांदी की थाली में स्वर्ण-मुद्रायें भर कर तत्काल लौट आई। थाली सन्तों के

चरणों में रख दी। इतना द्रव्य! सन्तों को उसकी आस्था पर हर्ष हुआ और उसकी उदारता पर आश्चर्य। वे पूछ बैठे, 'तुम करती क्या हो देवी?'

यह प्रश्न गणिका के हृदय में तीर-सा चुभा। इसी प्रश्न से वह डर रही थी और यही सामने था। उत्तर मांगा जा रहा था। क्या वह झूठ बोल दे? क्या वह सत्य बता दे? संभव है– सत्य सुनकर साधु उसकी भेंट ठुकरा दें। जीवन में पहली बार साधुओं के चरण जिस द्वार पर पड़े हैं, संभव है वह आज भी हतभाग्य रह जाये। संभव है कि वरदान का यह अवसर अभिशाप में बदल जाये। कुछ भी हो, वह असत्य कहने का पाप नहीं करेगी, गणिका ने अंतर्द्वन्द्व को यह संकल्प करते हुए विराम दे दिया। हाथ जोड़कर कहा– "मैं पापिन हूं महाराज! शरीर बेचती हूं।"

गणिका वासवदत्ता

बौद्ध साहित्य की एक प्रसिद्ध कथा है:—

मथुरा नगरी में वासवदत्ता नाम की एक गणिका रहती थी। वह परम रूपवती और चतुर थी। उसके पास अपार लक्ष्मी थी। उस युग के राजा, राजकुमार और बड़े-बड़े धनपति सेठ वासवदत्ता के रूप के दीवाने थे। वासवदत्ता को अपने रूप और यौवन पर अहंकार था। उसकी सोच थी कि सौन्दर्य से प्रत्येक वस्तु खरीदी जा सकती है।

एक दिन वासवदत्ता अपने महल के गवाक्ष में खड़ी नगर की शोभा देख रही थी। उसकी दष्टि एक युवा भिक्षु पर पड़ी। महान् रूपवान् उस भिक्षु को देखकर वासवदत्ता अपना भान भूल बैंठी। एकटक दृष्टि से वह उसे तब तक निहारती रही जब तक वह उसकी दृष्टि से ओझल न हो गया।

वासवदत्ता ने अपनी दासी को भेजकर उस भिक्षु का नाम-स्थान ज्ञात किया। उसे मालूम पड़ा कि उस भिक्षु का नाम उपगुप्त है। वह बौद्ध-विहार में प्रवास पर है। परमात्मा को पाने के लिए वह महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं के अनुरूप जीवन को जीता है।

अर्ध-रात्री की वेला में जब पूरी मथुरा नगरी निद्राधीन थी, एक स्वर्णथाल में दीपक जलाकर वासवदत्ता बौद्ध-विहार में पहुंची। उसके पैरों में बंधे नूपुरों से रूनझुन-रूनझुन की ध्वनि निकल रही थी। वासवदत्ता के कदम भिक्षु उपगुप्त के आसन तक पहुंच चुके थे। उसने दीपक के प्रकाश में भिक्षु के तेजस्वी आनन को देखा। अपलक देखा।

उपगुप्त की निद्रा टूट गई। वे उठ बैठे और बोले– "देवि! कौन हो तुम और इतनी रात में यहां किसलिए आई हो?"

"तुम मुझे नहीं जानते?" वासवदत्ता के स्वर में वासनायुक्त माधुर्य था– "इस देश का प्रत्येक युवक मुझे जानता है। मैं वासवदत्ता हूं। बड़े-बड़े राजा और धनाढ्य युवक मेरे भवन के चक्कर लगाया करते हैं।"

"मुझसे क्या चाहती हो?" उपगुप्त ने सहज-शान्त स्वर में पूछा।

"ले जा अपना थाल। गणिका के दान से भगवान् का मंदिर नहीं बनेगा।" एक युवा साधु गरजा। जिसका डर था, वही हुआ।

"हां मैं गणिका हूं परन्तु गंगा मुझसे घृणा नहीं करती। जब

"भिक्षु! तुम्हारे रूप-यौवन ने मुझे तुम्हारी दीवानी बना दिया है।" वासवदत्ता ने कहा- "मैं तुम्हें लेने आई हूं। मेरे महल पर चलो। तुम्हारा यह सुकोमल शरीर सख्त पृथ्वी पर सोने के लिए नहीं है। मेरे महल की कीमती कालीन तुम्हारी चरण-रज को पाकर धन्य हो जाएगी। स्वर्ण शैया तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। भिक्षु! चलो मैं स्वयं तुम्हें लेने आई हूं। मैं वासवदत्ता!"

निष्काम भिक्षु उपगुप्त ने वासवदत्ता की आंखों से झांका। उन आंखों में वासना की आंधी थी। उपगुप्त को लगा- वासवदत्ता को बोध देने का यह उपयुक्त क्षण नहीं है। वे बोले- "वासवदत्ते! अभी तुम लौट जाओ। मैं तुम्हारा आमंत्रण स्वीकार करता हूं। उपयुक्त समय पर मैं अवश्य तुम्हारे पास आऊंगा।"

"मैं उस उपयुक्त समय की प्राण-पण से प्रतीक्षा करूंगी।" वासवदत्ता बोली- "अपने वचन का पालन करना भिक्षु! मैं तुम्हारे आगमन की आशा का दीप अपने हृदय में जलाकर जा रही हूं।"

वासवदत्ता अपने भवन को लौट गई। वह प्रतिदिन अपने महल की ओर आने वाले मार्ग पर आंखें बिछाए उपगुप्त की प्रतीक्षा किया करती थी। बहुत समय अतीत हो गया।

ठीक तीन वर्ष के पश्चात्, भिक्षु उपगुप्त निर्जन वन से गुजर रहे थे। उन्होंने देखा कि पथ के किनारे एक प्रौढ़ा स्त्री अचेत पड़ी है। उसके चेहरे पर चेचक फूट आई है और उस पर मक्खियां भिनभिना रही हैं। वातावरण दुर्गन्धियुक्त है। भिक्षु का कोमल हृदय करुणा रस से छलक उठा। वे शीघ्र कदमों से निकट ही एक जलाशय से जल लेकर आए। उन्होंने अपने हाथों से उस महिला की देह को धोया। शीतल जल के स्पर्श से उस महिला की चेतना लौट आई। उसने आंखें खोलीं। देखा- भिक्षु उपगुप्त उसकी परिचर्या कर रहे हैं। भिक्षु उपगुप्त ने भी वासवदत्ता को पहचान लिया था। वे बोले- "देवि! मैंने अपना वचन पूर्ण कर दिया है। यही वह उपयुक्त समय है जब तुम्हें मेरी आवश्यकता है।"

"अब मेरे पास बचा ही क्या है?" वासवदत्ता बोली- "चेचक ने मेरा रूप विद्रूप कर दिया है। उन्हीं लोगों ने मुझे यहां ला पटका है जो मेरे रूप पर लुब्ध भंवरों की भांति मंडराया करते थे।"

"रूप और यौवन तो अस्थिर है, देवि!" उपगुप्त बोले- "आत्मा अनश्वर और अमिट है। आत्मसौन्दर्य ही परमसौन्दर्य है। अपनी आत्मा को समझो। परम सौन्दर्य को प्राप्त करो। अपने अन्तर्चक्षु खोलो। तुम्हारा आत्म-सौन्दर्य ही तुम्हारे भीतर परमात्मा को प्रगट करेगा।"

भिक्षु उपगुप्त के सामयिक उपदेश से वासवदत्ता के भीतर ज्योति प्रगट हुई। अन्तर्ज्योति प्राप्त करके वह भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित हो गई। आत्मसाधना करके उसने अपनी आत्मा का उद्धार किया। ❑❑

भी मैं उसके पास गई, उसने मेरे रोम-रोम में शीतलता भर दी। सुना था कि सन्त तो गंगा से भी अधिक पवित्र होते हैं। यदि आप भी मुझसे घृणा करते हैं तो फिर मेरे उद्धार की क्या आशा!'' गणिका का कण्ठ भर्रा आया। आंखों से आंसू बहने लगे। उसने अपनी थाली उठाई और वापिस मुड़ी। तभी वृद्ध साधु का अमृत-स्वर उसके कानों तक पहुंचा, ''तू उस मंदिर का कलश बनवा दे।'' गणिका को सहसा अपने कानों पर विश्वास न हुआ।

''यह क्या कह रहे हैं गुरुदेव? पहले ही कलश स्थापित करने में कठिनाई आ रही है। यदि गणिका के धन से वह बना, तो हो सकता है सारा मंदिर ही गिर पड़े।'' युवा साधु ने आक्रोशपूर्ण स्वर में कहा।

''मैं सब कुछ सोच-समझ कर कह रहा हूं।'' वृद्ध साधु का गम्भीर स्वर दृढ़ता से परिपूर्ण था, ''मंदिर का कलश इसी के धन से बनेगा। यही नहीं, पहले यह उसे अपने हाथों से छूएगी। तब वह ऊपर चढ़ेगा।''

''अनर्थ! घोर अनर्थ!'' युवा साधु ने सोचा। गुरु-कोप के भय से उसने कुछ कहा नहीं, परन्तु मुख-मुद्रा पर ये भाव स्पष्टतः अंकित थे।

''यह तो हुई मंदिर की बात। अब ये बता, इस बूढ़े साधु को भी कुछ देगी?''

''आज्ञा दें महाराज! दे सकी तो अवश्य दूंगी।''

''तो फिर ला! अपनी गणिका-वृत्ति मेरी झोली में डाल दे।'' साधु ने झोली फैला दी। गणिका ने पल-भर का भी विलम्ब न किया। तत्काल घुंघरू उठाये और झोली में डाल दिये।

साधु गणिका का धन लेकर चले गए। मंदिर का भव्य रत्नजड़ित कलश बना। उसे चढ़ाने से पहले गणिका आई। डरते-डरते कलश को छुआ और तत्काल अपना हाथ हटा लिया, मानो उसके अधिक छूने से कलश अधिक अपवित्र हो जायेगा। कलश चढ़ाया गया। युवा साधु इस आशा से टकटकी लगाये देख रहा था कि कलश अब गिरा... अब गिरा...! परन्तु देखकर वह चकित रह गया- जो कलश पहले दो बार गिर चुका था, वह मंदिर के शिखर पर चढ़ा हुआ था। सूर्य की रोशनी में जगमगा रहा था। इतना कि उस पर नज़र न ठहरती थी। उसने मलते हुए आंखें नीचे कीं। अरे! यह क्या! उसने देखा—

गणिका धरती पर पड़ी थी। निश्चेष्ट। निस्पन्द। उसके प्राण देह छोड़ कर जा चुके थे। 'अवश्य भवगान् का अनुग्रह है यह' उसने सोचा, हाथ जुड़ गये। सर झुक गया। मन में कहा— नहीं! अब गणिका नहीं थी यह। यह तो देवी थी। देवी।

OOO

भारतीय संस्कृति में आचार को ही श्रेष्ठता का आधार माना गया है— **आचारः प्रथमो धर्मः**। पुरुष हो या नारी, दोनों की श्रेष्ठता का मानदण्ड उसका सदाचार होता है। यदि कोई पापमय निन्दित आचरण को छोड़कर, सदाचारी बन जाए तो वह श्रेष्ठ ही माना जाएगा, भले ही उसका पूर्व जीवन पापमय रहा हो। मन की अशुद्धता-कलुषता ही व्यक्ति को निन्दनीय बनाती है और मन की शुद्धता, सद्विचारपूर्णता उसे श्रेष्ठ व्यक्तित्व प्रदान करती है। यह नियम सभी के लिए, चाहे वह पुरुष हो या नारी, सभी के लिए लागू होता है। नारियों में भी, अधम से अधम समझी जाने वाली, भले ही वह गणिका-वेश्या ही क्यों न हो, वह भी अपने विचारों की शुद्धता से, तथा स्वयं में त्याग-परोपकार जैसे सद्गुणों को विकसित कर 'श्रेष्ठ' कही जा सकती है। पापात्मा व्यक्ति अपने वैभव का उपयोग अपने कामभोगों की पूर्ति के लिए करता है, किन्तु सांसारिक वैराग्य जागते ही वह उस वैभव को धर्मार्थ विसर्जित करने लगे, तो धर्मात्मा बनने की ओर उसका अग्रसर होना कहा जाएगा। यह सब परिवर्तन संत्सगति के करण या स्वतः अन्तर्विवेक के जागने पर सम्भव हो जाता है। उक्त सांस्कृतिक मान्यता के निदर्शन के रूप में उपर्युक्त कथानकों की प्रस्तुति सार्थक हुई है।

आत्मसंगीत के उद्‌गाता जैन मुनि स्थूलभद्र ने रूपकोशा गणिका के जीवन की दिशा बदल दी और उसे

उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराया। उसके भीतर ज्ञान का दीपक जलाया। आत्मीय अन्तर्ज्योति से उद्योतित उसके अन्तर्मन में सदाचारी जीवन जीने की दृढ़ता विकसित हुई। उसके जीवन की दिशा ऊर्ध्वमुखी हो गई। इसी तरह, बौद्ध भिक्षु उपगुप्त के सामयिक उपदेश ने वासवदत्ता गणिका के अन्तर्मन में ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित की, और उसे आत्म-साधना के मार्ग पर अग्रसर किया। दक्षिण भारत की गणिका ने भी त्याग, परोपकार व लोक-उपकार की दृष्टि से अपने वैभव का दान कर एक स्वर्ण-कलश से मंदिर के निर्माण को पूर्ण कराया। पहले यहां मंदिर में कोई कलश स्थिर नहीं हो रहे थे, वहां उक्त गणिका द्वारा प्रदत्त धन से निर्मित स्वर्ण-कलश स्थिर हो गया था। इस प्रकार , प्रकृति ने भी उसके भावों की श्रेष्ठता को प्रमाणित किया था।

कथाओं के पात्रादि की भिन्नता भले ही हो, ये कथानक नारी-पात्रों में अन्तर्निहित अन्तर्ज्योति के जागृत होने से उनके आदर्श नारी बनने की क्षमता को उद्घोषित करते हैं।

●

कर्म-फल टरौ न टरै

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

कर्म अपने कर्त्ता का सदैव अनुगमन करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार पांच शरीरों में एक शरीर है– कार्मण शरीर। कार्मण शरीर जीवात्मा के साथ पल-प्रतिपल प्रतिच्छाया की भांति लगा रहता है। इसे एक प्राकृतिक ऑटोमेटिक रिकार्डर कहा जा सकता है। प्राणी के प्रत्येक कर्म का गणित इस शरीर में उट्टंकित/संगृहीत होता रहता है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं– (1) शुभ कर्म और (2) अशुभ कर्म। शुभ या अशुभ कर्म समय के परिपाक के साथ अपना-अपना फल प्रदान करते हैं। सामान्यतः अशुभ कर्म सदैव अशुभ फल का प्रदाता होता है और शुभ कर्म सदैव शुभ फल प्रदान करते हैं। किसान द्वारा पृथ्वी में बोए हुए बीज विपरीत जल-वायु के कारण यदा-कदा निष्फल भी हो जाते हैं, लेकिन कृत कर्म कदापि निष्फल नहीं होते। भगवान् महावीर ने स्पष्ट उद्घोषणा की थी–

कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि (उत्तरा. 4/3, 13/10)।

–अर्थात् कृत कर्मों से तब तक छुटकारा नहीं मिलता (जब तक कि अच्छे या बुरे फलों को भोग न लिया जाय)। अच्छे कर्मों का फल अच्छा, और बुरे कर्मों का फल बुरा ही मिलता है– **जं जारिसं पुव्वमकासि कम्म, तमेव आगच्छति संपराए** । (सूत्रकृतांग- 1/5/2/23)

–अर्थात् जीव ने जैसे कर्म किये होते हैं, उसी के अनुरूप

फल मिलता है। वर्तमान में जीव जो दुःख-सुखादिक फल भोग रहा है, वह भी पूर्वकृत कर्मों का ही फल है– **जीवेण सयं कडं दुक्खं वेदेइ, न परकडे** (भगवती सूत्र 1/2)।

–अर्थात् जीव जो भोग रहा होता है, वह अपने ही किये हुए कर्म का फल होता है, किसी दूसरे का किया हुआ नहीं। किये हुए कर्म सदा साथ रहते हैं, उसे छोड़ते नहीं–**कत्तारमेव अणुजाणइ कम्मं** (उत्तरा. सू. 13/23)– अर्थात् कर्म अपने कर्ता का सदैव अनुगमन करते हैं।

कर्म-सम्बन्धी उक्त जैन मान्यता का बौद्ध परम्परा में भी समर्थन प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य में उपलब्ध कुछ उद्धरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं:– **कम्मणा वत्तते लोको** (सुत्तनिपात, 3/35/61)। –समस्त लोक कर्म-सिद्धान्त से प्रवर्तित है।

यं करोति नरो कम्मं कल्लाणं यदि पावकं।
तस्स तस्सेव दायादो यं यं कम्मं पकुब्बतो॥

(थेरगाथा- 147)

–मनुष्य पाप या पुण्य जो भी करता है, उसी के अनुरूप वह बुरा या अच्छा फल पाता है। **न हि नस्सति कस्स वि कम्म** (सुत्तनिपात, 36/10)– किसी का किया हुआ कार्य (फल देने से पूर्व) नष्ट नहीं होता। **यं करोति तेण उपपज्जति** (मज्झिमनिकाय, 2/7/2)– प्राणी जो कर्म करता है, वह अगले जन्म में उसे साथ लेकर जाता है।

वैदिक परम्परा में भी उक्त सिद्धान्त का ही प्रतिपादन हुआ है। महाभारतकार व्यास महर्षि ने कर्म-सिद्धान्त को सरल व संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है–

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो याति स्वमातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म, कर्तारमनुगच्छति॥

(महाभारत, 12/18/16)

–जैसे हजारों गौओं के भीतर भी बछड़ा अपनी माता को खोज कर उसका अनुगमन करता है, उसी तरह किये हुए कर्म अपने कर्ता का अनुगमन करते हैं। उपनिषद् का ऋषि भी कर्म-व्यवस्था का निरूपण इस प्रकार करता है–**पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा, पापः पापेनेति** (बृहदा. उप. 3/2/13)– पुण्य कर्म से पुण्यात्मा, तथा पापकर्म से पापात्मा होता है।

यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथैव प्रेत्य भवति (छान्दोग्य उप. 3/14/1)– इस लोक में जो जैसा कर्म करता है, परलोक में भी वैसा ही फल पाता है।

सन्त तुलसीदास ने भी कर्म-सम्बन्धी सनातन मान्यता को रामचरित मानस में इस प्रकार रेखांकित किया है :–

कर्मप्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ, सो तस फल चाखा।।

निस्कर्ष यह है कि 'कर्म-फल टारै न टरै' की मान्यता को सभी भारतीय धार्मिक परम्पराओं ने मान्य किया है। जिन धर्मों और दर्शनों में सृष्टिनियन्ता ईश्वर भी मान्य है तो भी यह माना गया है कि ईश्वर जीवों को उनके कर्मों के अनुसार फल देते हैं।

कर्म-सिद्धान्त को पौराणिक कथाओं में भी व्याख्यायित करने का प्रयास हुआ है। उपर्युक्त वैचारिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में वैदिक व जैन- इन दो परम्पराओं में से एक-एक कथानक यहां उद्धृत कर प्रस्तुत किये गए हैं:–

[१]
कलावती
(जैन)

कलावती देवशाल नगर के राजा विजयसेन की पुत्री थी। कलावती का एक भाई था– जयसेन। बहन-भाई में अतिशय प्रीति थी। कलावती में रूप और गुणों का अपूर्व संगम हुआ। उसके रूप और गुणों की सुगन्ध दूर देशों में व्याप्त हो गई थी। अनेक राजा और राजकुमार उसे अपनाने को उतावले थे।

शंखपुर का राजा शंख कलावती के रूप पर सर्वाधिक मोहित था। उसे ज्ञात हुआ कि कलावती का स्वयंवर होने वाला है। उस स्वयंवर में कलावती उसे ही वरमाला पहनाएगी जो उस द्वारा पूछे गए चार प्रश्नों के सही उत्तर देगा। राजा शंख ने सरस्वती देवी की आराधना की। देवी ने प्रगट

होकर कहा– स्वयंवर मण्डप में एक स्तंभ पर पुतली होगी। उस पर हाथ रख देना। वह राजकुमारी के प्रश्नों का उत्तर दे देगी।

राजा शंख ने वैसा ही किया। कलावती ने शंख को अपना पति चुन लिया। शंख और कलावती पति-पत्नी बन गए। शंख को मन की मुराद मिल गई। पति-पत्नी अपूर्व प्रेमपूर्वक सानन्द समय बिताने लगे।

कलावती का भाई जयसेन एक बार शंखपुर अपनी बहन के पास आया। महाराज शंख अन्यत्र गए थे। जयसेन ने अन्य अनेक वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त अपनी बहन को दो अमूल्य स्वर्ण-कंगण दिए। भाई अपने घर लौट गया।

कलावती ने स्वर्ण-कंगण अपनी कलाइयों में धारण किए। उसे वे बहुत सुन्दर लगे। अपने दासी से कहा– "उसका मुझ पर कितना प्रेम है। उसने मुझे कितने सुन्दर और कीमती कंगन भेंट किए हैं। उसके प्रेम को मैं शब्दों में नहीं कह सकती।"

कक्ष के निकट से निकलते राजा शंख के कानों में रानी के अन्तिम शब्द पड़े। राजा संदेहशील हो उठा। उसने मन ही मन यह निश्चय कर लिया कि उसकी रानी किसी अन्य पुरुष के प्रेम में पागल है। राजा की मति विभ्रमित हो गई। उसने बिना पूछताछ किए ही अपनी प्रिय रानी कलावती को जंगलों में छुड़वा दिया। इतना ही नहीं, चाण्डालों से कहकर उसके हाथ भी कटवा दिए।

अकस्मात् टूट पड़े संकट के इस पर्वत से कलावती चूर-चूर हो गई। वह आसन्न-प्रसवा थी। वह अचेत हो गई। बहुत देर के पश्चात् जब उसकी चेतना लौटी, तो वह अपने कटे हुए हाथों को देखकर रोने लगी।

एक नदी के तट पर कलावती ने एक पुत्र को जन्म दिया। हाथ न होने से वह पुत्र को स्तनपान तक न करा सकी। नवजात शिशु के रोदन ने कलावती के मातृत्व को खून के आंसू रुला दिये। नदी की अधिष्ठात्री देवी इस शिशु और मां के रोदन को सहन न कर पाई। उसने प्रगट होकर दैवी शक्ति से कलावती के हाथ वापस दे दिए। कलावती ने शिशु को स्तनपान कराया।

उधर से कुछ तापस निकले। वे कलावती को आश्रम में ले गए। आश्रम में रहकर कलावती अपने पुत्र का पालन करने लगी।

कंगन-सहित कटे हुए कलावती के हाथ चाण्डालिनियों ने

राजा शंख को दिए। शंख की दृष्टि कंगनों पर पड़ी। कंगनों पर उट्टंकित जयसेन शब्द पढ़कर शंख दंग रह गया। सत्य अनावृत हुआ। उसने कलावती की खोज में घोड़े दौड़ाए। कलावती को खोज लिया गया। शंख और कलावती का पुनर्मिलन हुआ। शंख ने कलावती से क्षमा मांगी। उनका दाम्पत्य जीवन-रथ पुनः सुख के राजमार्ग पर बढ़ चला।

एक बार शंखपुर में ज्ञानी मुनि आए। राजा और रानी मुनि -दर्शन को गए। रानी ने मुनि से जिज्ञासा रखी—"गुरुदेव! निरपराधिनी होते हुए भी मेरे हाथ क्यों काटे गए? इसका कारण बताइए?"

ज्ञानी मुनि ने कलावती को उसके पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाया— "कलावती! पूर्व जन्म में तुम महेन्द्रपुर के राजा नरविक्रम की पुत्री थी। वहां पर तुम्हारा नाम सुलोचना था। किसी ने एक तोता तुम्हारे पिता को भेंट किया। वह तोता तुम्हें बहुत प्रिय था। तुम उसे सदा पिंजरे में बन्द किए अपने पास रखती थी।"

"एक बार तुम संत-दर्शन को गई। तोता तुम्हारे साथ था। संत-दर्शन से तोते को अपना पूर्वजन्म स्मरण हो आया। पूर्वजन्म में वह तोता संत था। पर उसने परिग्रह की ममता में फंसकर संयम की विराधना कर दी थी। उस तोते ने प्रायश्चित्त के लिए मन में यह संकल्प कर लिया कि अब वह भविष्य में संत-दर्शन करके ही भोजन-पान ग्रहण करेगा।"

"प्रतिदिन वह तोता सुबह उड़ जाता। संत-दर्शन करके लौट आता। एक बार वह कई दिनों तक नहीं लौटा। उसके विरह में तुम अधीर हो गई। तुम्हें गुस्सा भी आया। उसके लौटने पर तुमने उसके पंख उखाड़ डाले। पीड़ा से तोता कराहकर रह गया। विवश तोता मन मार कर सन्त दर्शन से वंचित हो गया।"

ज्ञानी मुनि ने अपनी बात पूर्ण करते हुए कहा— "कलावती! पूर्व जन्म का वह तोता ही तुम्हारा पति शंख बना है। तुमने तोते के पंख उखाड़े थे, उसी के परिणाम स्वरूप तुम्हारे हाथ काटे गए।"

कर्म के इस विचित्र परिणाम को सुनकर कलावती और शंख राजा प्रतिबुद्ध हो गए।

ग्यारहवें भव में कलावती और शंख के जीव ने सर्वकर्म नष्ट कर मोक्ष का वरण किया।

❑❑

[२]
सदन कसाई
(वैदिक)

प्रकृति की गति विचित्र है। कभी-कभी उच्च कुल में पापात्मा उत्पन्न हो जाते हैं तो कभी निम्न कुल में पुण्यात्मा। मनुष्य की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता उसके कुल पर नहीं, अपितु उसके कर्म पर निर्भर करती है। मनुष्य कर्म से महान् बनता है, कुल से नहीं।

सदन का जन्म कसाई कुल में हुआ था। लेकिन वह परमात्मा के ध्यान में सदा लीन रहता था। युवा होने पर सदन को व्यवसाय करना पड़ा। कुछ व्यवसाय न मिलने पर उन्हें पैतृक व्यवसाय अपनाना पड़ा। वह जीववध तो नहीं कर सकता था। परन्तु मांस खरीदता और बेचता था। उसकी रोजी चलने लगी।

मांस का व्यवसाय करते हुए भी सदन प्रभु-भजन में लीन रहता था। उसे अपना व्यवसाय पसन्द न था। वह मन मारकर यह कार्य करता था। हरि का नाम प्रतिपल उसके हृदय में रहता था।

कहते हैं, भगवान् मनुष्य के हृदय को देखते हैं, बाह्य कार्य को नहीं। सदन की दुकान पर मांस तोलने के लिए एक शालिग्राम था। भगवान् उस शालिग्राम में निवास करने लगे।

एक दिन सदन की दुकान के सामने से एक संत निकल रहे थे। उनकी दृष्टि शालिग्राम पर पड़ी। वे शालिग्राम को पहचान गए। उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने सदन से वह शालिग्राम मांग लिया। सदन ने सहर्ष वह चमकीला बाट संत को दे दिया।

संत शालिग्राम को अपनी कुटिया पर ले गए। उन्होंने विधिपूर्वक उसकी पूजा की। रात्री में संत ने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में भगवान् बोले— "तुम मुझे यहां क्यों ले आए हो। मुझे तो वहीं मेरे भक्त के पास बड़ा सुख मिलता था। उसके करस्पर्श में बड़ी शीतलता थी। उसके गान से माधुर्य टपकता था। तुम मुझे वहीं पहुंचा दो।"

सुबह वे संत शालिग्राम को लेकर सदन के पास पहुंचे और उसे वह ईश्वर रूप शालिग्राम प्रदान करते हुए उसकी महिमा बताई। सदन

ने अपनी अविवेक बुद्धि को धिक्कारा। शालिग्राम जी की अर्चना की। अब उसे अपने कर्म से घृणा हो गई। उसने निश्चय कर लिया कि भूखों मर जाऊंगा, लेकिन मांस का व्यवसाय नहीं करूंगा।

शालिग्राम को लेकर सदन जगन्नाथ पुरी की ओर चल पड़ा। मार्ग में संध्या घिरने पर सदन एक ग्राम में एक गृहस्थ के घर रात्री-विश्राम के लिए ठहरा।

रात्री को गृहस्थ की पत्नी सदन के रूप-यौवन पर आसक्त हो गई। उसके पास आकर उसने हावों-भावों से अपने हृदय के कुत्सित विचार प्रगट किए। सदन तो भगवद्भक्त था। वह ऐसा दूषित प्रस्ताव कैसे स्वीकार करता? उसने उस स्त्री को समझाया– ''मां! मुझे क्षमा करो। मैं तो तुम्हारा पुत्र हूं। कुत्सित विचारों का त्याग कीजिए।''

स्त्री ने सोचा कि सदन उसके पति से घबरा रहा है। उसने तलवार निकाली और अपने पति का सिर काट दिया। फिर सदन के पास आकर वही प्रस्ताव रखा। सदन ने उसके प्रस्ताव को कठिन शब्दों में ठुकरा दिया। स्त्री जल उठी। उसने त्रियाचरित्र प्रदर्शित करते हुए जोर-जोर से चिल्लाना शुरू कर दिया। लोग एकत्र हो गए। वह बोली–'यह यात्री मुझसे बलात्कार करने की चेष्टा कर रहा है। इसने मेरे पति का वध कर दिया है।'

लोगों ने उस स्त्री की बात पर विश्वास कर लिया। सदन को पकड़कर राजा के पास ले गए। राजा ने सदन के दोनों हाथ कटवा दिए। सदन ने कोई सफाई नहीं दी। न ही उसने भगवान् से कोई शिकायत की। दण्डित होने पर भी वह प्रसन्न था। वह जगन्नाथपुरी की ओर चल पड़ा। उधर प्रभु ने पुरी के पुजारी को स्वप्न में आदेश दिया– मेरा भक्त सदन मेरे पास आ रहा है। उसके हाथ कट गए हैं। पालकी लेकर जाओ और उसे आदर-पूर्वक ले आओ। सदन को पालकी में लाया गया। सदन ने जैसे ही भगवान् जगन्नाथ को दण्डवत् प्रणाम करके भुजाएं कीर्तन के लिए उपर उठाईं, उसके हाथ पूर्ववत् ठीक हो गए। सदन ने इसे प्रभु का प्रसाद माना, लेकिन उसके हृदय में एक शंका बनी रही कि मुझ निरपराध के हाथ क्यों काटे गए। मैंने तो जीवन में कोई पाप नहीं किया।

रात्री में भगवान् ने स्वप्न में प्रगट होकर सदन से कहा– ''मेरे भक्त! प्रभु के राज्य में कोई निरपराध दण्डित नहीं होता। तुम्हारी सोच

किसी सीमा तक सत्य है। परन्तु जीवन इतना ही नहीं है जितना तुम समझ रहे हो। इस जीवन से पहले भी तुम्हारा जीवन था। उस जीवन के अपराध का दण्ड तुम्हें हाथ गवां कर भोगना पड़ा है।''

"मेरा अपराध क्या था प्रभु?" सदन ने पूछा।

"पूर्व जीवन में तुम ब्राह्मण थे।" भगवान् ने कहा– "एक दिन एक गाय एक कसाई के घेरे से भागी जा रही थी। कसाई ने तुम्हें पुकार कर गाय को रोकने के लिए कहा। तुम भलीभांति जानते थे कि गाय को रोकने का परिणाम गाय की मृत्यु होगा। फिर भी तुम ने अपने दोनों हाथों को गाय के गले में डाल कर उसे रोक लिया। सदन! वही गाय इस जीवन में वह स्त्री बनी और कसाई उस का पति बना। कसाई ने गाय का वध किया था, इसलिए उस स्त्री ने अपने पति का वध करके अपना बदला लिया। तुमने भयातुर गाय को दोनों हाथों से भागने से रोका था, अतः तुम्हारें दोनों हाथ काटे गए।''

करणी का फल प्रत्येक प्राणी को अवश्य भोगना पड़ता है– इस सूत्र को सदन ने हृदयंगम कर लिया। अशुभ-पापयुक्त कर्मों से बचते हुए सदन सदैव शुभ कर्मों में लीन रहने लगा। निष्पाप जीवन बिताकर उसने परधाम प्राप्त किया। OOO

उपर्युक्त दो कथाएं कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुरूप ही हैं। दोनों कथानकों का तथ्य व सत्य एकदम समान है। जैन साहित्य से उद्धृत कलावती के कथानक में उसके पूर्वजन्म में किये गए हिंसात्मक कर्म (तोते के पंख काट देने) के फलस्वरूप उसके हाथ काटे जाने का वर्णन है। वैदिक साहित्य से उद्धृत सदन कसाई के कथानक में भी यही सत्य मुखरित हुआ है। सदन कसाई ने अपने पूर्व जन्म में एक भागती हुई गाय को पकड़ कर कसाई को सोंपा, जिसके फलस्वरूप उसे अपने हाथ गंवाने पड़े। वैदिक व जैन- ये धाराएं भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु दोनों कथानकों की एकात्मता, एकरूपता व एकस्वरता द्रष्टव्य है।

भोग: दुर्गति की राह

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमि:)

सत्ता की कामना भीतर के कामाकर्षण की प्रतीक है। 'काम' का आकर्षण अत्यन्त प्रबल होता है। उसके लिए मनुष्य अपना सर्वस्व दांव पर लगा देता है। लेकिन वह इस सत्य को विस्मृत कर देता है कि 'काम' केवल प्रवृत्ति काल में ही सुखाभास मात्र देता है, परन्तु परिणाम-काल में दारुण कष्टदाता सिद्ध होता है। भगवान् महावीर ने 'काम' के स्वरूप को यों प्रगट किया था–

"सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा।"

(उत्तराध्ययन सू. 9/53)

'काम' शल्य हैं, विष तुल्य हैं, भयानक तालपुट विष के समान मृत्यु देने वाले। जैन आगम साहित्य में कामभोगों की निस्सारता तथा दुःखप्रद परिणति के विषय में प्रचुर सूक्तियां व उद्धरण उपलब्ध हैं, उन्में से कुछ यहां प्रस्तुत हैं:– **कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।**

(उत्तराध्ययन सू. 32/19)

–समृद्धिशाली देवताओं से लेकर सामान्य प्राणियों तक जो दुःख है, वह विषय-लोलुपता के कारण प्राप्त है।

सव्वे कामा दुहावहा।

(उत्तराध्ययन सू. 13/16)

—सभी कामभोग दुःखदायी होते हैं।

न कामभोगा समयं उवेंति।

(उत्तराध्ययन सू. 32/101)

—कामभोगों के सेवन से सुख-शान्ति नहीं मिल सकती।

बौद्ध परम्परा में भी कामभोगों की हेयता को सर्वत्र रेखांकित किया गया हैः-

नत्थि कामा परं दुक्खं।

(जातक 11/459/99)

—कामभोगों से ज्यादा कोई दुःखदायी नहीं हैं।

यो कामे कामयति, दुक्खं सो कामयति।

(थेरगाथा- 96)

—जो कामविषयों को चाहता है, वह दुःख को ही चाह रहा है।

कामभोगों में आसक्त व्यक्ति उनसे सहजतया निकल नहीं पाता। जातक साहित्य में कहा गया हैः—

पंको च कामा पलियो च कामा मनोहरा दुत्तरा मच्चुधेय्या।
एतस्मिं पंके पलिये व्यसञ्ञा हीनत्तरूपा न तरन्ति पारं॥

अर्थात् काम-भोग कीचड़ हैं, काम-भोग दलदल हैं, मनोहर हैं, दुस्तर हैं, मरण-मुख हैं। इस कीचड़ में, दलदल में फंसे हुए हीनात्मा लोग तैर कर पार नहीं हो सकते।

वैदिक परम्परा भी श्रमण परम्परा की तरह कामभोगों के दुष्परिणामों का निरूपण करती है और इन्हें सर्वथा त्याज्य/वर्जनीय बताती है। महाभारतकार महर्षि व्यास का स्पष्ट उद्‌बोधन हैः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषां कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(महाभारत- 1/75/50)

—कामभोगों के निरन्तर भोग करते रहने से कभी कामनाएं शान्त नहीं होतीं। वे तो उसी प्रकार बढती हैं जैसे घी डालने से अग्नि की लौ बढती है।

कामभोगों के दुष्परिणाम को व्याख्यायित करने वाले दो कथानक यहां प्रस्तुत हैं जो क्रमशः जैन व वैदिक परम्परा से सम्बद्ध हैं।

[१]
ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती
(जैन)

ब्रह्मदत्त नाम के एक चक्रवर्ती थे। छह खण्ड पर उनका शासन था। संसार के समस्त सुखभोग उन्हें प्राप्त थे। ब्रह्मदत्त सुखों और भोगों में डूबा रहता। उसे धर्म-कर्म की कभी याद भी न आती। एक बार वह नाटक देख रहा था। नाटक में जो दृश्य दिखाये गये, उन्हें देखकर चक्रवर्ती सोच में डूब गया। उसे लगने लगा- जैसे यह सब उसने पहले कहीं देखा है। नाटक कब खत्म हुआ उसे पता ज चला। वह अपने में डूबा रहा। एक दिन जब वह इस चिन्तन में डूबा था तो उसे जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। जाति स्मरण ज्ञान पूर्व जन्मों के ज्ञान को कहते हैं। उस ज्ञान में ब्रह्मदत्त को अपने कई जन्म दिखाई पड़े। उन पूर्वजन्मों में उसने जाना— मैं पूर्वजन्म में संभूत नाम का मुनि था। मेरे बड़े भाई थे- चित्त मुनि! मैंने और चित्त मुनि ने छह जन्म साथ-साथ बिताये थे। अब चित्त मुनि कहां है, यह जिज्ञासा उसके मन में जागी। वह बेचैन हो उठा अपने उस पूर्व जन्म के भ्राता से मिलने को ।

चित्त को खोज निकालने के लिए उसने एक उपक्रम किया। उसने एक श्लोकार्ध की रचना कर उसे प्रचारित करवा दिया। यह भी घोषणा करवा दी कि जो कोई इस श्लोक को पूर्ण करेगा, उसे वह अपना आधा राज्य देगा। श्लोकार्ध में चित्त और संभूति के पूर्व के छह भवों का सांकेतिक अर्थ निहित था।

जन-जन के मुख पर श्लोकार्ध व्याप्त हो गया। उधर चित्त का जीव पुरिमताल नगर में श्रेष्ठी पुत्र के रूप में युवा हुआ तो उसने मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। एक बार वे मुनि विहार करते हुए कंपिलपुर के एक उद्यान में आए। वहां एक ग्वाला उक्त श्लोकार्ध को दोहरा रहा था। वह श्लोकार्ध था-

आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।

मुनि ज्ञानी थे। उन्हें भी पूर्वजन्मों का ज्ञान था। अतः उन्होंने उस श्लोकार्ध को सुनकर उसे पूरा कर दिया। उस श्लोकार्ध की पंक्तियां थीं-

एषा नो षष्ठिका जातिः अन्योन्याभ्यां विमुक्तयोः।

इस श्लोकपूर्ति से ग्वाला गद्गद हो गया और चक्रवर्ती के आधे राज्य को पाने के प्रलोभन में दौड़कर राजा के पास पहुंचा। उसने ब्रह्मदत्त को पूरा श्लोक सुनाया जिसे सुनकर ब्रह्मदत्त मोहाभिभूत बनकर अचेत हो गया। चक्रवर्ती की अचेतावस्था के लिए सैनिकों ने ग्वाले को उत्तरदायी मानकर बन्दी बना लिया। ग्वाले ने भय से कांपते हुए उगल दिया कि श्लोक की पूर्ति उसने नहीं, बल्कि एक मुनि ने की है।

ब्रह्मदत्त स्वस्थ हुए और शीघ्र ही मुनि के पास पहुंचे। दोनों भाई परस्पर मिले। ब्रह्मदत्त ने मुनि को आधा राज्य देने का आग्रह किया। मुनि ने उसे अस्वीकार कर दिया। मुनि ने ब्रह्मदत्त को धर्मोपदेश दिया और संयम अपनाने की प्रेरणा दी। मुनि बोले- राजन्! जीव जो कर्म करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। कर्म-फल भोगे बिना जीव का छुटकारा नहीं होता। यह आत्मा अनन्त काल से संसार में जन्म-मरण कर रहा है। संसार का कोई ऐसा सुख और दुःख नहीं है जो इसने न भोगा-पाया हो। तुमने और मैंने पूर्व के छह जन्म साथ बितायें हैं। उन जन्मों में संसार के अनेक रूप देखे, परन्तु यह तृष्णा शान्त नहीं हुई। राजन्! यह स्मरण रहे संसार के रूप गीत, विलाप में बदलते हैं। सभी नृत्य-नाटक विडम्बनायें हैं। शरीर को सजाने वाले आभूषण, अन्त में भार सिद्ध होते हैं। सभी काम-भोग अन्त में दुःख सिद्ध होते हैं।

यह जीवन अशाश्वत है, क्षणिक है, नाशवान् है। वे लोग अज्ञानी हैं जो बिना धर्म किये ही परलोक को जाते हैं। परलोक जाते इस जीव का कोई सम्बन्धी, साथी, मित्र और प्रिय ऐसा नहीं होता जो उसका सहारा बन सके। इसलिए हे पंचाल राजा! तुम मेरी बात को सुनो, महालय गुरूतर-घोरपाप कर्म मत करो।

मुनि की बात सुनकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने कहा-

अहंपि जाणामि जहेह साहु! जे मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा हवन्ति, जे दुज्जया अज्जो! अम्हारिसेहिं॥

(उत्तराध्ययन सूत्र 13/27)

हे मुने! आप मुझे जो यह उपदेश दे रहे हो, उसे मैं समझता हूं, परन्तु मैं काम-भोगों में इस प्रकार फंसा हूं कि उन्हें छोड़ नहीं सकता। जिस प्रकार दलदल में फंसा हुआ हाथी, दूर किनारे को देखता तो है परन्तु

उस तक पहुंच नहीं पाता। मैं भी कामभोगों मे फंसा हूं। मैं इनको छोड़ नहीं सकता। ये मुझे प्रिय लगते हैं। रूचते हैं। मैं इनके लिए कामनाशील हूं।

चित्त मुनि बोले- राजन् अगर तू काम भोगों का परित्याग नहीं भी कर सकता तो कम से कम संसार में रहते हुए आर्य कर्म (श्रेष्ठ कर्म) तो किया कर, इससे तुझे सद्गति प्राप्त होगी। उपदेश देकर मुनि चले गये।

पांचाल राजा ब्रह्मदत्त मुनि के उपदेश को साकार नहीं कर सका। ब्रह्मदत्त ने सात सौ वर्ष की आयु तक राज्य किया। जब उसकी आयु अठारह वर्ष शेष थी तब एक ब्राह्मण ने धोखे से छिपकर गुलेल के वार से उसकी दोनों आंखे फोड़ दीं। इससे ब्रह्मदत्त ब्राह्मण वर्ग का शत्रु बन गया। उसने आदेश दिया कि पृथ्वी के समस्त ब्राह्मणों की आंखें निकाल कर उसके समक्ष रखी जाएं। मंत्री धर्मात्मा और चतुर था। उसने मनुष्य की आंख के आकार के श्लेष्मांतक फलों का थाल राजा के समक्ष रख दिया। उन फलों को ब्राह्मणों की आंख मानकर ब्रह्मदत्त उन पर हाथ फिराने लगा और प्रसन्न होने लगा। ऐसे अठारह वर्षों तक महारौद्र ध्यान को जीते हुए, मरने पर ब्रह्मदत्त सातवें नरक में गया। इस तरह भोगों में डूबे ब्रह्मदत्त ने दुर्गति को प्राप्त किया। *[त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से]* □□

[२]

दुर्योधन

(वैदिक)

प्राचीन समय में हस्तिनापुर नगर में पाण्डु नाम के राजा राज्य करते थे। उनके बड़े भाई का नाम धृतराष्ट्र था। ज्येष्ठ कौरव होते हुए भी धृतराष्ट्र जन्मान्ध होने के कारण हस्तिनापुर का राज्य न पा सके थे। उत्तराधिकारी होते हुए भी राजा ज बन पाने का कष्ट-कण्टक धृतराष्ट्र के हृदय में चुभा रहता था।

महाराजा पाण्डु के पांच पुत्र हुए। उनके नाम थे– युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र हुए । दुर्योधन, धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र था। पाण्डु-पुत्र पाण्डव और धृतराष्ट्र-पुत्र कौरव कहलाए। पाण्डव धर्मज्ञ और नीतिज्ञ थे जबकि कौरव राज्य-लोलुप और अधर्मी थे।

राजा पाण्डु की असमय में मृत्यु हो गई। उनके पुत्र युधिष्ठिर इतने छोटे थे कि वे शासन नहीं संभाल सकते थे। अतः सिंहासन के संचालन का दायित्व धृतराष्ट्र को प्राप्त हो गया। धृतराष्ट्र का सपना पूर्ण हो गया। वह सिंहासन के मोह में पूर्णतया डूब गया। वह प्रयास करने लगा कि उसका उत्तराधिकार उसके पुत्र दुर्योधन को प्राप्त हो।

दुर्योधन दुष्ट और अहंकारी था। शकुनी आदि छल-विद्यामर्मज्ञों के सहयोग ने उसकी दुष्टता को और बढ़ा दिया। वह पाण्डवों को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रयत्न पर प्रयत्न किए। कभी उसने भीम को विष खिलाकर यमुना में बहा दिया तो कभी लाक्षागृह का दुष्ट जाल रचा। लेकिन उसे अपने प्रत्येक प्रयत्न में मुंह की खानी पड़ी।

धृतराष्ट्र और दुर्योधन की भयंकर राज्यलिप्सा से विवश होकर पितामह भीष्म को हस्तिनापुर साम्राज्य को दो खण्डों में विभक्त करना पड़ा। युधिष्ठिर आधे राज्य से ही संतुष्ट हो गए। परन्तु दुर्योधन सन्तुष्ट न हुआ। पाण्डवों को प्राप्त इन्द्रप्रस्थ को भी वह अपने राज्य में मिलाना चाहता था। तलवार के बल पर वह पाण्डवों को पराजित नहीं कर सकता था। उसने छल-बल का आश्रय लिया। द्यूत-क्रीड़ा का आयोजन करके उसने पाण्डवों को राजा से रंक बना दिया। इससे ही उसे संतोष नहीं हुआ। उसने पाण्डवों की अर्द्धांगिनी द्रौपदी को भरी सभा में निर्वस्त्र करने का निकृष्टतम प्रयास भी किया।

पाण्डव दुर्योधन को पुनः पुनः क्षमा करते रहे। वे अपनी अच्छाई से दुर्योधन की बुराई मिटाना चाहते थे। लेकिन अधर्म का प्रतिरूप दुर्योधन बदला नहीं। पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास मिला। वनवास काल में भी दुर्योधन पाण्डवों को कष्ट देता रहा।

वनवास के उपरान्त पाण्डवों ने अपना राज्य दुर्योधन से मांगा। दुर्योधन ने एक सूई की नोक टिके— इतना राज्य भी देने से इन्कार कर दिया। धर्मज्ञों, नीतिज्ञों और बुजुर्गों ने उसे समझाया। इतना ही नहीं, स्वयं श्री कृष्ण दुर्योधन को समझाने के लिए गये। उन्होंने दुर्योधन को धर्म-कर्म, राजनीति, लोकनीति आदि अनेक तरह से समझाया। कहा- वह पांडवों का हक दे दे। हठाग्रही दुर्योधन नहीं माना। श्री कृष्ण उसे फिर भी समझाते रहे। श्री कृष्ण के तर्कों का उत्तर उसके पास न था। अन्ततः दुर्योधन बोला-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः।

श्री कृष्ण! मैं धर्म को जानता हूं परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्म को भी जानता हूं परन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं है। अतः मैं सूई की नोक पर आये उतनी भूमि भी पांडवों को नहीं दूंगा। दुर्योधन अपनी जिद्द पर अड़ा रहा। परिणाम-स्वरूप महाभारत का घोर विनाशकारी युद्ध हुआ। श्री कृष्ण ने स्वयं दुर्योधन की उक्त हठधर्मिता और मोहग्रस्तता का बखान इस प्रकार किया है- ***न च ते जातसंमोहाः वचोऽगृह्णन्त मे हितम्*** (महाभारत- 14/54/20) अर्थात् दुर्योधन आदि सभी मोहग्रस्त थे, अतः उन्होंने हितकारी बातें भी मेरी नहीं सुनीं।

अंततः सम्पूर्ण भारतवर्ष दो भागों में बंट गया। कर्मयोगी श्री कृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष लिया। उन्होंने युद्ध नहीं किया, परन्तु युद्ध का निर्देशन उनके हाथ में था। श्री कृष्ण के कुशल नेतृत्व में पाण्डवों ने कौरवों की विशाल और अजेय सैन्य शक्ति को परास्त कर दिया।

राज्य का लोभी और परम अहंकारी दुर्योधन अपने पूर्वजों भाइयों, पुत्रों, दोस्तों और सहायकों सहित नाश को प्राप्त हो गया।

OOO

समस्त संसार को 'अध्यात्म' का प्रकाश देने में भारतवर्ष को अग्रणी होने का गौरव प्राप्त है। अध्यात्म-साधना के लिए भारतवर्ष एक उर्वरा भूमि है। यहां की संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। अध्यात्मसाधकों की एक लम्बी परम्परा यहां अनवरत रूप से प्रवर्तमान रही है। यहां मानव का अन्तिम पुरुषार्थ-लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति माना गया है। अध्यात्म-साधना व कामभोग-सेवन - ये दोनों विपरीत प्रवृत्तियां हैं। किन्तु कामभोग लुभावने होते हैं और कामनाओं की क्षणिक शान्ति के लिए सामान्य व्यक्ति इनकी आसक्ति में बंधता है। फलस्वरूप, लौकिक व पारलौकिक- दोनों दृष्टियों से दुखदायी परिणामों को वह

भोगता है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति के पुरोधा आचार्यों ने एक स्वर से कामभोगों की हेयता का प्रतिपादन किया है। कामनाओं की पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती, क्योंकि कामना का कहीं अन्त नहीं होता। इस सम्बन्ध में वैदिक व जैन परम्परा के विचार-साम्य की दृष्टि से दो उद्धरण यहां प्रासंगिक हैं-

(वैदिक):

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

(महाभारत, 1/75/51)

(जैन):

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं णालमेगस्स, इइ विज्ञा तवं चरे॥

(उत्तराध्ययन सूत्र- 9/49)

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों का कथ्य एक ही है, वह यह है कि दुनिया की सारी धरती, सारी भौतिक सम्पति भी मिलकर किसी एक व्यक्ति की कामना को संतुष्ट नहीं कर सकतीं, इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह तप या शान्ति (संतोष) का आश्रय ले।

निष्कर्ष यह है कि कामभोगों की निःसारता और उनकी हेयता के विषय में समस्त भारतीय विचारधाराएं (चार्वाक का छोड़ कर) एकमत हैं। उपर्युक्त कथानकों में- जो जैन व वैदिक- दोनों धाराओं से सम्बद्ध हैं- एक स्वर से कामभोगों की हेयता का सोदाहरण प्रतिपादन हुआ है।

जैन परम्परा से सम्बद्ध ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के कथानक में असामान्य विशाल वैभव का स्वामी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त विषयभोगों के दलदल में फंसता ही गया और आजीवन असंतुष्ट ही रहा। संतुष्टि न होने का प्रमाण यही है कि वह उससे विरत नहीं हुआ। भोजन से किसी व्यक्ति का पेट भर गया है- इसकी पुष्टि तब होती है जब वह

भोजन से विरत हो जाय। कामभोग के दलदल में फंसे चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को पूर्वजन्म के भाई मुनि का बारबार समझाना भी निरर्थक सिद्ध हुआ। अन्त में कामभोगों ने उसे दुर्गति की ओर ही धकेल दिया।

महाभारत के पात्र दुर्योधन ने भी असत्य और छल का सहारा लेकर सत्ता को पाने के लिए समस्त अधर्ममय प्रयास किये। वह काम-भोग की आसक्ति से ग्रस्त प्राणी था। उसने आजीवन तनाव व संघर्ष का अशान्त जीवन जीया और अन्ततः कुलसहित विनष्ट होकर दुर्गति रूप रसातल में गया।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और दुर्योधन- ये दोनों ही चरित्र भोगों की चाह में डूबे हुए थे और अपनी कामना की पूर्ति के लिए कुछ भी अधर्म या पाप करने के लिए तत्पर थे। प्रतिबोध देने पर भी उनकी आत्मा प्रमाद से विरत नहीं हो पाई। दोनों ने प्रतिबोध सुना, किन्तु उनके हृदय में वह उतर नहीं पाया, और वह आचरण में नहीं आ सका। ज्ञान व क्रिया का समन्वय होने पर ही परमकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो पाता है- इस सत्य से दोनों परम्पराएं सहमत हैं।

●

मोह-विजय

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

मोह बन्धन है। सम्पूर्ण जगत् मोह से बंधा है। मोह आदि, मध्य और अन्त तीनों अवस्थाओं में अशान्ति-असंतोष और दुःख देने वाला है। जैन सूत्रों की भाषा में–

मोहमूलाणि दुक्खाणि। (इसिभासिय- 2/7)

मोह समस्त दुःखों का उद्गम-मूल है। यही बात संत कवि तुलसीदास ने भी दोहराई थी–

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

जैन परम्परा का स्पष्ट उद्घोष है कि मोह से कर्म-बन्धन, उससे जन्म-मरण व दुःख की उत्पत्ति होती है– **कम्मं च मोहप्पभवं वयंति। कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति** (उत्तरा. सू. 32/7)। अतः मोह के नष्ट होने पर भावी दुःखपरम्परा का स्वतः अन्त होना मान लिया जाता है– **दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो** (उत्तरा. सू. 32/8)।

बौद्ध परम्परा में भी 'मोह' की निन्दा एक स्वर में की गई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैंः– **मोहो अकुसलमूलं** (मज्झिमनिकाय, 1/8/2)। अर्थात् मोह पाप का मूल है। **नत्थि मोहसमं जालं** (धम्मपद, 18/17)– अर्थात् मोह के समान कोई जंजाल नहीं है। महात्मा बुद्ध ने अपने

*अनुयायियों को मोह के विषय में कहा था– **मोहं भिक्खवे! एमधम्मं पजहथ, अहं वो पाटिभोगो अनागामितायाः** (सुत्तपिटक, इतिवुत्तक, 1/3)। अर्थात् हे भिक्षुओं! एक मोह को छोड़ दो, मैं तुम्हारे अनागामी अर्थात् निर्वाण का उत्तरदायित्व लेता हूं।*

*वैदिक परम्परा में भी माना गया है कि 'मोह' से रहित होने पर ही कल्याण- मार्ग प्रशस्त हो पाता है। वैदिक ऋषि का वचन है– **अप्रभूरा महोभिः व्रता रक्षन्ते विश्वाहा** (ऋग्वेद- 1/90/2)। अर्थात् मोह से मूर्च्छित न होने वाले ज्ञानी पुरुष ही अपने आत्मीय तेज से सदैव व्रतों में दृढ़ रहते हैं। गीता में कहा गया है कि मोह एक तामसी वृत्ति है (गीता- 14/13), और तामसी प्रवृत्ति अधोगति का कारण होती है (गीता- 14/18)। मोहग्रस्त व्यक्ति मुक्ति से दूर ही रहता है, इसी सत्य को रेखांकित करते हुए गीता में कहा गया है– **मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः** (गीता- 16/10)। अर्थात् मोहग्रस्त व्यक्ति असत् सिद्धान्तों को अपनाते हैं और भ्रष्ट आचरण में संलग्न हो जाते हैं, इसलिए वे संसार में ही घूमते रहते हैं– मुक्त नहीं हो पाते।*

मोह का क्षय संसार का क्षय है। वस्तुतः संसार का अस्तित्व बाहर नहीं, भीतर में है। भीतर का संसार मिटते ही, बाह्य संसार स्वतः मिट जाता है। अन्तःसंसार के शेष रहते, बाह्य संसार मिट नहीं सकता है। फिर भले ही एकान्त कानन में बैठकर समाधि का अभ्यास किया जाए या सुदीर्घ तपस्याएं की जाएं। अमोह है– वीतरागता का आत्मतल पर अवतरण। मोह के क्षय के क्षण के साथ ही, आंसू-पीड़ा व बन्धन स्वतः क्षीण हो जाते हैं।

निम्नलिखित कथानकों में यही सत्य-स्वर अनुगुञ्जित हो रहा है।

[१]
सगर चक्रवर्ती
(जैन)

अयोध्या नगरी में राजा विजय का राज्य था। उनकी रानी का नाम विजया था। राजा विजय के एक भाई थे, जिनका नाम सुमित्र था। सुमित्र की रानी का नाम यशोमती था। विजया और यशोमती ने चौदह

महान् स्वप्न देखकर एक-एक पुत्र को जन्म दिया। महारानी विजया के पुत्र का नाम अजित तथा यशोमती के पुत्र का नाम सगर रखा गया।

अजित और सगर युवा हुए। पुत्र को योग्य जानकर महाराज विजय ने राज्य का भार अजित को सोंपकर स्वयं आर्हती दीक्षा धारण कर ली। सुमित्र ने भी अपने भाई का अनुगमन किया।

अजित ने बहुत वर्षों तक कुशलता और न्यायशीलता से राज्य किया। भोगावलि कर्मों की समाप्ति पर अजित ने एक वर्ष तक वर्षीदान देकर दीक्षा धारण की। वे द्वितीय तीर्थंकर बने।

अयोध्या के राजा सगर बने। आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ। महाराज सगर छः खण्ड को जीतने के लिए चल दिए। सगर के साठ हजार पुत्र थे। पिता की दिग्विजय में पुत्रों का योगदान भी उल्लेखनीय रहा। छः खण्डों को जीतकर सगर ने द्वितीय चक्रवर्ती का पद पाया।

सगर का सम्पूर्ण पृथ्वी पर अखण्ड शासन था। एक घटना ने उनके जीवन की गति बदल दी। सगर के साठ हजार पुत्रों ने एक बार विश्व भ्रमण-दर्शन का विचार किया। पिता से आज्ञा मांगी। सगर ने पुत्रों के विचार का समर्थन किया। चक्रवर्ती के ज्येष्ठ पुत्र जान्हुकुमार के नेतृत्व में साठ हजार चक्रवर्ती-पुत्र विश्व-दर्शन के लिए चल दिए।

प्राकृतिक स्थलों, वनों, उपवनों, नगरों, पर्वतों आदि का सौन्दर्य देखते हुए चक्रवर्ती-पुत्र अष्टापद पर्वत पर पहुंचे। अष्टापद पर्वत पर प्रकृति सौन्दर्य का परिधान ओढ़े नृत्य कर रही थी। जान्हुकुमार आदि साठ हजार भाई इस सौन्दर्य में खो गए। जान्हुकुमार के मन में एक विचार जागा— इस प्राकृतिक सौन्दर्य को स्थिर रखने के लिए कुछ करना चाहिए। भाइयों से विमर्श करके उसने अष्टापद की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर खाई खोदने का निश्चय कर लिया।

खाई खोदने के लिए चक्रवर्ती का दण्डरत्न काम में लिया गया। दण्ड-प्रहारों से नागकुमार देवों के भवन क्षतिग्रस्त होने लगे। एक देव ने आकर चक्रवर्ती-पुत्रों को इसके विरूद्ध चेतावनी दी। लेकिन अभिमानी चक्रवर्ती-पुत्रों ने नागकुमार देवों की बात अनसुनी करते हुए खाई में गंगा नदी का प्रवाह मोड़ दिया। नागकुमार देवों के भवन जलमग्न हो गए। उन्होंने क्रोधित होकर भयानक अग्नि जलाकर जान्हुकुमार आदि साठ हजार

भाइयों को जलाकर भस्म कर दिया। सेना भयभीत हो गई। सेनापति को चक्रवर्ती-पुत्रों की मृत्यु का दुःख तो था ही, साथ ही उसे यह चिन्ता थी कि चक्रवर्ती को यह दुःखद समाचार कैसे दिया जाए। सेनापति ने बहुत विचार कर यह कार्य एक वृद्ध विद्वान् ब्राह्मण को सोंप दिया।

ब्राह्मण अयोध्या पहुंचा। जिधर सगर भ्रमण को निकले थे, उधर खड़ा होकर आर्त्त स्वर में रोने लगा। सगर ने ब्राह्मण से रोने का कारण पूछा। ब्राह्मण बोले—

"महाराज! मेरा युवा पुत्र मर गया है। मैं उसे भुला नहीं पा रहा हूं। वह बड़ा होनहार था। लाखों में एक था।"

सगर बोले—"ब्राह्मण देव! जीवन के साथ मृत्यु का अटूट सम्बन्ध है। जो जन्म लेता है उसे एक दिन अवश्य मरना होता है। धैर्य ही दवा है। संतोष रखिए।"

"क्या ऐसी स्थिति में धैर्य रखा जा सकता है।" ब्राह्मण ने पूछा।

"क्यों नहीं! वीर पुरुष कैसी भी स्थिति में धैर्य नहीं छोड़ते।" सगर ने उत्तर दिया।

ब्राह्मण बोले— "महाराज! आप शूरवीर हैं। और यह आपके धैर्य का क्षण होना चाहिए। आपके सभी पुत्र मर चुके हैं।" कहते हुए ब्राह्मण ने पूरी बात सगर को कह दी।

सगर को अकल्पित दुःख हुआ। लेकिन वे शीघ्र ही संभल गए। विरह के दुःख से वैराग्य जन्मा। राज-पाट छोड़कर वे मुनि बन गए। घोर तप करके, कैवल्य साधकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

मोह संसार है। अमोह मोक्ष है। मोह दुःख है, कष्ट है, बन्धन है। अमोह आनन्द है, विमुक्ति है। मोह के आधार प्राणी या द्रव्य संयोग अवस्था में सुखाभास तो देते हैं, पर वास्तविक सुख नहीं। वियोग काल में मोहासक्त अतिदुःखित होता है।

मोह-खण्डन के क्षण को जो ज्ञान भाव से स्वीकृत करता है वह मोहातीत होकर परमपद को पा लेता है। *[त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से]*

❑❑

[२]

बलराम का मोह-भंग

(वैदिक)

राम और लक्ष्मण की भांति कृष्ण और बलराम का परस्पर प्रेम अद्वितीय और अनन्य था। वे दो देह और एक प्राण थे। दोनों का एक दूसरे के प्रति सम्पूर्ण समर्पण और गहन अपनत्व था। दोनों के लिए एक दूसरे के बिना जीने की कल्पना अकल्प्य थी।

समय का चक्कर गाड़ी के पहिए की भांति घूमता रहता है। एक क्षण जो आरा ऊपर होता है, दूसरे ही क्षण वह नीचे आ जाता है। जीवन में भी यही सत्य घटित होताहै। एक समय जो मनुष्य अनन्त ऊंचाइयों का स्पर्श करता है, दूसरे ही क्षण वह रसातल में भी पहुंच जाता है।

यदुवंश और द्वारिका के विनाश के पश्चात्, श्रीकृष्ण और बलराम पाण्डुमथुरा की ओर चल पड़े। मार्ग में कौशाम्बी वन था। अपरिमितबली श्रीकृष्ण थक गए। वे एक शिलाखण्ड को सिर के नीचे लगा कर लेट गए। उन्होंने बलराम से पानी लाने को कहा। बलराम चले गए।

श्रीकृष्ण का दायां पैर बाएं पैर पर रखा हुआ था। उनके पैर में स्थित पदमरत्न को मृग की आंख और पीताम्बर को मृग की देह समझ कर जराकुमार ने तीर चला दिया। निशाना अचूक था। मर्मस्थल पर भयंकर पीड़ा हुई। जरा कुमार श्रीकृष्ण के पास पहुंचा। अपनी भूल पर उसे भारी दुःख हुआ। श्रीकृष्ण ने करुणार्द्र होकर कहा–"जराकुमार! भाग जा यहां से। बलराम आने वाले हैं। मेरी मृत्यु और हंता को वे सह नहीं पाएंगे। तुम चले जाओ।"

कहकर श्रीकृष्ण ने श्वास गति को विराम दे दिया। जराकुमार भी भाग गया। बलराम कुछ देर बाद लौटे। श्रीकृष्ण जी जैसे भाई की मृत्यु देखकर उनका अन्तस् हिल उठा। वे रोने लगे। अनन्त पीड़ा थी उनके रोदन में। वन प्रान्तर का कण-कण शोकमग्न हो गया। बहुत देर तक बलराम रोते रहे।

फिर सहसा बलराम जी के आंसू सूख गए। उन्होंने खड़े होकर भूमि पर पादप्रहार किया और बोले– "सब मिट सकता है, लेकिन श्रीकृष्ण नहीं मिट सकते। स्वयं यमराज भी प्रलय का फन्दा लेकर कृष्ण

को मारने आएगा तो मैं उसे भी मिटा दूंगा। कृष्ण नहीं मर सकते।'' बलराम जी जोर से हंसे। पुनः बोले– ''कृष्ण विश्राम कर रहे हैं। निद्राधीन हैं। भाई को विश्राम से जगाना उचित न होगा। लेकिन संध्या घिर रही है। रात्री में वन में ठहरना भी तो उचित न होगा।''

ऐसे विचार करते हुए विक्षिप्त बने बलराम ने श्रीकृष्ण की देह को अपने कन्धे पर रख लिया और एक दिशा में चल दिए। उन्हें यह विश्वास नहीं हो रहा था कि श्रीकृष्ण का देहान्त हो चुका है।

गौतमी का मोहभंग

बौद्धधर्म -साहित्य की एक कथा इस संदर्भ में उल्लेखनीय है—

भगवान् बुद्ध के समय की घटना है। गौतमी नाम की एक विधवा महिला का इकलौता पुत्र मर गया। गौतमी को पुत्र-मृत्यु से तीव्र आघात लगा। ममतामयी गौतमी पुत्र के शव को हृदय से चिपकाए पागल की भांति इधर-उधर भटकने लगी। उसे विश्वास था कि कोई न कोई ऐसा व्यक्ति उसे अवश्य मिलेगा जो उसके पुत्र को जीवित कर देगा।

गौतमी की इस करुण दशा को देखकर किसी ने उससे कहा-''गौतमी! तुम भगवान् बुद्ध के पास चली जाओ। वे अवश्य ही तुम्हारे पुत्र को जीवित कर देंगे।''

गौतमी को अन्धेरे में सूर्य-किरण के दर्शन हुए। वह मृत पुत्र को लेकर तथागत बुद्ध के समवसरण में पहुंची। पुत्र के शव को अपने बुद्ध के चरणों पर रख दिया और अश्रु बहाकर दीन स्वर में प्रार्थना करने लगी- ''बुद्ध देव! आप अशरणों के शरण हैं। आप भव-सिंधु से तारने वाले परम जहाज हैं। मेरे पुत्र को जीवित करके मुझ अभागिन पर उपकार कीजिए।''

बुद्ध ने गौतमी की आंखों में देखा। उनका हृदय उसकी दुर्दशा पर विह्वल हो गया। उन्होंने एक युक्ति को आधार बनाते हुए कहा- ''गौतमी! तुम एक 'काम' कर दो तो तुम्हारा पुत्र जीवित हो सकता है।''

''आदेश कीजिए, प्रभु!'' गौतमी उत्सुकता से बोली- ''अपने पुत्र के जीवन के लिए मैं कुछ भी करने को तैयार हूं।''

''अमर घर की सरसों ले आइए।'' बुद्ध बोले- ''ऐसे घर से जहां कभी किसी की मृत्यु न हुई हो, सरसों के चन्द कण ले आइए। मैं तुम्हारे पुत्र को जीवित कर दूंगा।''

बावली बनी गौतमी नगर में गई। एक द्वार पर जाकर उसने सरसों के कुछ दाने मांगे। उसे दाने मिल गए। गौतमी ने पूछा-''इस घर में कभी कोई मरा तो नहीं है?''

''अभी कुछ दिन पहले ही मेरे पिता की मृत्यु हुई है।'' सरसों देने वाले ने कहा। गौतमी ने सरसों के दाने लौटा दिए। दूसरे द्वार पर उसने सरसों की याचना की। उस द्वार से आवाज आई कि उसकी माता का देहान्त हुए कुछ ही समय हुआ है।

''मेरे भाई की मृत्यु, मेरी बहन की मृत्यु, मेरे पति की मृत्यु मेरे पुत्र की मृत्यु।'' द्वार-द्वार से आवाज आ रही थी। एक द्वार भी ऐसा नहीं था, जहां कोई मरा न हो। अचानक

निरन्तर छः माह तक बलराम श्रीकृष्ण की देह को अपने कन्धे पर लिए घूमते रहे। प्रबल था उनका मोह। अनेकों लोगों ने उन्हें समझाने का यत्न किया, लेकिन समझाने वालों पर बलराम क्रोधित हो उठते थे। पूर्वजन्म के एक मित्र देव ने बलराम की यह दशा देखी। मित्र की इस दुर्दशा पर मित्र का हृदय खेदखिन्न हो उठा। उसने बलराम के मोहभंग का निश्चय कर लिया। जिस मार्ग से बलराम जा रहे थे, उसी मार्ग के किनारे वह देव एक किसान का रूप बनाकर एक शिलाखण्ड पर आम का पौधा रोपने का यत्न करने लगा।

किसान का यह मूर्खतापूर्ण यत्न देखकर बलराम बोले– ''वाह!

गौतमी को बोध प्राप्त हुआ। उसने विचार किया– ''गौतमी! मृत्यु तो इस सृष्टि का नियम है। जो जन्मा है, उसकी मृत्यु निश्चित है। फिर तेरा पुत्र मर गया तो यह कोई अपूर्व घटना नहीं घटी है। मृत्यु तो एक दिन अनिवार्य है। उसे रोक पाना असंभव है। भगवान् बुद्ध ने तुझे यही बोध देने के लिए अमर घर की सरसों लाने का निर्देश दिया है। अमर कोई हैं नहीं तो अमर घर की सरसों कहां से प्राप्त हो पाएगी।''

गौतमी का मोह भंग हो चुका था। वह भगवान् बुद्ध के पास पहुंची और उन्हें प्रणाम करके बोली– ''देव! मैं जान चुकी हूं कि इस संसार में कोई भी अमर नहीं है। अमरता का एकमात्र कारण धर्म है। मैं अपने पुत्र के शव का अग्नि-संस्कार करने के पश्चात् धर्म की शरण ग्रहण करूंगी।'' गौतमी ने अपने पुत्र के शव का अन्तिम संस्कार किया। फिर वह तथागत के चरणों में जाकर साधनाशील हो गई। ❑

पारसी धर्मगुरु

इसी सन्दर्भ में पारसी धर्म की एक अद्भुत कथानक भी यहां प्रस्तुत है—

एक पारसी धर्मगुरु थे। वे अपनी पत्नी और दो पुत्रों के साथ एक गांव में रहते थे। उनकी पत्नी तत्त्वज्ञा और विदुषी थी।

धर्मगुरु अपने पुत्रों से अत्यन्त स्नेह करते थे। उनसे प्रेमालाप करते, साथ भोजन करते और उनके साथ टहलने निकलते। उनका जीवन उनके पुत्रों के जीवन के साथ एकाकार हो गया था। पुत्रों के बिना वे अपने जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

एक दिन धर्मगुरु बाहर गए हुए थे। अकस्मात् एक दुर्घटना घटी। धर्मगुरु के दोनों पुत्रों की मृत्यु हो गई। घर पर माता अकेली थी। पुत्रों की मृत्यु के वज्राघात ने उसके मातृहृदय को हिला डाला। लेकिन पति की क्या दशा होगी– यह सोचकर वह संभल गई। उसने अपने दोनों पुत्रों के शवों को घर के भीतर वाले कक्ष में एक शैया पर लिटा कर उन पर वस्त्र डाल दिया।

कुछ देर बाद धर्मगुरु लौटे। पुत्रों को गृहद्वार पर अपनी प्रतीक्षा करते हुए न

क्या वज्रमूर्ख हो। शिलाखण्ड पर आम रोप रहे हो। शिलाखण्ड पर आम नहीं उगा करते हैं।''

"यदि मृत जीवित हो सकता है तो शिलाखण्ड पर आम भी उग सकता है।'' देव ने उत्तर दिया– "मुझे वज्रमूर्ख का खिताब देने वाले भद्रपुरुष! क्या तुम भी वही मूर्खता नहीं कर रहे हो जो मैं कर रहा हूं।''

"कैसी मूर्खता?'' बलराम बोले–"तुम किसे मृत कह रहे हो? मेरे भाई को? मैं तुम्हारा वध कर डालूंगा।''

पाकर उन्हें आश्चर्य हुआ। गृहद्वार में प्रवेश करते ही उन्होंने पत्नी से पूछा– ''हमारे पुत्र कहां हैं?''

''यहीं तो खेल रहे थे अभी!'' पत्नी ने उत्तर दिया– ''अभी आ जाएंगें!''

''लेकिन मुझे भूख लगी है।'' धर्मगुरु बोले– ''उनके बिना मैं भोजन कैसे करूंगा?''

''आप भोजन कर लीजिए।'' पत्नी ने भोजन की थाली पति को देते हुए कहा– ''वे तो अभी-अभी भोजन करके निकले हैं। अब वे भोजन नहीं करेंगे।''

''आश्चर्य है!'' धर्मगुरु ने कहा– ''आज उन्होंने मुझसे पहले ही भोजन कर लिया। कहकर वे भोजन करने लगे।''

पति का भोजन लगभग परिसमाप्ति पर था। पत्नी ने एक युक्ति निकाली। बोली– ''पिछले दिनों मैं पड़ोसिन से उनके आभूषण मांग कर लाई थी। कहो तो उसके आभूषण लौटा दूं।''

''यह भी कुछ पूछने जैसी बात है?'' धर्मगुरु बोले– ''आभूषण उसके हैं। उन्हें लौटाना ही है। अवश्य लौटा दो।''

''लेकिन वे अतिसुन्दर और बहुमूल्य हैं।'' पत्नी बोली– ''मेरा मन उनसे बंध गया है। जी नहीं चाहता है कि लौटा दूं। रख लूं तो भविष्य में 'काम' आएंगे।'' अपनी तत्त्वज्ञा पत्नी को पराए आभूषणों में मोहासक्त देखकर धर्मगुरु को बड़ा कष्ट और आश्चर्य हुआ। बोले– ''जो पराए हैं, उन्हें लौटा देने में तुम्हें विलम्ब नहीं करना चाहिए। और जिन्हें लौटाना था उन पर इतनी आसक्ति अपने हृदय में उत्पन्न ही क्यों होने दी? मूर्ख मत बनो। आसक्ति छोड़ो और जिसके ये आभूषण हैं उसे लौटा दो।''

पत्नी बोली– ''देव! आपके कथन में पूर्ण सत्य है। जो वस्तु जिसकी है, उसे लौटाते हुए हमें खेद नहीं करना चाहिए। मेरी आपसे भी यही प्रार्थना है कि आप भी शोक मत कीजिए। हमारे पुत्र अपने घर लौट गए हैं। ईश्वर ने उन्हें भेजा था। अब पुनः उसने अपने पास बुला लिया है।''

एक क्षण के लिए धर्मगुरु की आंखों के समक्ष धरती घूम गई। अश्रुबंध टूटा। पुत्रों के शवों से लिपट कर बिलख पड़े। लेकिन पत्नी की युक्ति ने जो भूमिका बांधी थी, उसने उन्हें पुत्रों के साथ मिट जाने से बचा लिया। यह थी एक पत्नी की युक्ति– जिसने एक पति को मोहविजयी होने में सहायता दी। ❑❑

"मृत नहीं तो क्या जीवित है तुम्हारा भाई?" देव ने सुमधुर स्वर से कहा– "मेरे अभिन्न मित्र! मोह की कारा से स्वतंत्र बनकर सोचो कि तुम्हारे भाई ने छः माह से न भोजन खाया है और न जल पीया है। इतना ही नहीं, उसने सांस तक नहीं लिया है। जो न खाए, न पीए और न ही श्वास ले, वह जीवित कैसे हो सकता है? प्रतिबुद्ध बनो मेरे मित्र! देह के साथ मृत्यु का सम्बन्ध अखण्ड है। विगत का शोक त्यागो। आगत के प्रति सावधान बनो।"

मित्र देव की युक्ति सफल हो गई। बलराम एक बार पुनः जी भर कर रोए। तत्पश्चात् भाई के शव का अग्नि-संस्कार करके आत्म-साधना करने के लिए वनों में चले गए। ○○○

मोह से सम्बन्धित ये कथायें मोहग्रस्त व्यक्तियों की पीड़ा को अभिव्यक्त कर रही हैं। प्रश्न है– पीड़ा का मूल कारण क्या है? जैन और वैदिक धर्मशास्त्र पीड़ा का कारण मोह को मानते हैं। सगर चक्रवर्ती, बलराम आदि के कथानक इसी तथ्य को इंगित करते हैं।

– जैन साहित्य से अवतरित सगर चक्रवर्ती का कथानक– साठ हजार पुत्रों की एक ही दिन में हुई मृत्यु ने सगर के मोहसिक्त हृदय को हाहाकार से भर दिया। षट्खण्ड का विशाल साम्राज्य उन्हें शूल-सा प्रतीत होने लगा। वृद्ध ब्राह्मण की युक्ति ने सगर का मोह खण्डित किया। मोहशिला के खण्डित होते ही मोक्ष के परमानन्द की मधुरसलिला महागंगा उनके हृदय-तल पर अवतरित हो गई।

–वैदिक परम्परा के कथानक में देव की युक्ति ने बलराम जी के मोह को तोड़ा तो वे आत्मकल्याणार्थ वन को प्रस्थित हो गए।

–बौद्ध कथा– गौतमी का मोह भगवान् बुद्ध की युक्ति से खण्डित हुआ। वह बोधि की प्यास से भर गई। संबोधि उपलब्ध कर सिद्ध हुई।

–पारसी परम्परा के धर्मगुरु के मोह-भंग की युक्ति निकाली उनकी धर्मपत्नी ने। विभिन्न धर्म-संस्कृतियों से बही यही समान स्वर-सरिता धर्म की अखण्ड एकात्मकता की परिचायिका है। ●

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

विरक्ति का आधार वय-विशेष नहीं, अपितु अन्तरिक विवेक व समीचीन ज्ञान का प्रभावी होना है। इस सम्बन्ध में वैदिक व जैन परम्परा की पृथक्-पृथक् मान्यता क्या है– इस पर विचार करना प्रासंगिक होगा। वैदिक परम्परा में मूलतः आश्रम-व्यवस्था स्वीकृत थी, अतः गृहस्थ की स्थिति से व्यक्ति 50 वर्ष की आयु के बाद ही प्रव्रजित व संन्यस्त हो पाता था। किन्तु बाद में भारतीय मनीषियों ने उक्त नियम के अपवादस्वरूप किसी भी वय में प्रव्रज्या या संन्यास लेने की अनुमति दी। प्रसिद्ध शंकराचार्य ने तो 8 वर्ष की आयु में प्रव्रज्या धारण कर ली थी। जाबालोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया हैः–

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा।
यदहरेव विरजेद् तदहरेव प्रव्रजेत्॥

(जाबालोप. 4)

– जिस दिन विरक्ति जागृत हो जाए, उसी दिन प्रव्रजित या संन्यस्त हो जाना चाहिए। इसलिए व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम से, या गृहस्थ आश्रम से या वानप्रस्थ आश्रम से, जब भी वैराग्य जागे, प्रव्रज्या ग्रहण करे।

एक नीतिकार ने इसी प्रसंग में अपनी टिप्पणी की थी–

नवे वयसि यः शान्तः, स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु, शमः कस्य न जायते॥

(सुभाषितरत्नभाण्डागार)।

— अर्थात् लघु वय में ही जो विरक्त हो, वही वास्तव में विरक्त है— ऐसा मेरा विचार है। (वृद्धावस्था में जब) धातु क्षीण हो चुकने पर तो किसे विरक्ति नहीं होती?

ज्ञान का सहज परिणाम त्याग है। ज्ञानभाव में त्याग प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। त्याग किया नहीं जाता है, वह तो घटित होता है। निष्कामता-विरक्ति, ज्ञान के सहज परिणाम में हैं। अज्ञानी को ही काम-क्रोध-मोह पीड़ित करते हैं। ज्ञानी को नहीं। अज्ञानी वह है जो परत्व में स्वत्व का दर्शन करता है। भगवान् महावीर का सम्पूर्ण त्याग ज्ञानधार पर अवलम्बित है। ज्ञान को प्रमुखता प्रदान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—

''णाणं तइयं चक्खू।''

ज्ञान तृतीय नेत्र है। तृतीय नेत्र खुलते ही काम, क्रोध, ममत्व स्वतः नष्ट हो जाते हैं। वैदिक मान्यतानुसार शिव के तृतीय नेत्र उद्घाटित होते ही उपद्रवी कामदेव भस्म हो गया था। पढिये! बाल कथानकों को जिनमें बाल्यावस्था में ज्ञान के प्रकट होने और वैराग्य पथ पर बढ़ने का अद्भुत चित्रण है।

[१]
बालमुनि अतिमुक्त
(जैन)

मगध देश के अन्तर्गत पोलासपुर नाम का एक नगर था। वहां पर विजय राजा का राज्य था। उनकी रानी का नाम श्रीदेवी था। उनके एक पुत्र था, जिसका नाम अतिमुक्त कुमार था। अतिमुक्त कुमार माता-पिता और प्रजा को अतिप्रिय था। वह बहुत मेधावी था।

एक दिन अपने बालसखाओं के संग अतिमुक्त कुमार राजसी बालोद्यान में खेल रहा था। बालकों के लिए खेल अतिप्रिय होता है। खेल में वे भूख-प्यास और माता-पिता तक को भूल जाते हैं।

भगवान् महावीर पोलासपुर के बाह्य भाग में विराजित थे। भगवान् के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम भिक्षा के लिए पोलासपुर में

पधारे। वे बालोद्यान के निकट से जा रहे थे। सहसा अतिमुक्त कुमार की दृष्टि गौतम स्वामी पर पड़ी। उसकी दृष्टि गौतम स्वामी से चिपक कर रह गई। खेल छूट गया। वह दौड़कर आया। उसने गौतम स्वामी का मार्ग रोकते हुए पूछा–" आप कौन हैं और कहां जा रहे हैं?"

"मैं श्रमण हूं।" गौतम स्वामी बोले– "और भिक्षा के लिए नगर में जा रहा हूं।"

"नगर में आप किसके घर जाएंगे भिक्षा के लिए?"

"घर निश्चित नहीं है। जहां भी कल्प्य आहार मिलेगा, ग्रहण करूंगा।"

"आप मेरे घर चलिए। मैं भी आपको भोजन दूंगा।"

गौतम स्वामी बालमन मन की भक्ति को देख रहे थे। अतिमुक्त कुमार ने गौतम स्वामी की अंगुली को अपने नन्हे हाथ में पकड़ा और अपने घर की ओर चल दिया।

श्रीदेवी राजमहल के झरोखे से नगर की शोभा देख रही थी। उसकी दृष्टि गौतम स्वामी और अपने पुत्र पर पड़ी। उनका तन-बदन प्रसन्नता-पूर्ण रोमाञ्च से खिल उठा। उसने अपने भाग्य को सराहा– आज का दिन कितने अहोभाग्य का दिन है! मेरा पुत्र धर्म जहाज गौतम स्वामी को लेकर आ रहा है।

उच्च भावों से श्रीदेवी ने गौतम स्वामी को आहार दिया। गौतम स्वामी लौटने लगे। अतिमुक्त ने पुनः उनका मार्ग रोकते हुए कहा–"आप कहां जा रहे हैं?"

"श्रीवन उपवन में मेरे गुरु महावीर ठहरे हैं। मैं उन्हीं के पास जा रहा हूं।"

"क्या मैं भी उनके पास चल सकता हूं?" अतिमुक्त ने अपनी इच्छा प्रकट की। "क्यों नहीं! अवश्य।" गौतम स्वामी बोले।

गौतम के संग अतिमुक्त भगवान् महावीर के पास पहुंचा। महावीर को देखते ही उस कोरे बाल मन पर महावीर अंकित हो गए– कभी न मिटने के लिए। प्रभु की की वाणी श्रवण कर अतिमुक्त ने उन्हीं का हो जाने का निर्णय कर लिया। उसने कहा– "देव! मैं अपने माता-पिता से पूछ कर आपका शिष्य बनूंगा।"

अतिमुक्त घर लौटा। उसने महावीर का शिष्य बनने का अपना निर्णय अपने माता-पिता को सुना दिया। पुत्र की बात सुनकर श्रीदेवी हंसी। बोली–" बेटे! तुम अभी क्या जानो कि साधुत्व क्या होता है?"

"जिसे मैं जानता हूं, उसे नहीं जानता हूं। और जिसे नहीं जानता हूं, उसे जानता हूं। उसे ही जानने के लिए भगवान् महावीर का शिष्य बनूंगा।" कुमार ने कहा।

पुत्र की दार्शनिक बात का अर्थ माता-पिता समझ नहीं पाए। उन्होंने पुत्र से अपनी बात स्पष्ट करने के लिए कहा। अतिमुक्त बोला–

"पूज्य माता-पिता! मैं यह जानता हूं कि जो जन्मा है उसे एक दिन मरना है। लेकिन कब और कहां मरना है, यह नहीं जानता हूं। मैं यह नहीं जानता हूं कि किन कर्मों के कारण मनुष्य को कौन-सी गति मिलती है परन्तु यह जानता हूं कि मनुष्य को उसके कर्मानुसार ही गति प्राप्त होती है।"

अतिमुक्त की बातों ने माता-पिता को आश्चर्य में डाल में दिया। पुत्र के दृढ़ संकल्प के समक्ष माता-पिता को झुकना पड़ा। माता-पिता की अन्तिम इच्छा कि उनका पुत्र एक दिन के लिए राजा बन जाए,को अतिमुक्तने स्वीकार कर लिया। अतिमुक्त दूसरे दिन राजा बना।

सिंहासन पर बैठ कर अतिमुक्त ने सर्वप्रथम आदेश जारी किया कि उसकी दीक्षा की तैयारी की जाए। अन्ततः अष्टवर्षीय अतिमुक्तकुमार भगवान् महावीर के शिष्य बन गए।

एक दिन कुछ स्थविर मुनियों के साथ अतिमुक्त मुनि बाहर गए। बरसात हुई थी। जंगल में तलहटियों में पानी बह रहा था। अतिमुक्त मुनि ने पानी पर मिट्टी से पाल बांध कर पानी रोक दिया और उसमें अपना काष्ठपात्र तैरा दिया। काष्ठपात्र को जल की सतह पर तैरते हुए देखकर अतिमुक्त का बालमन चहकते हुए गा उठा–

नाव तिरे, मेरी नाव तिरे!

स्थविर मुनियों ने अतिमुक्त मुनि को यों खेलते हुए देखा। मुनि-मर्यादा का यों अतिक्रमण देखकर उनके मन व्याकुल हो गए।

उन्होंने विचार किया– भगवान् महावीर सर्वज्ञ होकर भी शिष्य-मोह में नन्हे-नन्हे बालकों को मुनि बना लेते हैं। स्थविर मुनि अतिमुक्त

को छोड़कर अपने स्थान को लौट आए। मुनियों को लौटा जानकर अतिमुक्त भी अपने पात्र को संभालकर लौट आए।

भगवान् महावीर ने स्थविर मुनियों के हृदय की बात जानकर उनको सम्बोधित करते हुए कहा– "मुनियों! अतिमुक्त मुनि निसंदेह देह से बालक है, लेकिन वह मुनित्व के आचार का पालने वाला है। वह चरम-शरीरी है। इसी भव में मोक्ष जाने वाला है। आपने एक चरम-शरीरी साधक की अविनय की है। आपको उसकी भक्ति करनी चाहिए।"

"और सुनो! वह जल, जिसमें अतिमुक्त मुनि ने काष्ठपात्र तैराया था, अचित्त (निर्जीव) था। तप्त भूमि पर गिरकर जल निर्जीव हो चुका था। इस बात को जानकर ही अतिमुक्त ने अपनी नाव उस पर तैराई थी।" भगवान् की बात सुनकर स्थविर मुनियों ने अपनी भूल सुधारी। अतिमुक्त निरतिचार संयम पालकर अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। *[अन्तकृत् सूत्र से]*

❑❑

[२]
ध्रुव भक्त
(वैदिक)

मनु के दो पुत्र थे– प्रियव्रत एवं उत्तानपाद। महाराज उत्तानपाद की दो रानियां थीं– सुनीति के पुत्र का नाम ध्रुव रखा गया और सुरूचि के पुत्र का नाम उत्तम। महाराज उत्तानपाद अपनी छोटी रानी सुरूचि से अत्यधिक प्रेम रखते थे। परिणामतः उत्तम को भी पिता का प्रेम ध्रुव की तुलना में अधिक मिला।

एक दिन महाराज उत्तानपाद सुरूचि के पुत्र उत्तम कुमार को गोद में लिए बैठे थे। वे उससे प्यार कर रहे थे। पञ्चवर्षीय ध्रुव खेलते हुए पिता के पास पहुंचे और उनकी गोद में बैठने के लिए मचलने लगे।

ध्रुव की विमाता सुरूचि ने ध्रुव का मार्ग रोकते हुए ईर्ष्या और गर्व से कहा– "इस गोद में बैठने का अधिकारी केवल मेरा पुत्र है। इस गोद में बैठने की यदि इतनी उत्कट इच्छा थी तो मेरे गर्भ से जन्म लेना था।

इस दुर्लभ अधिकार के लिए मत ललचाओ, ध्रुव! भगवान् को प्रार्थना से प्रसन्न करो और मेरे गर्भ से जन्म लो। तभी इस गोद में बैठने का सौभाग्य सुख तुम्हें मिल सकता है।''

विमाता के कड़े शब्दों ने ध्रुव के बाल हृदय पर गहरी चोट की। वे दुःखी हो गए। रोते हुए अपनी माता सुनीति के पास पहुंचे और विमाता के कहे हुए शब्द बताए। पुत्र की बात सुनकर सुनीति को भी बड़ा कष्ट हुआ। वह बोली—''बेटा! यह मेरे दुर्भाग्य का फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है। मैं हतभागा हूं जिसे तुम्हारे पिता अपनी पत्नी मानते हुए भी संकोच करते हैं। लेकिन दुःखी मत हो पुत्र! अपने कष्ट का कारण मनुष्य स्वयं होता है, अपने भाग्य से ही वह सुख-दुःख पाता है। किसी अन्य को अपने अमंगल का कारण मानकर उस पर रोष नहीं करना चाहिए।''

''ध्रुव! क्या हुआ तुम पिता के गोद में नहीं बैठ पाए। उस गोद में बैठने से तुम्हें सुरूचि रोक सकती है लेकिन एक गोद और है। वह गोद है परमपिता की। इस परमपिता की गोद में बैठने से कोई नहीं रोक सकता। परम सौभाग्यशालियों को वह गोद उपलब्ध होती है।''

''मां! वे परमपिता कौन हैं?'' ध्रुव ने पूछा—''और वे कहां मिलेंगे?''

''भग्वान विष्णु परम पिता हैं।'' सुनीति बोली— ''वे तपस्या से प्राप्त होते हैं। निर्मल मन से जो उनकी एकान्त वन में आराधना करता है, वे उसे अवश्य प्राप्त होते हैं।''

''मां! मैं उन परमपिता को अवश्य प्राप्त करूंगा।''

ध्रुव ने दृढ़ता से कहा—''मैं एकान्त वन में उस परमपिता की आराधना करने के लिए जा रहा हूं।''

माता की आज्ञा लेकर ध्रुव वन में चले गए। मार्ग में उन्हें नारद जी के दर्शन हुए। नादर जी ने पंचवर्षीय बालक ध्रुव को भय और लालच दिखाकर परीक्षा ली। ध्रुव का दृढ़निश्चय देखकर नारदजी ने उन्हें द्वादशाक्षर मंत्र की दीक्षा प्रदान करते हुए तपविधि का उपदेश दिया।

दृढ़निश्चयी बालक ध्रुव ने यमुनातट पर मधुवन में घोर तप प्रारंभ कर दिया। कई माह बीत गए। एक पैर पर ध्यानस्थ ध्रुव जब पैर बदलते तो धरती कंपायमान हो जाती। प्राणायाम से उन्हें श्वास रोक लिया।

उनके ऐसा करने से इन्द्रादि देव विचलित हो उठे। भवगान् विष्णु का आसन डोल गया। वे तत्काल अपने भक्त को दर्शन देने के लिए मधुवन में पधारे।

ध्रुव के कपोलों को शंख से छूकर भगवान् विष्णु ने उनका ध्यान भंग किया। ध्रुव ने आंखें खोलीं। भगवान् को साक्षात् देख कर उनके हर्ष का पारावार न रहा। वे भगवान् के श्री चरणों में साष्टांग लेट गए।

"ध्रुव! तुम्हारी अविचल भक्ति और तप से मैं प्रसन्न हूं।" भगवान् बोले–"हम तुम्हें वरदान देते हैं कि तुम दीर्घ काल तक सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य भोगोगे।"

"मुझे राज्य की कामना नहीं है।" ध्रुव ने उत्तर दिया।

"हम तुम्हें सर्वशक्तिसम्पन्न होने का वरदान देते हैं।" भगवान् बोले।"

"नहीं प्रभु! मुझे शक्ति नहीं चाहिए।"

"तो तुम्हें क्या चाहिए? मांगो? जो मांगोगे वही प्राप्त होगा।"

"मैं आपको मांगता हूं।"ध्रुव भक्त ने दृढ़ता से कहा।

ध्रुव की दृढ़ भक्ति, निष्काम अनुराग से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने उस नन्हे बालक को अपनी गोद में उठा लिया। परमपिता परमात्मा की गोद में बैठकर बालक ध्रुव आह्लादित हो उठे। उन्हें उनका ध्येय प्राप्त हो चुका था। *[द्रष्टव्यः भागवत पुराण, 4/8-9 अध्याय]*

❑❑❑

[३]
थावच्चापुत्र
(जैन)

द्वारिका नगरी में थावर्च्चा नाम की एक सेठानी रहती थी। उसका एक पुत्र था। थावर्च्चा सेठानी का पुत्र होने से सभी उसे थावर्च्चापुत्र कहकर पुकारते थे।

बाल्यकाल में ही थावर्च्चापुत्र बड़ा बुद्धिमान् और तार्किक था। वह प्रत्येक विषय को गहराई से समझता था। उसकी माता उसकी अध्यापिका थी।

एक बार अपने महल की छत पर थावर्च्चापुत्र खेल रहा था। पड़ोस के घर से उसे मधुर गीत सुनाई दिए। वे गीत थावर्च्चापुत्र को इतने मधुर लगे कि वह खेल को भूल गया और मधुर गीतों मे खो गया। उसके कानों में अमृत रस टपक रहा था।

पुत्र के पैरों में बंधे घुंघरूओं की आवाज बन्द होने से थावर्च्चा सेठानी समझ गई कि उसका पुत्र खेल नहीं रहा है। उसने आवाज दी– "बेटे! खेलना बन्द क्यों कर दिया है ? आओ नीचे, भोजन तैयार है।"

थावर्च्चापुत्र नीचे आया और बोला–"मां! मुझे खेल से अधिक ये गीत मधुर लग रहे हैं। मैं भोजन नहीं करूंगा। पहले मैं इन गीतों को सुनूंगा।" कहते हुए थावर्च्चापुत्र दौड़ते हुए पुनः छत पर चढ़ गया।

लेकिन इस बार वह एक क्षण भी वहां ठहर न सका। वे गीत अब उसके लिए असहनीय हो गए थे। उदासमना वह नीचे उतर आया। अपनी मां की गोद में बैठकर उसने कहा– "मां! वे गीत जो चन्द पल पहले मुझे अत्यन्त प्रिय लग रहे थे, अब वे इतने कर्णकटु क्यों हो गए हैं? मां! मुझे इन गीतों का रहस्य बताओ।"

थावर्च्चा सेठानी ने कहा–"बेटे! जो तुम पहले सुन रहे थे, वे गीत थे। परन्तु जो तुमने बाद में सुने, वे गीत नहीं रोदन हैं। गीत मधुर होते हैं और कानों को भाते हैं। रोदन चूंकि अन्दर के दुःख के परिचायक होते हैं इसलिए अप्रिय लगते हैं।"

"लेकिन मां! यह गीत और रोदन एक साथ कैसे?" थावर्च्चापुत्र ने पूछा– "एक पल पहले मधुर गीत गाए जा रहे थे और कुछ पल बाद रोदन शुरू हो गया। ऐसा क्यों हुआ?"

थावर्च्चा ने कहा–"बेटे! हमारे पड़ोसी के घर पुत्र पैदा हुआ था। उसी खुशी में पारिवारिक महिलाएं मंगल गीत गा रही थीं। वे तुम्हें प्रिय लग रहे थे। लेकिन चन्द श्वास लेकर ही वह पुत्र मर गया। मरने पर रोने की रीत है। उस पुत्र के मर जाने पर हमारे पड़ोसी रो रहे हैं।"

"मां! जन्म क्या होता है? मृत्यु क्या होती है?" थावर्च्चापुत्र गंभीर हो गया।

थावर्च्चा सेठानी बोली– "बेटे! आत्मा का देह धारण करना जन्म है और इस शरीर को छोड़कर चले जाना मृत्यु है।"

"मां! क्या सभी को एक दिन अवश्य मरना है?"

"हां, बेटे! मृत्यु सुनिश्चित है। एक दिन सभी को मरना है।"

"क्या मैं भी मरूंगा?"

पुत्र के प्रश्न ने मातृहृदय को हिला डाला। थावर्च्चा सेठानी ने पुत्र के मुख पर हाथ धरते हुए कहा –"तुम क्यों मरो! मरें तुम्हारे शत्रु!"

"तो मैं अमर हूं, मां! मैं कभी नहीं मरूंगा?"

पुत्र ने मां को उलझा लिया। तत्त्वज्ञा सेठानी पुत्र को असत्य शिक्षा न दे पाई। उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया –"हां, बेटे! एक दिन तुम्हें भी मरना होगा।"

थावर्च्चापुत्र का बाल आनन गंभीरता के सागर में डूब गया। उसने कहा –"मां! मुझे मृत्यु अप्रिय है। क्या कोई भी ऐसा नहीं है, जो मृत्यु से मेरी रक्षा कर सके?"

"है बेटे!" "थावर्च्चा बोली –"भगवान् अरिष्टनेमी हैं जो अमरता का मूलमंत्र जानते हैं। जो उनकी शरण में पहुंच जाता है, वह मृत्यु को सदा-सदा के लिए मार देता है।"

"तो मैं उन्हीं की शरण में जाऊंगा।" थावर्च्चापुत्र बोला –"मैं भी मृत्यु को मारकर अमृत का पान करूंगा।"

भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे। थावर्च्चापुत्र दीक्षा लेने को तत्पर हुआ। स्वयं श्री कृष्ण ने उसे संसार से बांधे रखने के लिए अनेक प्रलोभन दिए। परन्तु अमरता का खोजी– थावर्च्चापुत्र किसी भी लोभ के समक्ष नहीं झुका। उसने श्रीकृष्ण के तीन खण्ड के राज्य को ठुकरा दिया।

थावर्च्चापुत्र में अमृत की खोज की इस उत्कण्ठा से अनेक लोग प्रभावित हुए। एक हजार पुरूषों ने थावर्च्चापुत्र के साथ संयम ग्रहण किया। महान् तप करके उसने मृत्यु को मार डाला। वह अनन्त-अनन्त के लिए अमर हो गया।

❑❑

[४]
नचिकेता
(वैदिक)

वाजश्रवा नाम के ब्राह्मण थे। उनके (वैदिक) पिता का नाम आरुणी था। नाना वस्तुओं, धन-धान्य आदि का दान करना उनका स्वभाव था। अपने समय के वे प्रसिद्ध दानवीर थे। समय-समय पर यज्ञ किया करते और प्रभूत दान दिया करते। उनका एक पुत्र था— नचिकेता। वह बड़ा होनहार बालक था। यों तो बचपन की विशेषता ही होती है— जिज्ञासा, परंतु नचिकेता के स्वभाव में जिज्ञासा विशेष रूप से थी। वह ऐसे-ऐसे प्रश्न किया करता, जिनकी आशा किसी साधारण बालक से नहीं की जा सकती थी। पिता वाजश्रवा अपनी दानवीरता के लिए विख्यात थे तो पुत्र नचिकेता अपनी गहन जिज्ञासा के लिए।

एक बार वाजश्रवा ने एक विशाल यज्ञ किया। यज्ञ में भाग लेने के लिए दूर-दूर से ऋषियों को आमंत्रित किया गया। यज्ञ संम्पन्न होने पर वाजश्रवा ने अपनी उदारता का परिचय देते हुए अपना समस्त धन दान में दे डाला। उनके पास जितनी गाएं थीं, वे भी सब उन्होंने दान कर दीं। चारों ओर उनके दान की प्रशंसा होने लगी। संयोग से उसी समय वहां नचिकेता भी उपस्थित था। एक ब्राह्मण ने जब वाजश्रवा को पृथ्वी का सबसे बड़ा दानी कहा तो नचिकेता से रहा नहीं गया। उसने अपने पिता से पूछा, 'पिताश्री! दान तो अपनी सबसे प्रिय वस्तुओं का दिया जाता है। मैं आपको सबसे प्रिय हूं। मुझे दान किए बिना आप पृथ्वी के सबसे बड़े दानी नहीं हो सकते। मुझे आप किसको दान देंगे?'

वाजश्रवा ने नचिकेता की बात पर ध्यान नहीं दिया। उसके प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता भी उन्होंने अनुभव नहीं की। सोचा- बच्चा है! किस समय क्या पूछना और कहना चाहिए, इसका ज्ञान इसे नहीं हैं। नचिकेता ने पिता को अपने प्रश्न की उपेक्षा करते देखा तो अपने उसी प्रश्न को फिर से दोहराया। इस बार भी वाजश्रवा ने ध्यान नहीं दिया। नचिकेता बार-बार उसी प्रश्न को पूछने लगा। स्पष्ट था कि वह अपना उत्तर पाए बिना चुप नहीं होने वाला।

अपने दान की प्रशंसा सुनने में दत्तचित्त वाजश्रवा बार-बार के इस अप्रिय हस्तक्षेप से खीझ उठे। झल्लाकर उन्होंने कहा, 'जा! मैंने तुझे मृत्यु को दिया!'

यह सुनकर नचिकेता भयभीत नहीं हुआ। बालसुलभ उत्साह के साथ उसने यम के पास जाने के लिए स्वयं को प्रस्तुत कर दिया। एक ओर उसके मन में यह संतोष था कि उसने अपने पिता की पृथ्वी का सबसे बड़ा दानवीर बनने में सहायता की तथा दूसरी ओर यह उल्लास था कि उसे मृत्यु के देवता यम के दर्शन करने का अवसर भी सहजता से मिल गया। मृत्यु से संबंधित प्रश्नों का उत्तर मृत्यु के देवता से अधिक अधिकार के साथ और कौन दे सकता है? नचिकेता ने सोचा और दोगुने उत्साह से उसका मन भर गया।

नचिकेता यमलोक पहुंचा। पता लगा कि यमराज कहीं बाहर गए हुए हैं। वह वहीं उनके लौटने की प्रतीक्षा करने लगा। तीन दिन बीत गए। वह धैर्य से उनकी प्रतीक्षा करता रहा। तीन दिन के बाद यमराज लौटे। देखा कि एक ब्राह्मण-पुत्र उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। तीन दिन से इसने कुछ खाया-पीया भी नहीं है। यमराज का मन बालक के प्रति करूणा से भर उठा। उन्होंने नचिकेता से तीन दिन तक कष्ट सहने के बदले तीन वर मांगने के लिए कहा।

'पहला वर मैं यह मांगता हूं कि मैं जब यहां से वापिस जाऊं तो मेरे पिता मुझ पर क्रोध न करें। वे मुझ पर वात्सल्य की वर्षा उसी प्रकार करें, जिस प्रकार पहले किया करते थे।'

'तथास्तु!' यमराज ने प्रसन्न होकर कहा।

नचिकेता ने दूसरे वर के रूप में अग्नि का स्वरूप जानने की तीव्र इच्छा प्रकट की। यमराज ने उसे यह वर भी प्रदान किया। अग्नि का स्वरूप एवं रहस्य स्वयं उसे समझाया। तीसरा वर मांगते हुए नचिकेता ने कहा, 'कृपा कर मुझे जन्म, मृत्यु और ब्रह्म का रहस्य भी समझाइए! यही मेरा तीसरा वर है।'

यह सुनकर यमराज चकित रह गए। एक बालक तीन दिन से भूखा-प्यासा है। अपने घर से दूर है। फिर भी खाने-पीने के लिए कुछ

नहीं चाहता। वह चाहता है, जिसे ऋषि-मुनि लंबी-लंबी तपस्याएं करने के बाद भी सदैव प्राप्त नहीं कर पाते! आश्चर्य है! यमराज ने बालक को संसार की सबसे स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ देने का प्रस्ताव रखा। नचिकेता ने वह तत्काल अस्वीकार कर दिया। यमराज ने अन्य सुख-सुविधाओं व संपत्तियों को मांग लेने के लिए कहा, परंतु नचिकेता इसके लिए भी तैयार नहीं हुआ। यमराज ने समस्त वैभव देने के लिए कहा परंतु नचिकेता ने वह प्रस्ताव भी ठुकरा दिया। वह जन्म, मृत्यु एवं ब्रह्म अर्थात् आत्मा का गूढ ज्ञान ही प्राप्त करने पर अडिग रहा। अंततः यम को वह ज्ञान देना पड़ा। नचिकेता ने बचपन में ही उस परम सत्य का ज्ञान पा लिया जिसके लिए कठोर तप साधनाएं की जाती हैं।

• यमराज, जिनसे सारा संसार थर-थर कांपता है, एक बालक की जिज्ञासा से पराजित हो गए थे।

OOO

प्रस्तुत सभी कथानक बाल साधकों पर आधृत हैं। वैराग्य की घटना आयु की सीमाओं से निर्बन्ध होती है। यह घटना कभी-कभी बाल्यावस्था में भी घटित हो जाती हैं तो कामभोगपरायण भरी जवानी में भी व्यक्ति विरक्त होकर सर्वस्व त्याग कर देता है। संसार के स्वाद से अपरिचित जब कोई बालक परम स्वाद-वैराग्य के स्वाद को पहचान लेता है तो यह जगत् आश्चर्यचकित हो उसे देखता रह जाता है। जैन परम्परा में अतिमुक्त व थावर्च्चापुत्र और वैदिक परम्परा में ध्रुव व नचिकेता– ये चार ऐसे चरित्र हैं जहां वैराग्य बाल्यावस्था में घटित हुआ था। चारों ही चरित्र अतिआश्चर्यकारी हैं। अष्टवर्षीय अतिमुक्त कुमार गौतम स्वामी को देखकर आनन्दविभोर हुए थे और फिर भगवान् महावीर की चरणरज प्राप्त करके वे अनन्त-अनन्त के लिए उन्हीं के होकर रह गए थे। माता के प्रतिबोध दिये जाने पर ध्रुव भी बाल्यावस्था में विरक्त

हो गए थे। थावर्च्चापुत्र को लौकिक घटना से विरक्ति हुई और वे अमृतत्व की प्राप्ति में अग्रसर हो गए।

सभी बालसाधक अपनी-अपनी परम्परा के विशिष्ट और लोकप्रिय व्यक्तित्व हैं। अद्‌भुत बात यह है कि अतिमुक्त मात्र 8 वर्ष का है, और ध्रुव 5 वर्ष का ही। थावर्च्चापुत्र व नचिकेता भी बहुत छोटी आयु के हैं। प्रश्न है– इतनी छोटी आयु में उन्होंने ज्ञान प्राप्त कैसे कर लिया? पूर्वजन्म की साधना के संस्कार लेकर आए इन बालकों को जब वैराग्य का कोई निमित्त मिला तो उनका ज्ञान जागृत हो गया। गौतम स्वामी का निमित्त पाकर अतिमुक्त का, और माता का निमित्त पाकर ध्रुव को वैराग्य जागृत हुआ। लौकिक घटना का निमित्त पाकर थावर्च्चापुत्र को वैराग्य जागृत हो गया था। नचिकेता को तो जन्मजात जिज्ञासा थी जिससे सांसारिक विषयों की अपेक्षा परम रहस्यों को जानने की रूचि अधिक थी। चारों को प्रलोभन दिया गया। अतिमुक्त को राज्य का, तथा ध्रुव को नारद व स्वयं विष्णु द्वारा प्रलोभन दिया गया, इसी तरह थावर्च्चापुत्र को श्रीकृष्ण ने और नचिकेता को यमराज ने प्रलोभन दिए परन्तु वे सभी अडोल रहे। परिणामतः, चारों अपने-अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल रहे।

●

युवावस्था और वैराग्य

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

वैराग्य द्वार है— परम श्रेष्ठ जीवन का। परमात्मा का। भ्रान्त-क्लान्त आत्मा परम शान्ति को उपलब्ध होती है वैराग्य के क्षण में। उस क्षण में वे व्यामोह-आकर्षण, जो जन- साधारण को व्यामोहित-आकर्षित करते हैं, निःसत्त्व-सारहीन और नीरस हो जाते हैं। परम के स्वाद का आकर्षण आत्मा के कण-कण में जागृत होता है। 'काम' नीरस हो जाता है। निष्कामता का आनन्द-वर्षण होने लगता है। दुनियावी वैभव उथले प्रतीत होने लगते हैं आत्म-वैभव की गहराई की इस उपलब्धि पर। भटकाव का अन्त हो जाता है। आध्यात्मिक यात्रा शुरू होती है।

*इसीलिए आचार्य शंकर कहते हैं— **मोक्षस्य हेतुः प्रथमं निगद्यते, वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु** (विवेक चूड़ामणि, 71)। अर्थात् अनित्य वस्तुओं के प्रति अत्यन्त विरक्ति होना— यह मोक्ष का प्रथम हेतु है, साधन है— पहली सीढी है। उपनिषद् के ऋषि ने भी मोक्ष-प्राप्ति का कारण बताते हुए कहा हैः—*

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(बृहदा. उप. 4/4/7)

अर्थात् मनुष्य जब हृदय-स्थित समस्त कामनाएं छोड़ देता है, तभी वह 'अमृतत्व' को प्राप्त होकर ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

विरक्ति का प्रादुर्भाव होते ही व्यक्ति का मोक्ष के प्रति उत्कट अनुराग प्रकट हो जाता है। सांसारिक वैभव उसे निःसार ही नहीं, कटुपरिणाम देने वाले प्रतीत होते हैं। इस उत्कट इच्छा के कारण, व्यक्ति तुरन्त समस्त सांसारिक बन्धनों को तोड़कर एकाकी आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है, इसमें वह एक पल की भी देरी नहीं करना चाहता। इसी प्रसंग में महाभारत का वचन है– **अद्यैव कुरु यच्छ्रेयः, मा त्वां कालोऽत्यगान् महान्** (महाभारत- 12/159/1) अर्थात् जो कुछ कल्याण करना हो, आज ही कर लो, समय व्यर्थ न गंवाओ। इसी दृष्टि से उपनिषद् का परामर्श है कि जिस दिन विरक्ति जागे, उसी दिन (तत्काल) घरबार छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिए– **यदहरेव विरजेद्, तदहरेव प्रव्रजेत्** (जाबालोपनिषद, 4)।

वैराग्य परम घटना है। अनन्त अतीत में यह घटना केवल एक ही बार आत्म-तल पर घटित होती है। उस क्षण में आत्मा के लिए परमात्मा ही एकमात्र लक्ष्य शेष बचता है। शेष लक्ष्य खो जाते हैं। तृतीय चक्षु खुल जाता है। सार और निःसार की परीक्षा का विवेक उपलब्ध हो जाता है। विरक्त व्यक्ति में हुए वैचारिक परिवर्तन का जिनवाणी में इस प्रकार वर्णन है–

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

(उत्तरा. 13/16)

–इस संसार के सभी गीत विलाप स्वरूप हैं। सभी नृत्य विडंबना स्वरूप हैं। सभी आभूषण भार स्वरूप हैं तथा सभी काम दुखदायी हैं (ऐसा विरक्त व्यक्ति का चिन्तन होता है)।

उत्कट विरक्ति जब जाग उठती है, तब तत्काल प्रव्रजित होने की भावना भी बनती है। इस भावना को किन्हीं विरक्त पात्रों के माध्यम से जैन आगम में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है–

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवण्णा ण पुणब्भवामो।

(उत्तरा. सू. 14/28)

अर्थात् हम आज ही धर्म की शरण में जाएंगें ताकि पुनः संसार में जन्म न लेना पड़े।

संसार के स्वरूप को अत्यन्त निकट से अनुभव करने वाले

विरक्तचित्त भर्तृहरि ने वैराग्य की महिमा का सुन्दर चित्र खींचते हुए कहा था—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयम्,
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयम्,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

(वैराग्यशतक, 31)

—भोग में रोग का भय है, कुल में आचारभ्रष्टता का भय है, धन में राजा का भय है, अभिमान में दीनता का भय है, सामर्थ्य में शत्रु का भय है, सौन्दर्य में वृद्धावस्था का भय है, शास्त्रज्ञान में तर्कशील विवादी का भय है, गुण में दुष्ट का भय है और शरीर में यमराज का भय है। इस संसार में सभी वस्तुएं भययुक्त हैं, वैराग्य ही अभय है।

जब कोई व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है तब उसमें विरक्ति का भाव जागृत होता है। ज्ञान और काम विपरीत ध्रुव हैं। दोनों का अस्तित्व एक साथ नहीं हो सकता। काम है ज्ञान का अभाव। ज्ञान-सूर्य के उदय होते ही हृदय से काम का अन्धकार विलीन हो जाता है। दादू जी की भाषा में—

जहां राम तहां काम नहीं, काम जहां नहीं राम।
दादू महल बारीक है, दूजे को नहीं ठाम॥

शुकदेव, जम्बूस्वामी— इन दोनों कथानकों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है जिनमें एक सांझा उपदेश सन्निहित है कि वैराग्य-साधना हेतु कोई वय-विशेष नियत नहीं होता। जब ही अन्तर्ज्योति जागृत होती है, विरक्ति का द्वार उद्घाटित हो जाता है।

[१]
जम्बू स्वामी
(जैन)

राजगृह नगर में ऋषभदत्त नाम के एक सेठ रहते थे। उनकी पत्नी का नाम धारिणी था। उनके एक पुत्र था जिसका नाम जम्बूकुमार था। जम्बूकुमार सर्वगुणसम्पन्न और योग्य था। यौवनावस्था में आठ बड़े सेठों ने अपनी-अपनी कन्याओं का सम्बन्ध जम्बूकुमार से तय कर दिया।

उन्हीं दिनों पांचवें गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी राजगृह नगर में पधारे। जम्बूकुमार उनका उपदेश सुनने गए। जिनवाणी का अचूक प्रभाव जम्बूकुमार पर हुआ। उन्हें संसार खारा और संयम प्यारा लगने लगा। उन्होंने मन ही मन संयम लेने का दृढ़ संकल्प ले लिया।

जम्बूकुमार घर लौटे। उन्होंने माता-पिता को अपने हृदय की बात कही। माता-पिता को सहसा कानों पर विश्वास न हुआ। उन्होंने पुत्र को समझाया। संयम की दुरूहता का दर्शन सुनाया। जिन्हें संयम की लगन लग जाती है, छूटती नहीं है। माता-पिता जम्बूकुमार के तर्कों के समक्ष पराजित हो गए।

ऋषभदत्त ने आठों सम्बन्धित-सेठों के बुलाकर उन्हें अपने पुत्र के मुनि-दीक्षा के भाव बताए। सेठों ने भी जम्बूकुमार को समझाने-मनाने का बहुत प्रयास किया। परन्तु सब विफल रहा।

आठों कन्याओं को भी घटना ज्ञात हुई। उन्होंने परस्पर निर्णय करके कहा–

हमने जम्बूकुमार को अपना पति माना है। एक बार हमारा उनसे विवाह हो जाए तो हम उनके विरक्त हृदय में राग का संसार भर देंगी। यदि ऐसा न कर सकीं तो उन्हीं का अनुगमन करके संयम धारण कर लेंगी। जम्बूकुमार पर सभी ओर से दबाव पड़े तो उन्होंने एक दिन के लिए विवाह की स्वीकृति दे दी।

उन्होंने कहा- दूसरे दिन मैं संयम धारण कर लूंगा।

आठ कोटीश्वर सेठों की कन्याओं के साथ जम्बूकुमार का विवाह सम्पन्न हो गया। दहेज में विपुल द्रव्य आया। सुहागरात की वेला में आठों अनिंद्य सुन्दरी पत्नियों ने जम्बूकुमार को घेर लिया। उनके वैराग्य का रंग उतारने के लिए आठों ने अपने प्रयास शुरू कर दिये। व्यंग्यों द्वारा, मधुर मनुहारों द्वारा और विभिन्न मुद्राओं द्वारा वे जम्बूकुमार के हृदय में स्वयं के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने लगीं।

उस युग का एक नामी चोर था– प्रभव। वह पांच सौ चोरों का सरदार था। उसे दो विद्याएं आती थीं–अवस्वापिनी तथा तालोद्घाटिनी। पहली विद्या से जहां सभी को निद्राधीन किया जा सकता था, वहीं दूसरी विद्या से ताले खोले जा सकते थे। प्रभव को सूचना मिली कि ऋषभदत्त के

यहां भारी धन आया है। उसने साथियों के साथ उस धन को चुराने के लिए प्रस्थान कर दिया। उसने अवस्वापिनी विद्या से पूरे नगर को सुला दिया। उसने बेहिचक ऋषभदत्त सेठ के घर में प्रवेश किया। चोरों ने धन की गठरियां बांधनी शुरू कर दी।

प्रभव की दृष्टि सुहाग कक्ष पर पड़ी। उसने देखा कि एक ध्यानस्थ युवक को आठ सुन्दर कन्याएं रिझाने का असफल प्रयास कर रही हैं। उसे आश्चर्य हुआ कि उसकी अवस्वापिनी विद्या यहां निष्प्रभावी हो गई। वह तत्काल मुड़ा। साथियों से बोला– "तत्काल धन लेकर चलो।" लेकिन आश्चर्य! पांच सौ ही चोरों के पैर जहां के तहां चिपक गए। प्रभव को लगा कि अवश्य ही इस ध्यानस्थ युवक ने मेरे साथियों के पैर बांध दिए हैं।

आठों श्रेष्ठी-कन्याओं ने एक-एक उदाहरण के माध्यम से जम्बूकुमार को समझाना चाहा। लेकिन जम्बूकुमार ने उन आठों के उदाहरणों का खण्डन करके और आठ ही दृष्टान्तों से अपने पक्ष का मण्डन करके उनके हृदयों में भी विरक्ति के बीज बो दिए। आठों ने अपनी हार स्वीकार कर ली। भोग और योग के इस द्वन्द्व में भोग पराजित हो गया। योग को जय मिली। निष्कामचेता जम्बूकुमार ने काम-वासना से संतप्त हृदयों में साधना की उमंग जगा दी।

"रूप और धन प्रभूत मात्रा में पाकर भी यह युवक अनासक्त है। इसका अर्थ है कि रूप और धन के अतिरिक्त भी कुछ बड़ा है जिसे पाकर यह सब व्यर्थ हो जाता है।" प्रभव ऐसा सोचते हुए प्रार्थित स्वर में जम्बू से बोले– "कुमार! हमारे अपराध को क्षमा करो और हमें भी उस परम रूप और परमधन से परिचित कराओ जिसे पाकर यह पौद्गलिक रूप और धन निःसार हो जाता है।"

जम्बू ने चोरों को संयम का मर्म समझाया। पांच सौ ही चोर विरक्त हो गए। दूसरे दिन जंबूकुमार, उनके माता पिता, आठों पत्नियों, उनके माताओं-पिताओं, पांच सौ चोरों तथा प्रभव– यों पांच सौ अट्ठाईस भव्यात्माओं ने संयम ग्रहण किया। काम-विजेता जम्बू न केवल स्वयं, अपितु हजारों भव्यात्माओं के लिए कल्याण का द्वार सिद्ध हुआ। *[कल्पसूत्र की कल्पद्रुमकलिका व्याख्या से]* ❑❑

[२]
शुकदेव मुनि
(वैदिक)

शुकदेव जन्मतः ज्ञानी थे। वे महर्षि वेदव्यास के पुत्र थे। उनके बारे में अनुश्रुति है कि अपने पूर्व भव में वे शुक थे। एक बार वे उड़ते हुए शिवलोक में पहुंच गए। वहां भगवान् शंकर माता पार्वती को भगवान् की लीलाओं का वर्णन सुना रहे थे। कथा सुनते-सुनते माता पार्वती इतनी तन्मय हो गईं कि वे आत्मविस्मृत हो गई। कथा में बाधा न पड़े– इसलिए वे (शुक) हुंकृति देने लगे।

कथा की समाप्ति पर शंकर जी को यह ज्ञात हुआ तो वे रुष्ट हुए। अतः शुक को पुनर्जन्म लेना पड़ा। शुक ने महर्षि व्यास की पत्नी के उदर से जन्म धारण किया।

शुकदेव बारह वर्ष तक माता के गर्भ में रहे। अपनी योगशक्ति से वे इतने लघुकाय बने रहे कि उनकी माता को कोई कष्ट नहीं हुआ।[1] गर्भस्थ शुकदेव जी का विचार था कि जब तक जीव गर्भ में रहता है, तब तक उसका ज्ञान प्रकाशित रहता है। गर्भ से बाहर आते ही माया उसे मोहित कर देती है। उसका ज्ञान विस्मृत हो जाता है और वह सांसारिक विषयों में आसक्त होकर अनन्त संसार-सागर में डूब जाता है।

---

1. भगवान् महावीर के सम्बन्ध में भी ऐसी ही घटना है। भगवान् गर्भावस्था में ही विशिष्ट ज्ञानी थे। अर्थात् उन्हें मति, श्रुत और अवधिज्ञान था। जब गर्भ का सातवां महिना बीता चुका, तब एक दिन भगवान् ने सोचा- मेरे हलन-चलन से माता को कष्ट होता है। अतः उन्होंने गर्भ में हिलना-डुलना कतई बन्द कर दिया।

अचानक गर्भ का हिलना-डुलना बन्द होने से माता त्रिशला अमङ्गल की कल्पना से शोकसागर में डूब गई। उन्हें लगा कि कहीं गर्भ में बालक की मृत्यु तो नहीं हो गई? धीरे-धीरे वह खबर सारे राज-कुटुम्ब में फैल गई। सभी यह बात सुनसुन कर दुःखी होने लगे।

भगवान् ने यह सब अपने ज्ञान से देखा और सोचा– 'माता-पिता की सन्तान-विषयक ममता बड़ी प्रबल होती है। मैंने तो मां के सुख के लिए ही हलन-चलन बन्द कर दिया था परन्तु उसका परिणाम विपरीत ही हुआ।' माता-पिता के इस स्नेहभाव को देखकर भगवान् ने अंग-संचालन किया और साथ में यह प्रतिज्ञा की कि– 'जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, तब तक मैं प्रव्रज्या नहीं करूंगा।'(-सम्पादक)

महर्षि व्यास ने अपने पुत्र से गर्भ से बाहर आने की अनेक बार प्रार्थना की। लेकिन शुकदेव बाहर नहीं आए। पुराणों के अनुसार अन्ततः स्वयं श्री कृष्ण ने प्रगट होकर शुकदेव जी को जन्म के पश्चात् माया से विमुक्त रहने का वरदान दिया। भगवान् का वरदान पाकर शुकदेव जी संतुष्ट हो गए। वे गर्भ से बाहर आ गए।

जन्म लेते ही शुकदेव युवा हो गए। वे एक पल के लिए भी वहां रुके नहीं। वे वन में तपस्या करने के लिए चले गए। महर्षि व्यास ने उन्हें लौटाने का बहुत प्रयत्न किया। लेकिन जिसके हृदय में ज्ञान की लौ जग जाती है और भगवन्नाम की प्यास जग जाती है, फिर उसे कोई नहीं लौटा सकता। शुकदेव जंगलों में एकाकी विचरण करते हुए भगवद्-भजन में लीन रहने लगे। व्यास जी का पितृहृदय पुत्रदर्शन के लिए व्याकुल रहता था। वे जानते थे कि उनका पुत्र परम भगवद्भक्त है। मोह के स्वर उसे आकर्षित नहीं कर सकते। भगवन्नाम ही उसके लिए आकर्षण का केन्द्र है। उसी के द्वारा उसे खोजा जा सकता है। व्यास जी ने अपने शिष्यों को एक श्लोक, जिसमें भगवान् के स्वरूप का मनोहर वर्णन था, कण्ठस्थ कराया और उन्हें निर्देश दिया कि वे जंगल में घूमते हुए इस श्लोक का उच्च स्वर से गान किया करें।

व्यास जी के शिष्य उक्त श्लोक का गान करते हुए जंगल में घूमने लगे। एक दिन शुकदेव के कान में उस श्लोक के स्वर पड़े। वे उस श्लोक पर मुग्ध हो उठे और व्यास जी के शिष्यों के पास आ गए। शिष्य शुकदेव को व्यास जी के पास ले गए। व्यास जी ने शुकदेव को श्रीमद् भागवत का अध्ययन कराया। गुरु के बिना ज्ञान अधूरा रहता है। इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए शुकदेव पिता की आज्ञा लेकर जनक को गुरु बनाने चल दिए। वे मिथिला नगरी पहुंचे। राजदरबार के द्वार पर एक पहरेदार ने उन्हें रोक दिया और उनका अपमान किया। अपमान से शुकदेव खेद-खिन्न नहीं हुए और वहीं शान्तभाव से तल्लीन बने खड़े रहे।

कुछ देर बाद दूसरे द्वारपाल ने आकर शुकदेव की प्रशस्तियां कीं और अतीव श्रद्धाभाव से उन्हें महल में ले गए। एक सज्जित-सुविधापूर्ण कक्ष में उन्हें ठहरा दिया गया। मान के क्षण में भी शान्तचित्त शुकदेव आत्मचिन्तन में रत रहे।

कुछ समय पश्चात् पचास अनिंद्य सुन्दरी बालाएं उनके पास आईं। उनके चित्त में चंचलता जगाने के लिए वे उन्हें महल के साथ ही सटे प्रमदावन नामक सुन्दर उद्यान में ले गईं। वे बालाएं नाच-गान और हाव-भाव के प्रदर्शन में निपुण थीं। उन्होंने अपने समस्त प्रयास किए शुकदेव में कामासक्ति जगाने के, लेकिन वे असफल रहीं। शुकदेव अब भी आत्मचिन्तन में तन्मय थे।

महाराजा जनक शुकदेव की परीक्षा ले चुके थे। वे शुकदेव के पास आए और बोले– "शुकदेव! तुम तो जन्मजात ब्रह्मज्ञानी हो। तुम गुरुओं के गुरु हो। तुम तो मुझे गुरु बनाकर मेरा मान बढ़ाने आए हो।"

जनक ने शुकदेव की प्रार्थना पर उन्हें अध्यात्मविद्या का ज्ञान प्रदान किया। शुकदेव ने तप करके परमधाम प्राप्त किया।

मुनि शुकदेव की एक और प्रसिद्ध घटना बताई जाती है। एक बार, मार्ग के किनारे एक कमल सरोवर में कुछ देवांगनाएं स्नान कर रही थीं। मुनि शुकदेव उधर से गुजरे, किन्तु देवांगना कुछ भी संकोच नहीं करते हुए अपनी जलक्रीडा में संलग्न रहीं। उनके जाने के बाद, महर्षि व्यास भी उधर से गुज़रे। महर्षि व्यास को उधर से आते देखकर वे जलाशय से बाहर निकलीं और अपने वस्त्र पहनने लगीं। निकट पहुंचकर महर्षि व्यास ने उन देवांगनाओं से कहा– "देवियों! मेरा युवा पुत्र शुकदेव नग्नावस्था में अभी कुछ क्षण पहले ही इधर से गुजरा है। उससे तो तुमने लज्जा नहीं की। और मुझ वृद्ध ऋषि को देखकर तुम लज्जाशील हो उठीं। क्यों?"

देवियों ने उत्तर दिया– "ऋषिवर! आपका पुत्र भले ही युवा और नग्न था पर उसकी आंखों में काम का कोई भाव न था। उसे तो स्त्री और पुरुष में भेद ही ज्ञात नहीं है। इसलिए उसका यहां से गुजरना हमें ज्ञात ही नहीं हुआ। और आप भले ही वृद्ध और ज्ञानी ऋषि हैं, पर आपकी आंखों में अब भी स्त्री और पुरुष का भेद शेष है। आपके आगमन ने हमें पहले ही सावधान कर दिया था।"

व्यास जी पुत्र की निःस्पृहता से परिचित हुए। उन्हें लौट पाना उन्हें असंभव प्रतीत हुआ। वे स्वयं अपने आश्रम में लौट आए।

OOO

मानव-जीवन की 3 क्रमिक अवस्थाएं हैं– बाल्य, युवा और वृद्ध। बाल्य अवस्था अबोध होती है, वहां तात्त्विक विवेचना और परामर्श-चिन्तन प्रायः नहीं हो पाता। वृद्धावस्था अशक्त है। इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं, शरीर क्षीण हो जाता है, तब तपश्चर्या जैसी कठोर साधना प्रायः सम्भव नहीं हो पाती। मात्र युवावस्था ही वह अवस्था है जिसमें मानव लौकिक- परलौकिक साधना कर सकता है। अधिकांश लोग– सांसारिक रुचि रखने वाले लोग– युवावस्था के लिए कहते हैं–

ऐश कर दुनिया की गाफिल फिर ये जिन्दगी कहां।
जिन्दगी गर रही तो फिर ये नौजवानी कहां॥

किन्तु इस अवस्था में जिन्हें विवेक या सज्ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उनका चिन्तन सुख-भोग के लिए नहीं, अपितु आत्मकल्याण के लिए होता है। आत्मा को छोड़कर सभी भौतिक पदार्थों का, यहां तक कि अपने शरीर की अनित्यता, नश्वरता का, उन्हें दृढ भान हो जाता है और वे इन सांसारिक नश्वर कामभोगों की अपेक्षा अनश्वर-शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हेतु तप, संयम, ध्यान की आराधना में तुरन्त प्रवृत्त हो जाते हैं।

युवावस्था में रहते हुए ही विरक्ति का प्रादुर्भाव किसी पुण्योदय से ही होता है और प्रायः दुर्लभ भी। उपर्युक्त कथानकों में ऐसे महान् पुण्यात्माओं का जीवन-चरित है जिन्होंने युवावस्था में ही संसार-भोगों को त्याग कर आत्मकल्याण के मार्ग को अपनाया।

जैन और वैदिक साहित्य से उद्धृत उपर्युक्त दो कथानकों में इसी सत्य को स्वीकृति मिली है कि वैराग्य-साधना के लिए किसी नियत वय की अनिवार्यता नहीं है।

सम्यग्ज्ञान अथवा विवेक का जब भी प्रादुर्भाव होता है, तभी विरक्ति के अंकुर फूट पड़ते हैं।

वैदिक परम्परा के विश्रुत ज्ञानी शुकदेव पूर्व जन्म में गृहीत ज्ञान के परिणाम स्वरूप 'काम' से अछूते रहे। संसार में जन्म लेकर भी, वे आजीवन विरक्त रहे। उनकी निःस्पृहता भरे यौवन में भी अक्षुण्ण रही। यही कारण था कि नारियां उन्हें देखकर संकोच या भय से उन्मुक्त रहती थीं। कमल-सरोवर में स्नान करती देवबालाओं को युवा शुकदेव का उधर से गुजरना संकोची न बना सका।

जैन परम्परा में भी जम्बू स्वामी जैसे आचार्य हुए हैं, जिन्हें भरी जवानी एवं कामभोग के उपलब्ध विशिष्ट साधन विरक्ति से रोक न सके।

शुकदेव और जम्बू स्वामी के कथानक इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि युवावस्था भी विरक्ति में बाधा नहीं बनती, और विरक्ति किसी भी वय में उत्पन्न हो सकती है।

●

तप का अहंकार

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

अहंकार पतन का कारण है। अहंकार तपस्वियों के तप, ज्ञानियों के ज्ञान और ध्यानियों के ध्यान के रस को पी जाता है। वह उन्नति के मग की दीवार है, परन्तु अवनति के मग का द्वार है। अहंकार ही वह मूल बाधक तत्त्व है जो आत्मतल पर परमात्मता के फूल विकसित नहीं होने देता है।

जैन, वैदिक तथा अन्यान्य सभी धर्मग्रन्थों में तप की महत्ता का मुखर गान हुआ है, लेकिन तप में अहं को तप की गरिमा का शोषक कहा गया है। तप भी एक अग्नि है और अहंकार भी एक अग्नि है। तप की अग्नि संचित कर्म समूह को नष्ट करती है। लेकिन यदि उस तप के साथ-साथ अहंकार चलता है तो वह तप को जलाता रहता है। यही कारण है कि तप निष्फल हो जाता है। आत्मा परमात्मत्व को उपलब्ध नहीं हो पाती। नर नारायण से नहीं मिल पाता। दोनों के मध्य अहंकार दीवार बन जाता है। दादू दयाल ने हृदय रूपी महल को अत्यन्त बारीक बताते हुए कहा था कि उसमें परमात्मा और अहंकार एक साथ नहीं रह सकते हैं–

जहां राम तहां मैं नहीं, मैं तहां नहीं राम।
दादू महल बारीक है, द्वै को नां ही ठाम॥

अहंकार तप का अजीर्ण है। वह तप को जीर्ण-नष्ट कर देता है। विनम्रतापूर्वक अल्प तप भी बड़ा शुभ परिणाम देता है। आत्मा में परमात्मा और नर में नारायण का द्वार खोल देता है।

अहंकार के दुष्परिणामों तथा उसकी हेयता को सभी भारतीय धार्मिक विचारधाराओं में व्याख्यायित किया गया है। विशेषतया धार्मिक साधना में तो अहंकार सर्वथा वर्जनीय है। महाभारत के अनुसार धार्मिक व्यक्ति के लिए अभिमान से रहित होना विशेष रूप से अपेक्षित माना गया है:-

न स्तम्भी न च मानी यो न प्रमत्तो न विस्मितः।
मित्रामित्रसमो मैत्रः, यः स धर्मविदुत्तमः॥

(महाभारत- 13/129/55)

वही उत्तम धर्मज्ञाता है जो जड़ता, अभिमान, प्रमाद व विस्मय से रहित है और जो शत्रु व मित्र के प्रति समान भाव रखता है।

जब व्यक्ति के अहं पर चोट पड़ती है तो क्रोध का आवेश भी आता है। अभिमानी-अहंकारी साधक को अपना अपमान सहन नहीं हो पाता, तो वे क्रोधाविष्ट हो जाता है। किन्तु यह क्रोध व्यक्ति की तपस्या को निष्प्रभावी कर देता है। इसलिए महर्षि व्यास ने महाभारत में कुछ उपयोगी निर्देश दिए हैं:- **नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेत्** (महाभारत, 12/189/10)। अर्थात् तपस्या को क्रोध से हमेशा बचाए रखे।

जैन परम्परा में भी उक्त विचारधारा का पूर्णतः समर्थन किया गया है।

अहंकार का उद्गम-स्थल अज्ञान है। इसी बात को स्वीकार करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था- **बालजणो पगब्भई**। (सूत्रकृतांग-1/11/2) अर्थात् अज्ञानी मनुष्य अभिमानी होता है।

जैन आचार्यों ने कहा है- **मद्दवकरणं णाणं तेणेव जे मदं समुवहंति। ऊणगभायणसरिसा अगदो वि विसायते तेसिं** (निशीथ भाष्य-6222)। अर्थात् यद्यपि ज्ञान मनुष्य को मृदु बनाता है, किन्तु कुछ मनुष्य उससे भी मदोद्धत होकर 'अधजलगगरी छलकत जाय' की कहावत के अनुसार अपने आपे में नहीं रहते। उन्हें अमृत-स्वरूप औषधि भी विष की तरह घातक बन जाती है। भगवान् महावीर ने कहा- **माणेण अहमा गई** (उत्तरा. सू. 9/55)। अर्थात् मान/अहंकार के प्रदर्शन करने वाले की अधोगति अवश्यम्भावी है। स्थानांग सूत्र में कहा गया है- **सेलथंभसमाणं माणं अणपविट्ठे जीवे। कालं करेइ णेरयइएसु उववज्जति** (स्थानांग- 4/2)। अर्थात् पत्थर के खम्भे की तरह जीवन में न झुकने वाला अहंकार आत्मा

को नरकगति की ओर ले जाता है। वस्तुतः इस अहंकार के मूल में पूजा-प्रतिष्ठा पाने की लालसा काम करती है। जब पूजा-प्रतिष्ठा नहीं मिलती तो क्रोध का संचार होने लगता है। इसलिए जिनवाणी के साधक के लिए यह परामर्श दिया गया है– **णो पूयणं तवसा आवहेज्जा** (सूत्रकृतांग-1/7/27)। अर्थात् तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की चाह कभी न की जाय।

दशवैकालिक सूत्र में इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है– **नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा** (दशवै. 9/4/4)। अर्थात् कीर्ति, प्रशंसा, गुणगान आदि को पाने के लिए तप न करे। उसी आगम में अन्यत्र कहा गया है– **अत्ताणं न समुक्कसे** (दशवै. 8/30) अर्थात् साधक अपने को ऊंचा या सर्वश्रेष्ठ सिद्ध न करे। उत्तराध्ययन सूत्र में तो स्पष्ट कहा गया है– **इच्छिज्ज... न तवप्पभावं** (उत्तरा. 32/104) अर्थात्, तप के प्रभाव को प्रदर्शित करने की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिए।

बौद्ध परम्परा ने भी एक स्वर से अहंकार को तपस्या का बाधक व विनाशक माना है। दीघनिकाय में कहा गया है–

लाभसक्कारसिलोकेन अत्तानुक्कंसेति परं बम्हेति।
अयं पि खो निग्रोध तपस्विनो उपक्किलेसो होति॥

(दीघनिकाय- 3/2/4)

– जो साधक लाभ, सत्कार व प्रशंसा होने पर अपने को बड़ा समझने लगता है और दूसरों को तुच्छ, हे निग्रोध! वह तपस्वी का उपक्लेश (मनोविकारमय बन्धन) है।

अहंकार रूपी सर्प चोट खाकर और भी अधिक उग्र रूप में भड़कता हुआ क्रोध रूप में परिणत हो जाता है जो अहंकार से भी अधिक भयंकर परिणाम प्रदान करता है। इसलिए बौद्ध साहित्य में क्रोध-रहित को ही 'तपस्वी' बताया गया है– **तपस्सी अक्कोधनो होति, अनुपनाही** (दीघनिकाय- 3/2/5), अर्थात् तपस्वी क्रोधरहित व वैरभावशून्य होता है।

उपर्युक्त वैचारिक पृष्ठभूमि में जैन और वैदिक– दोनों धाराओं से एक-एक कथानक यहां अवतरित किया गया है। दोनों कथानकों में एक ही तथ्य को समान भाव से कहा गया है कि तप के साथ जब तक अहंकार रहेगा तब तक तप प्रभाव-हीन रहेगा। अहं की दीवार टूटते ही जीवन-नभ पर ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और साधना सफल हो जाती है।

[१]
बाहुबली
(जैन)

जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। चक्रवर्ती भरत उन के सबसे बड़े पुत्र थे। द्वितीय पुत्र का नाम बाहुबली था। बाहुबली अपरिमित बलशाली थे।

भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा लेने से पूर्व राज्य को सौ भागों में बांट दिया और अपने सभी पुत्रों को समान उत्तराधिकार प्रदान किया। भरत को अयोध्या का राज्य मिला और बाहुबली को बहली प्रदेश का। भरत ने सम्पूर्ण भूमण्डल को एक शासन-सूत्र में पिरोने के लिए दिग्विजय अभियान प्रारंभ किया। वर्षों के अभियान के पश्चात् विश्व-विजय करके भरत अयोध्या लौटे। लेकिन अभी तक उनकी आयुधशाला में सुदर्शन चक्र प्रविष्ट न हुआ था। इसका अर्थ यह था कि अभी भी कुछ ऐसे राजा हैं जो भरत को अपना स्वामी नहीं मानते हैं।

विचार करने पर भरत का ध्यान अपने निन्यानवें भाइयों पर गया। उन्होंने अपने सभी भाइयों के पास उनकी अधीनता स्वीकार करने के प्रस्ताव भेजे। बाहुबली के अतिरिक्त शेष अठानबे भाई भरत से त्रस्त हो उठे और राज्य त्याग कर मुनि बन गए। बाहुबली न तो मुनि बने और न उन्होंने भरत को स्वामी स्वीकार किया। भरत द्वारा भेजी युद्ध की चुनौती को बाहुबली ने स्वीकार कर लिया। चक्रवर्ती भरत की विशाल सेना ने बहली के देश को घेर लिया। बाहुबली भी अपने वीर सैनिकों के साथ रणांगण में उपस्थित हुए। भयानक नरसंहार होने वाला था। कुछ बुद्धिजीवियों ने भरत और बाहुबली को सलाह दी कि दोनों भाई परस्पर बल-परीक्षण कर लें, जो जीतेगा वह स्वामी होगा और जो हारेगा वह अधीनता स्वीकार करेगा। दोनों ने इस सलाह को स्वीकार कर लिया।

ध्वनियुद्ध, दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध तथा दण्डयुद्ध– ये पांच प्रकार के युद्ध भरत और बाहुबली के मध्य लड़े गए। पांचों में ही भरत पराजित हुए। इस पराजय से भरत अपना भान भूल बैठे। उन्होंने बाहुबली का वध करने के लिए सुदर्शन चक्र छोड़ दिया। सुदर्शन चक्र

अपनों का वध नहीं करता अतः वह बाहुबली की प्रदक्षिणा करके लौट आया। लेकिन इस कृत्य ने बाहुबली के प्रचण्ड क्रोध को भड़का दिया। वे मुक्का तान कर भरत को मारने के लिए दौड़े। सर्वत्र आतंक फैल गया। देवों ने बीच बचाव करते हुए बाहुबली से कहा– "महावीर! तुच्छ राज्य के लिए आप अपने भाई का वध करने जा रहे हैं। आप जैसे प्रामाणिक पुरुष भी जब अपने बड़े भाई का आदर न करेंगे तो साधारण जनता की क्या दशा होगी।"

बाहुबली रूक गए। उन्होंने अपनी तनी हुई मुट्ठी को अपने सिर पर लेते हुए पंचमुष्टी लुंचन कर डाला और मुनि बन गए। जैसे ही वे भगवान् ऋषभदेव के पास जाने को तैयार हुए तो उन्हें विचार आया– "वहां तो मुझे पूर्वदीक्षित अपने लघुभाइयों को वन्दना करनी पड़ेगी। मैं केवलज्ञान प्राप्त करके ही प्रभु के पास जाऊंगा जिससे वन्दनादि मुझे न करने पड़ें।"

अहं की चिंगारी को हृदय में छिपाकर बाहुबली ने घोर तप शुरू कर दिया। उन्होंने प्रण कर लिया कि जब तक 'केवल ज्ञान' प्राप्त नहीं होगा तब तक अन्नजल तो दूर, वे पलक तक न खोलेंगे। महान् निश्चय करके बाहुबली खड़े हो गए। दिनों पर दिन और महीनों पर महीने अतीत हो गए लेकिन उन्हें 'केवल ज्ञान' न हुआ। उनका शरीर कृश हो गया। पक्षियों ने उनकी देह में घोंसले बना लिए। प्रस्तर मूर्ति की भांति वे अडोल खड़े थे। लेकिन भीतर सूक्ष्म अहं था। वे अपने लघु भ्राताओं के समक्ष झुकना नहीं चाहते थे। वह सूक्ष्म अहं बाहुबली और कैवल्य के मध्य महान् दीवार बन गया। प्रभु ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी नामक साध्वियों को आज्ञा प्रदान की। कहा– जाओ! बाहुबली को बोध प्रदान करो। भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए ब्राह्मी और सुन्दरी बाहुबली के पास पहुंचीं। उन्होंने बाहुबली को अहंकार के हस्ती से नीचे उतरने को कहा। बहिन साध्वियों की बात सुनकर बाहुबली चौंके। अन्ततः बहनों की प्रेरणा से उन्होंने अहं को छोड़ दिया। उन्होंने ज्योंही अहंकार को छोड़ा, उसी क्षण कैवल्य का महा आलोक उनकी आत्मा में जगमगा उठा। अहं से शून्य तप ही महान् कर्मों की निर्जरा करता है, जबकि अहं के साथ किया गया महान् तप भी साधक को साध्य से दूर रखता है। *[त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से]*

[२]

महर्षि जाजली

(वैदिक)

जाजली नाम के एक ऋषि थे। गंगा नदी के तट पर वे घोर तप करते थे। उग्र तप और अकम्प समाधि के परिणामस्वरूप उनके घुटनों तक मिट्टी चढ़ गई थी। गौरैय्या पक्षियों ने उनकी जटा-जूटों में घोंसले बना लिए थे। जंगली जानवर उनकी देह को ठूंठ समझकर अपनी देह को रगड़ते थे।

सुदीर्घ काल तक जाजली ऋषि समाधि में रहे। समाधि की सम्पूर्त्ति पर उन्होंने आंखें खोलीं। किसी से सम्वत् पूछा। वे जानना चाहते थे कि उनकी समाधि कितने काल तक अखण्ड रही। समाधि में ही उन्होंने हजारों वर्ष बिता दिए– यह जानकर उनके मन में तप का अहंकार उत्पन्न हो गया। उन्होंने विचार किया– मेरे जैसा तपस्वी आज तक न हुआ होगा। मैंने सर्वोच्च तप किया है। जाजली ऋषि को तप के मद में डूबा देखकर प्रकृति विचलित हो गई। उस क्षण एक आकाशवाणी हुई– "जाजली! तप का अहंकार मत कर! वाराणसी निवासी तुलाधार वणिक् तुमसे बड़ा तपस्वी है तब भी उसने कभी अपने तप का अहंकार नहीं किया।"

आकाशवाणी सुनकर जाजली ऋषि तुलाधार वणिक् के दर्शन करने के लिए उत्कण्ठित हो गए। मार्ग का ज्ञान प्राप्त करके वे वाराणसी की ओर चल दिए। तीर्थाटन करते हुए वे वाराणसी पहुंचे।

जाजली तुलाधार वणिक् की दुकान पर पहुंचे। उन्होंने देखा– तुलाधार बड़े ध्यान से व्यापार में तल्लीन है। उनका ध्यान समाधि के ध्यान से कम तल्लीन न था। ग्राहक को बिदायगी देकर तुलाधार ने आंखें ऊपर कीं। जाजली ऋषि को देखकर वे उठ खड़े हुए और उनका स्वागत करते हुए बोले– "पधारिए महर्षे! मैं आपके आगमन की ही प्रतीक्षा कर रहा था।"

"मेरे आगमन की? क्या आप मुझे जानते हैं?" जाजली ने आश्चर्यमिश्रित स्वर से पूछा।

"हां महर्षे!" तुलाधार बोले– "आप मेरे ही पास आए हैं यह जानने के लिए कि मैं आप से बड़ा तपस्वी कैसे हूं।"

"आपका कथन अक्षरशः सत्य है।" जाजली बोले– "मैं जानना चाहता हूं कि आप मेरे बारे में और क्या जानते हैं?"

"आप दीर्घ तपस्वी हैं, कठोर संयमी हैं। आपकी समाधि युगों तक अडोल अकंप रही। आपकी देह पर पक्षियों ने घोंसले बना लिए। आप समाधि में खोकर काल का ज्ञान तक भूल गए।" तुलाधार बोलते चले गए– "समाधि की परिसमाप्ति पर जब आपको काल का ज्ञान हुआ तो आपको अपने तप का अहंकार हो गया कि मुझसे बड़ा तपस्वी आज तक नहीं हुआ। तब आकाशवाणी ने आप के विचार को खण्डित कर दिया और आप मेरे पास चले आए। कहिए मैं आपकी क्या सेवा करूं?"

जाजली ऋषि विस्मित नेत्रों से तुलाधार वणिक् को देख रहे थे। उसके इस ज्ञान पर वे विमोहित हो उठे। बोले– "आपको यह निर्मल ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ?"

"यह तप का परिणाम है।" तुलाधार ने उत्तर दिया– "मेरे यत्किंचित् तप का ही यह परिणाम है कि मैं भूत और भविष्य में झांककर यत्किंचित् जान लेता हूं।"

"आप कौन सा तप करते हैं?" जाजली ने बढ़ते आश्चर्य से पूछा– "मैं आपके तप को ही जानने के लिए आपके पास आया हूं।"

"मैं अपने आश्रम– गृहस्थाश्रम की मर्यादाओं का पूर्ण निष्ठा से पालन करता हूं।" तुलाधार वणिक् बोले– "मैं मनसा-वाचा-कर्मणा किसी का अहित नहीं करता हूं। अपने पड़ौसियों से सदैव अच्छा व्यवहार करता हूं। पूरा तौलता हूं। उससे अर्जित धन से परिवार पालन करता हूं। किसी की धरोहर नहीं मारता हूं। हरी लकड़ी नहीं काटता हूं। कालानुकाल हरि का भजन-सुमरण करता हूं। यही मेरा तप है। इसी तप के परिणाम से मुझे यत्किंचित् ज्ञान है।"

"तो मेरा हजारों वर्षों का तप व्यर्थ गया?" जाजली ने पूछा।

"तप व्यर्थ नहीं जाता।" तुलाधार ने समाधान दिया– "तप को व्यर्थ-नष्ट करने वाला अहंकार है। महर्षे! अहंकार ही वह परम बाधा है जो साधक को कठोर तप करने पर भी ज्ञान से दूर रखती है। आप का तप निश्चित रूप से अतुल्य है। सुदीर्घ और कठोर है। लेकिन उसमें उत्पन्न अहं को तोड़िए।" तुलाधार वणिक् ने जाजली ऋषि को उपदेश दिया। उस उपदेश को सुनकर

जाजली को सत्य का ज्ञान प्राप्त हो गया। उनका अहं नष्ट हो गया। सच्चे अर्थों में वे महातपस्वी बन गए। *[द्रष्टव्य महाभारत, शांतिपर्व, 261 अध्याय]*

OOO

वैदिक परम्परा के ऋषि जाजलि और जैन परम्परा के बाहुबलि अपनी-अपनी परम्परा के अनुरूप महान् तपस्वी थे। दोनों की तपश्चर्या बेजोड़ थी– इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनकी यह विशिष्ट तपश्चर्या भी किन्हीं अंशों में अपूर्ण थी, इसलिए 'परम उपलब्धि' से वे दूर रहे। कारण था– उनमें विद्यमान अहंकार का लेश। बाहुबलि में तो वह सूक्ष्म रूप में ही था। किन्तु मनोविकार या कषाय अल्पतम भी हो, तो भी वह साधना की पूर्णता में बाधक होता ही है। ब्रह्मज्ञान या मुक्ति के बीच अहंकार एक दीवार बन कर खड़ा था। ज्यों ही उन्हें अपनी अपूर्णता का कारण समझ में आया और अहंकार पूर्णतः क्षीण हुआ, तभी उन्हें अपना लक्ष्य हस्तगत हो गया। संत तुलसीदास ने ठीक ही कहा है–

कंचन तजना सहज है, सरल त्रिया का नेह।
मान, बड़ाई, ईर्ष्या, तुलसी दुर्लभ येह॥

मान-बड़ाई, ईर्ष्या को छोड़ना अत्यन्त मुश्किल है। इनको छोड़ने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है– यह निश्चित है। उपर्युक्त दोनों कथानकों से जैन व वैदिक– इन दोनों परम्पराओं की उपर्युक्त तथ्य पर सहमति या एकस्वरता अभिव्यक्त होती है।

●

देह को नहीं, आत्मा को देखो!

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

मनुष्य-जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। यद्यपि आत्मा तो सभी प्राणियों में समान है, किन्तु यह जो मानव-देह मिला है, वह सब प्राणियों में विशिष्ट है। देह से जुड़ी ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां और मन की जैसी विशिष्ट सम्पति मानव को मिली हुई है, वह अन्य प्राणियों को नहीं। देह भौतिक है, जड़ है, विनश्वर है, किन्तु उसमें रहने वाली आत्मा चेतन है, अमूर्त है, अविनाशी और उज्ज्वल ज्योति स्वरूप व चिदानन्दस्वरूप है। भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के पुरोधा आचार्यों ने साधक को हमेशा यह दृष्टि दी कि देह व आत्मा को पूर्णतः भिन्न समझो। इन दोनों को एक या अभिन्न समझना ही 'अज्ञान' है जो सभी दुःखों का जनक है।

देह की अपेक्षा आत्मा को प्रमुखता देना, देह को संजाने-संवारने की अपेक्षा, तपस्या से कर्म-मल हटा कर आत्मा को संवारना तथा उसे निर्मल-शुद्ध-पवित्र बनाना– यही भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का मौलिक चिन्तन है। इस सम्बन्ध में जैन व वैदिक– दोनों ही विचारधाराओं की समानता व एकस्वरता निर्विवाद है। इसके समर्थन में दोनों परम्पराओं के कुछ शास्त्रीय उद्धरणों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैदिक परम्परा में देह, आत्मा और इनके स्वरूप व सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। गीता में कहा गया है– **देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत** (गीता- 2/30), अर्थात् सभी प्राणियों के देह में जो देही-देह

का अधिष्ठाता (आत्मा) है, वह सर्वदा अवध्य है। इस देह व आत्मा में पूर्णतः भिन्नता है। कहा भी है– **देहोऽहमिति या बुद्धिः, अविद्या सा प्रकीर्तिता। नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते** (अध्यात्मरामायण, 4/33), अर्थात् मैं देह हूं– यह जो बुद्धि है, वह अविद्या है, मैं देह से भिन्न चैतन्य रूप आत्मा हूं– यह बुद्धि 'विद्या' है।

आचार्य शंकर के अनुसार– **देहस्य मोक्षो नो मोक्षो, न दण्डस्य कमण्डलोः। अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः** (विवेकचूड़ामणि, 559), अर्थात् देह मुक्त नहीं होता, देह व आत्मा का बिछुड़ना भी मोक्ष नहीं है। दण्ड-कमण्डल (जैसे जड़ पदार्थों) का त्याग भी मोक्ष नहीं है। देह व आत्मा को अभिन्न समझने की जो अविद्या है, उस हृदय-ग्रन्थि का खुल जाना, अविद्या का विनष्ट हो जाना ही मोक्ष है। इसलिए देह का महत्त्व तुच्छ है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है- 'आत्म-तत्त्व'। इसीलिए वैदिक ऋषि का उद्बोधन हैः- **पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु** (ऋग्वेद- 6/9/4), अर्थात् मरणशील नश्वर शरीरों में अन्तःस्थित अविनाशी चैतन्य रूपी अमृतज्योति का साक्षात्कार करें। यह उद्बोधन उन लोगों के लिए ज्यादा उपयोगी है जो देह व आत्मा को अभिन्न समझ कर भौतिक सुख में आसक्त हो रहे हैं और आध्यात्मिक साधना से भ्रष्ट हैं।

इसी दृष्टि से उपनिषत्कार नें भी आत्म-तत्त्व को ही श्रवण-मनन-निदिध्यासन की पद्धतियों से जानने-समझने और उसके शुद्ध स्वरूप के साक्षात्कार करने की प्रेरणा दी है- **आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** (बृहदा. उप. 2/4/5)। उक्त आत्मा-सम्बन्धी तात्त्विक ज्ञान जिन्हें हो जाता है, वे सभी प्राणियों को एक समान समझते हैं, आत्मवत् समझ कर व्यवहार करते हैं। उनकी दृष्टि में कुल, जाति, वैभव आदि की दृष्टि से कोई व्यक्ति छोटा-बडा, महान् या तुच्छ नहीं होता। इसी दृष्टि से महाभारत में और अन्यत्र 'जाति' आदि का खण्डन किया गया है- **न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्** (महाभारत, 12/181/10), अर्थात् वर्णगतभेदभाव वास्तविक नहीं है, समस्त जगत् ब्रह्ममय है। महर्षि नारद के मत में **नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादिभेदः** (नारदभक्तिसूत्र, 72), अर्थात् साधकों में जाति, विद्या,रूप, कुल, वैभव आदि को लेकर छोटे-बड़े के भेद की दृष्टि नहीं होती।

जैन परम्परा में भी उपर्युक्त विचारों को सभी आचार्यों ने मान्य किया है। सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है- **अन्नो जीवो अन्नं सरीरं** (सूत्रकृ. 2/1/9), अर्थात् जीव और उसका शरीर दोनों पृथक्-पृथक् हैं। जैन आगम के व्याख्याकार निर्युक्तिकार का कहना है- **अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एवं कमबुद्धी। दुक्खपरिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीरादो** (आवश्यक-निर्युक्ति, 1547), अर्थात् शरीर और आत्मा दोनो एक दूसरे से पृथक्-पृथक् हैं- इस तात्त्विक बुद्धि से साधक दुःख-क्लेश के प्रमुख कारण 'शारीरिक ममत्व' को त्याग दे।

इस शरीर और आत्मा का सम्बन्ध उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे नाविक और नाव का होता है- **सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ। संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो** (उत्तराध्ययन सू. 23/73), अर्थात् शरीर नाव है तो जीव नाविक है। यह संसार एक सागर है, जिसे महर्षि पार कर जाते हैं। जैसे नाविक नाव को चलाता है, उसकी अकुशलता से नाव समुद्र में डूब भी सकती है और कुशलता से वह उस नाव के सहारे समुद्र को पार भी कर सकता है, उसी तरह इस देह के सम्यक् प्रयोग से साधक मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा भवसागर में डूब सकता है।

समस्त जीवों में समान रूप से चिदानन्दमय आत्मज्योति विराजमान है, उनमें कोई छोटे-बड़े का भेद नहीं है। जाति आदि की सत्ता वास्तविक नहीं है, औपाधिक व कर्मकृत है। जिनवाणी का स्पष्ट उद्घोष है- **सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइ विसेस कोवि** (उत्तरा. 12/37), अर्थात् तप की विशेषता तो साक्षात् दिखाई पड़ती है, जातिगत विशेषता (भेद) नहीं।

बौद्ध परम्परा भी उपर्युक्त समग्र विचारधारा का समर्थन करती हुई जाति-गत भेद को स्वीकार नहीं करती- **न जच्चा ब्रह्मणो होति, न जच्चा होति अब्र ह्मणो। कम्मुणा बम्हणो होति, कम्मुना होति अब्राम्हणो** (सुत्तनिपात, 35/57), अर्थात् कोई जन्म से या जाति से ब्राह्मण या अब्राह्मण नहीं होता, कर्म से ही कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण होता है।

उपर्युक्त समग्र भारतीय विचारधारा का सार या निष्कर्ष यह है कि देह, जाति, कुल आदि के आधार पर किसी को छोटा या बड़ा, श्रेष्ठ या तुच्छ समझना असंगत है। प्रत्येक प्राणी में अन्तर्निहित आत्म-ज्योति को

देखना चाहिए। अगर उसकी आत्मा की ज्योति पापकर्मों के कारण धूमिल हो गई तो उस व्यक्ति की श्रेष्ठता पर किसी दृष्टि से प्रश्नचिन्ह हो सकता है। अन्यथा नहीं।

सारांश यह है कि- दैहिक कुरूपता या सुरूपता अथवा जातीय निम्नता या उच्चता से मनुष्य की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता नहीं बंधी है। उसकी श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता उसके कर्म और उसकी आत्मा पर आधारित होती है। मनुष्य जन्म से नहीं, कर्म से महान् बनता है। वह देह से नहीं, आत्मा से सुन्दर बनता है।

यह जगत् बड़ा विचित्र है। अनेक बार यहां ब्राह्मण-कुल में चाण्डालकर्मी उत्पन्न हो जाते हैं और सर्वांग-सुन्दर देहों में अत्यन्त कुरूप आत्माएं जन्म ले लेती हैं। अनेक बार इसके विपरीत घटता है। निम्नकुल में ब्राह्मणकर्मी आत्माएं अवतरित हो जाती हैं तथा असुन्दर-कुरूप देहों में भव्यात्माएं जन्म ले लेती हैं। कर्म की पवित्रता और आत्मा का सौन्दर्य ही मानव को महामानव तथा नर को नारायण बनाता है।

[१]
हरिकेशबल मुनि
(जैन)

गंगा नदी के तट पर चाण्डालों की एक बस्ती थी। वहां बल नाम का एक चाण्डाल रहता था। उसका एक पुत्र था जिसका नाम हरिकेश था। हरिकेशबल कुरूप बालक था। कुरूपता के साथ-साथ उसका स्वभाव भी अतिक्रोधी था। परिणामतः सब उससे घृणा करते थे। कोई भी उसका मित्र न था।

एक बार चाण्डाल बस्ती में कोई उत्सव मनाया जा रहा था। पूरी चाण्डाल बस्ती एक परिवार में बदलकर आमोद-प्रमोद में व्यस्त थी। बालक और युवक खेल में तल्लीन थे। ऐसे में अकेला हरिकेशी एकान्त में खड़ा उन्हें देख रहा था। उसका हृदय भी बालकों के साथ खेलने के लिए मचल रहा था। लेकिन उसे कोई भी खेल में सम्मिलित नहीं करना चाहता था। आत्महीनता से ग्रस्त, दुःखी, रूआंसा और क्रोधित मुद्रा में हरिकेशबल

एक ओर खड़ा था। एक सर्प उधर आ निकला। वृद्ध और युवक लाठियां लेकर यह कहते हुए कि मारो इस जहरीले को, सर्प पर टूट पड़े और मार डाला। कुछ देर बाद दुमुंह जाति का एक और सर्प उधर आ गया। युवक उसे भी मारने दौड़े। लेकिन वृद्धजनों ने यह कहते हुए कि यह निर्विष है काटेगा नहीं, उसकी रक्षा की।

इस घटना ने हरिकेशबल के मन में चिन्तन का एक क्षितिज अनावृत किया। उसे सोचा– जो विषैला है वह मारा जाता है जो विषैला नहीं है, उससे सब प्रेम करते हैं। मेरी प्रकृति में विष भरा है इसीलिए मैं उपेक्षा का पात्र बना हूं। मेरी उपेक्षा का दायित्व मुझ पर है। मेरी प्रकृति पर है।

इस प्रकार के मनोमन्थन से अमृत प्रगट हुआ। वैराग्य का अमृत। कटुता को आमूल नष्ट करने का संकल्प। हरिकेशबल मुनि बन गए। उन्होंने कठोरतम तप प्रारंभ कर दिया। उनके तप से प्रभावित एक यक्ष उनकी सेवा में रहने लगा।

एक बार वाराणसी नगरी के बाहर एक उपवन में हरिकेशबल मुनि ध्यानस्थ थे। वाराणसी की राजकुमारी भद्रा उपवन में आई। उसकी दृष्टि मुनि पर पड़ी। मुनि की कुरूपता और उसके मैले-कुचैले वस्त्र देखकर राजकुमारी ने घृणा से नाक-भौं सिकोड़ लिए तथा उन पर थूक दिया। राजकुमारी की मनोदशा समझकर यक्ष ने राजपुत्री को अचेत कर दिया। उसके मुख से रक्त बहने लगा। पुत्री की दशा की सूचना पाकर राजा दौड़कर आया। उसने मुनि से क्षमा मांगी। यक्ष ने कहा– यदि तुम भद्रा का विवाह मुनि से करो तो यह ठीक हो सकती है। राजा ने स्वीकार कर लिया। यक्ष ने भद्रा को स्वस्थ कर दिया।

राजा ने अपनी पुत्री को ग्रहण करने का निवेदन मुनि से किया। हरिकेशबल मुनि ने कहा– "राजन्! मैं तो ब्रह्मचारी मुनि हूं। मैं आपकी पुत्री को ग्रहण नहीं कर सकता। यह तो मेरी भगिनी है।" यह कहकर मुनि अन्यत्र विहार कर गये।

भद्रा को परित्यक्ता माना गया। राजा ने उसका विवाह रूद्रदत्त पुरोहित के साथ कर दिया। रूद्रदत्त एवं भद्रा गृहस्थ जीवन जीने लगे।

एक बार पुनः हरिकेशबल मुनि का वाराणसी आगमन हुआ। वे तपस्वी थे। एक माह के उपवास के पारणे के लिए हरिकेशबल मुनि

संयोग से रूद्रदत्त पुरोहित की यज्ञशाला में भोजन के लिए चले गए। यज्ञशाला में प्रविष्ट हुए कुरूप मुनि को देखकर ब्राह्मण लोग कुपित हो गए। उन्होंने मुनि को गालियां दीं। धक्के देकर उन्हें वहां से भगाने लगे।

यक्ष पुनः प्रकट हुआ। उसने ब्राह्मणों को अचेत करके भूमि पर पटक दिया। उनके मुंह से खून बहने लगा। रूद्रदत्त और भद्रा को सूचना मिली। वे दौड़कर आए। उन्होंने मुनि से क्षमा मांगी। यक्ष शांत हुआ। उसने ब्राह्मणों को स्वस्थ कर दिया। भद्रा ने ब्राह्मणों को समझाया– यह मुनि परमसमताशील और तपस्वी है। मुनि से टक्कर लेना पर्वत से सिर टकराने के समान है। मुनि-महिमा जानकर सभी ने उन्हें अपना आराध्य माना। अत्याग्रह पर मुनि ने भिक्षा ली और ब्राह्मणों को उपदेश दिया।

चाण्डाल-कुल में उत्पन्न हरिकेशबल मुनि ने अपनी साधना करके परमगति को प्राप्त किया।

मूल्य देह का नहीं, देही का है। देही अर्थात् आत्मा से जो पवित्र हो गया, वही श्रेष्ठ है, ब्राह्मण है, मुनि है और मोक्षमार्ग का वरण करने वाला पूजनीय, अर्चनीय महासाधक है। कुरूपता और निम्नकुल भी आत्मलक्ष्य की प्राप्ति में बाधा नहीं बनते हैं। देहदृष्टि से ऊपर उठकर जो देही के स्वरूप को जान लेता है वह हरिकेशबल की तरह संसार-सागर से तैर जाता है। *[उत्तराध्ययन सूत्र आदि से]*

❑❑

[२]
महर्षि अष्टावक्र
(वैदिक)

महर्षि अष्टावक्र अत्यन्त कुरूप और टेढ़े-मेढ़े शरीर वाले थे। उनकी विद्वत्ता और आत्मसाधना ने उनमें परम-सौन्दर्य को जन्म दिया। उसी परम सौन्दर्य के परिणाम स्वरूप सुदूर अतीत से वर्तमान तक उनकी चर्चाएं-अर्चाएं होती रही हैं।

महर्षि उद्दालक के एक शिष्य थे– कहोड़। कहोड़ की सेवा, विनयशीलता और तत्त्वरूचि से प्रसन्न होकर महर्षि ने अपनी पुत्री सुजाता

का विवाह उससे कर दिया। कहोड़ और सुजाता सुखपूर्वक जीवन-यापन करने लगे।

एक बार कहोड़ वेदपाठ कर रहे थे। उनके उच्चारण में त्रुटि थी। सुजाता पास में बैठी थी। उसके गर्भस्थ शिशु ने अपने पिता को टोका– सही-सही वेदपाठ करो।

गर्भस्थ शिशु की बात सुनकर कहोड़ को आश्चर्य के साथ-साथ बड़ा क्रोध आया। उसने इसे अपना अपमान समझा कि एक ऐसा बालक जिसने अभी जन्म भी नहीं लिया है उसे सीख दे रहा है। उसने अपनी पत्नी सुजाता के उदर पर ठोकर मारी। परिणामतः उदरस्थ शिशु की अर्धपक्व देह आठ स्थानों से टेढ़ी-मेढ़ी हो गई।

पुत्र-जन्म के समय सुजाता ने अपने पति कहोड़ को धन लाने के लिए महाराजा जनक के दरबार में भेजा। उस समय दरबार में एक विद्वान् आया हुआ था। उसका दावा था कि वह संसार का सर्वोच्च विद्वान् है। उसे जो शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा, वह उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेगा। लेकिन उससे जो पराजित होगा, उसे कारागृह में डाला जाएगा। अनेकों विद्वान् कारागृह में बन्द हो चुके थे। कहोड़ ने भी उस विद्वान् से शास्त्रार्थ किया और पराजित हो गए। परिणामस्वरूप उन्हें भी कारागृह में डाल दिया गया।

सुजाता से उत्पन्न शिशु कुरूप और टेढ़ा-मेढ़ा था। शारीरिक संरचना के अनुसार उसे अष्टावक्र नाम से पुकारा गया। अष्टावक्र बारह वर्ष के हुए। उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके पिता कारागृह मे बन्द हैं। वे विद्वान् को परास्त करने के लिए राजा जनक के दरबार में पहुंचे। उनके पहुंचते ही वहां बैठे सैकड़ों विद्वान् उनकी आकृति देख कर जोर से हंस पड़े। हंसने वालों में महाराज जनक की हंसी भी सम्मिलित थी। जनक को भी हंसते देखकर बालक अष्टावक्र बहुत जोर से हंसे।

"तुम क्यों हंसे बालक?" जनक ने पूछा।

"पहले आप हंसे हैं राजन्!" अष्टावक्र बोले– "अतः आप बताइए कि आप क्यों हंसे?"

"तुम्हारी दैहिक संरचना देखकर।" जनक का उत्तर था– "अब तुम बताओ कि क्यों हंसे?"

"मैं गलत स्थान पर आने के कारण हंसा हूं।" अष्टावक्र ने गंभीरता से कहा– "मैं चमारों की सभा में आ गया हूं। मैंने तो इसे विद्वानों की सभा समझा था।"

"तुम सही स्थान पर आए हो।" जनक बोले– "यह चमारों की सभा नहीं है, विद्वानों की सभा ही है।"

"जो देही को न देखकर मात्र देह की पहचान करते हैं, जिनकी दृष्टि चमड़ी तक ही सीमित रह जाती है वे विद्वान् नहीं हो सकते हैं।" अष्टावक्र बोले–"चमड़े के परीक्षक तो चमार ही होते हैं, राजन्।"

अष्टावक्र की सटीक बात ने जनक पर चमत्कार किया। वे सिंहासन से उठ खड़े हुए और अष्टावक्र को ससम्मान उचित आसन प्रदान किया अष्टावक्र ने उस विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित करके अपने पिता सहित सभी विद्वानों को कारागृह से मुक्त करा दिया।

अष्टावक्र की विद्वत्ता और अत्मज्ञान का राजा जनक सहित समस्त विद्वानों ने लोहा माना। वर्तमान में भी उन द्वारा आख्यायित तत्त्वज्ञान का अक्षय-अमर कोष, अष्टावक्रगीता विद्वद्वर्ग में अतीव सम्माननीय है।

OOO

किसी भी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के देह का सर्वप्रथम दर्शन होता है। देह का रूप-रंग, आकार-प्रकार– इनकी विविधता ही दिखाई पड़ती है। इसी के आधार पर व्यक्ति-विशेष की पहचान स्थिर होती है। किन्तु यह व्यावहारिक जगत् की बात है। बौद्धिक धरातल पर व्यक्तित्व की पहचान उसके प्रशस्त या अप्रशस्त कर्मों के आधार पर होती है। व्यक्तित्व का मापन उसके शील व सदाचार के आधार पर किया जाता है। देह के आधार पर व्यक्तित्व का निर्धारण अपूर्ण है, कभी-कभी वास्तविकता से दूर भी हो जाता है। अच्छी आकृति व सुन्दर शरीर वाला भी क्रूर कर्म करे तो उसे सौम्य व सुन्दर कहना न्यायोचित नहीं,

क्योंकि लोगों के लिए तो वह क्रूर ही सिद्ध हो रहा है। आध्यात्मिक स्तर पर तो देह पूर्णतः नगण्य हो जाता है, मात्र आत्म-तत्त्व ही उपादेय होता है। किन्तु सामान्य स्तर के लोग– इस दृष्टि को अपना नहीं पाते।

क्षुद्रमानस-मानव की दृष्टि जाति और देह तक ही सीमित रह जाती है। जाति और देह की परिक्रमाओं में ही उसकी बुद्धि आबद्ध रहती हैं। उसे सत्य का रसतत्त्व उपलब्ध नहीं हो पाता। सत्यद्रष्टा के लिए जाति और देह निर्मूल्य हैं। देही अर्थात् आत्मा ही उसके लिए अमूल्य है– महामूल्यवान् है।

आत्मतत्त्व को पहचानने वाले चाण्डालकुलोत्पन्न तथा कुरूप देहवाले 'हरिकेशबल' और टेढ़े-मेढ़े शरीर वाले 'अष्टावक्र ऋषि' क्रमशः जैन और वैदिक धाराओं के दो महान् साधक हैं। उनमें अन्तर्निहित आत्मज्योति निर्धूम थी। दोनों में पर्याप्त साम्यता है जो भारतीय संस्कृति की दोनों धाराओं– जैन व वैदिक में अन्तर्निहित एकस्वरता की परिचायक है।

●

ये बलिदानी

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

सभी योनियों में मानव योनि श्रेष्ठ है। मोक्ष की साधना मानव योनि में ही संभव है। मनुष्य का शरीर यदि अपनी साधना-आत्मकल्याण के काम आए, तभी वह सार्थक शरीर होता है। लेकिन साधना करते-करते यदि साधक परहित के लिए या अपने धर्म की रक्षा के लिए अपने शरीर की बलि दे देता है तो यह मानव देह की सबसे बड़ी सार्थकता है।

*उत्साह और परहित-साधन की भावना की प्रशंसा भारतीय संस्कृति की अंगभूत सभी विचारधाराओं में मुक्तकण्ठ से की जाती रही है। वैदिक साहित्य की सूक्ति है– **नराशंसं सुधृष्टममपश्यं सुप्रथस्तमम्** (ऋग्वेद-1/18/9)। अर्थात् जनहितकारी और प्रतापी व्यक्ति को प्रसिद्धि प्राप्त करते देखा गया है। व्यक्ति जो भी जन्मता है, वह मरता है, किन्तु जनहित का कार्य करने वाला उस कीर्ति को प्राप्त करता है जिसके कारण उसका नाम सर्वदा भावी पीढियों द्वारा सादर याद किया जाता रहता है– यही उक्त वैदिक सूक्ति का तात्पर्य है।*

जन-हित की भावना के कारण उत्साही व्यक्ति अपने मार्ग में आने वाले कष्टों की परवाह नहीं करते। वैसा व्यक्ति सभी प्राणियों को आत्मवत् समझता है, इसलिए उसे दूसरों का कष्ट अपने कष्ट जैसा ही प्रतीत होता है और वह उस कष्ट को दूर करने के लिए तन-मन-धन से तत्पर हो जाता है। वाल्मीकि रामायण में कहा गया है– उत्साहवन्तः

पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु (वा. रामा. 4/1/123), अर्थात् उत्साही व्यक्ति कैसा भी कठिन कार्य हो, उसे करने में दुःखी या क्लान्त नहीं होते। उन्हें सभी प्राणियों के प्रति एकत्व भावना रखने तथा उन्हें आत्मवत् समझने वाले व्यक्ति को मोह, शोक आदि नहीं होते। उपनिषद् में भी कहा गया है- **यस्मिन् सर्वाणि भूतानि एकत्वमनुपश्यतः। तत्र को मोहः कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः** (ईशा. उप.7), अर्थात् सभी प्राणियों पर आत्मवत् दृष्टि के साथ एकत्व की दृष्टि रखने वाले को कहां मोह होगा और कहां शोक होगा?

महाभारत में ऐसे उत्साही व जनहितकारी व्यक्तियों में राजा सुदर्शन का निरूपण प्राप्त होता है। उस राजा का उद्घोष था-

प्राणा हि मम दाराश्च, यच्चान्यद् विद्यते वसु।
अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम्॥

(महाभारत, 13/2/70)

-अर्थात् मेरा यह व्रत (नियम) है कि मेरी जो कुछ धन-सम्पत्ति है, और मेरी जो स्त्रियां भी हैं, यहां तक कि जो मेरे प्राण भी हैं, वे सब अतिथियों के लिए (आवश्यकतानुरूप) देय हैं। तात्पर्य यह है कि यदि किसी अतिथि को मेरे प्राण भी चाहिएं तो मैं सहर्ष देने के लिए तैयार हूं। जनहित की दृष्टि से आत्म-बलिदान तक करने की भावना यहां नितान्त उल्लेखनीय है। महाभारत में एक कथा आती है, उसमें तो एक कबूतरी शरणागत की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने में पीछे नहीं रहती (द्रष्टव्यः महाभारत, शांति पर्व, 145-49 अध्याय)। जिस संस्कृति में पशु-पक्षी तक जनहित की भावना से आत्म-बलिदान करने में अग्रसर हों, उस भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता को विश्व में कैसे नहीं माना जाएगा? अस्तु,

जैन परम्परा में भी अनुकम्पा, दया, करुणा तथा मैत्री आदि भावनाओं के व्यावहारिक क्रियान्वयन को प्रमुखता दी गई है और तात्त्विक विवेक के साथ सभी उपायों से परहितसाधन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया गया है। जैन आचार्य शुभचन्द्र ने स्पष्ट उद्घोषणा की है-

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम्।
पश्यात्मसदृशं लोकं जीवलोकं चराचरम्॥

(ज्ञानार्णव, 8/51/523)

*अर्थात् प्राणियों को अभय-दान दो, सभी के साथ ऐसी मैत्री करो जो निन्दा की पात्र न हो। इस समस्त चर-अचर जीव-लोक को आत्मवत् देखो, समझो। वस्तुतः जैन-धर्म व दर्शन का सार ही यह है कि अपने जैसा दूसरों को देखना, जो स्वयं को सुखकर लगे वैसा ही बर्ताव दूसरों से करना, जो स्वयं को दुःखप्रद प्रतीत हो, वैसा बर्ताव दूसरों से न करना– **जं इच्छसि अप्पणतो, तं इच्छ परस्स वि** (बृहत्कल्पभाष्य, 4584)। अर्थात् जैसा व्यवहार तुम दूसरों से चाहते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरों से करो। यही जैन-शासन का सार है। आपत्ति या संकट के समय जिस प्रकार तुम चाहते हो कि तुम्हें कोई आकर उस संकट से छुड़ाए और रक्षा करे, उसी तरह तुम भी जब किसी को संकट-ग्रस्त देखो, तब उसे संकट से बचाना तुम्हारा कर्तव्य बनता है– **आवत्तीए जहा अप्पं रक्खंति, तहा अण्णोवि आवत्तीए रक्खियव्वो** (निशीथचूर्णि-5942)। दूसरों को संकट से उबारने के लिए स्वयं को संकट में डालने का यह जैन-उपदेश सचमुच सभी के लिए क्रियान्वित करना कठिन है, विरले ही इस वीरतपूर्ण कार्य को कर पाते हैं। इसी दृष्टि से आचारांग सूत्र में कहा गया है– **पणया वीरा महावीहिं** (आचारांग सूत्र-1/1/3)। अर्थात् वीर पुरुष ही इस महान् साधना-मार्ग पर चल पाते हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि **दुरनचरो मग्गो वीराणं** (आचारांग सूत्र-1/4/4) अर्थात् वीरों के इस मार्ग पर चलना कठिन है। वस्तुतः आत्मबलिदान अनन्त साहस का परिचायक है। अनन्तशौर्यसम्पन्न पुरुष ही सहर्ष अपने प्राणों को दांव पर लगा सकता है। इसीलिए कहावत है– कायर कदम-कदम पर मरता है और शूरवीर एक ही बार मरता है। उसकी एक ही बार की मृत्यु महामहोत्सव बन जाती है। उपर्युक्त सन्दर्भ में जैन व वैदिक संस्कृतियों की एकस्वरता के निदर्शक कुछ कथानक यहां प्रस्तुत हैं–*

[१]

स्कंधक मुनि

(जैन)

श्रावस्ती नगरी में राजा कनककेतु राज्य करते थे। उनकी पट्टमहिषी का नाम मलयसुन्दरी था। मलयसुन्दरी ने क्रमशः दो सन्तानों को जन्म दिया। प्रथम सन्तान- पुत्र का नाम स्कंधक कुमार रखा गया तथा

द्वितीय संतान– पुत्री का नाम सुनन्दा रखा। यथासमय राजकुमार और राजकुमारी युवा हुए। बहन के हृदय में भ्रातृप्रेम और भाई के हृदय में भगिनी प्रेम पराकाष्ठा पर था।

राजा कनककेतु ने अपनी पुत्री सुनन्दा के लिए कांचीनगर के राजा पुरुषसिंह को वर रूप में चुना। यथासमय शुभ मुहूर्त्त में पाणिग्रहण समारोह सम्पन्न हुआ। अश्रुओं के मध्य बहन भाई का विरह हुआ। सुनन्दा कांचीनगर पहुंचकर अपने पति पुरुषसिंह के साथ सुखपूर्वक रहने लगी।

वैराग्यचेता स्कंधक बहन के विरह से और अधिक विरक्त रहने लगे। श्रावस्ती नगरी में एक बार आचार्य मुनि विजयसेन पधारे। उनकी धर्म-देशना सुनकर स्कंधक कुमार का वैराग्य पुष्पित हो उठा और उन्होंने साधु बनने का निश्चय कर लिया। भाई के दीक्षा समारोह में सुनन्दा भी सम्मिलित हुई। स्कंधक मुनि बनकर विचरने लगे। क्लिष्ट संयम-साधना और कठोर तप के कारण अल्प समय में ही उनकी देह का रक्त और मांस अत्यल्प रह गया। कुछ सैनिक गुप्त रूप से मुनि स्कंधक के साथ रहते थे और उनकी कुशल-क्षेम की सूचना राजा कनककेतु को पहुंचाते थे।

मुनि तन-मन प्राण से स्वतंत्र होता है। उसका कुछ नहीं होता। न वह किसी का कुछ होता है, न कोई उसका कुछ। बस्ती और जंगल, धूप और छांव तथा क्षुधा और तृप्ति उसके लिए समान होते हैं। समानता का यही साम्यभाव उसके भीतर के मुनित्व का जनक होता है।

ज्येष्ठ मास की दोपहर! कांचीनगर का राजमार्ग था तवे सा तप्त। उस पर बिखरे सिकता-कण जलते हुए कोयले के समान जल रहे थे। ऐसे में कृशकाय एक मुनि नग्न पैरों से अनन्त समता रस में डूबा राजमार्ग पर बढ़ रहा था। सहसा महल के झरोखे से रानी सुनन्दा की दृष्टि मुनि पर पड़ी। इस रूप में वह अपने भाई को पहचान न पाई। उसे विचार आया कि उसका भाई भी ऐसे ही कहीं विहार कर रहा होगा। कितनी कठिन है श्रमण-साधना! सुनन्दा विह्वल हो उठी। उसकी आंखों में आंसू आ गए। पुरुषसिंह ने रानी की आंखों में आंसू देखे और राजमार्ग पर बढ़ते मुनि को देखा। पुरुष-हृदय शंकाग्रस्त हो उठा। एकाएक उसके मन ने यह निर्णय कर लिया कि वह मुनि रानी का कोई पुराना प्रेमी है।

पुरुषसिंह महल से नीचे उतरा। उसने वधिकों को आदेश दिया कि सामने जा रहे मुनि को पकड़कर उसकी चमड़ी खींच ली जाए।

राजाज्ञा को क्रियान्विति मिली। वधिकों ने मुनि का अनुगमन किया और उन्हें बन्धनों में जकड़ लिया। इस क्षण भी मुनि सौम्य और शान्त थे। उन्होंने न तो वधिकों का विरोध किया और न ही यह प्रश्न किया कि उनका अपराध क्या है। मुनि जानते थे कि ऐसे क्षण मुनिचर्या के अभिन्न अंग होते हैं।

वधिक मुनि को वधस्थल पर ले गए। मृत्यु परिषह को सम्मुख देखकर भी मुनि मौन और सम थे। उन्होंने संलेखना संथारा धारण कर लिया।

वधिकों की तलवारें मुनि की देह की चमड़ी छीलने लगीं। आत्मानन्द में लीन मुनि के मुख से एक भी आह न फूटी। वधिक कांप उठे। हत्यारों की भी आंखें बह चलीं। समय मौन साधकर एक महासाधक की महासाधना का महासंग्राम देख रहा था। रक्त देह से निचुड़ गया। मौन-शान्त-आत्मलीन मुनि की आत्मा ने देह छोड़ दी।

पश्चात् सभी को सत्य घटना ज्ञात हुई। सुनन्दा का प्राण-प्राण हाहाकार से भर गया। राजा पुरुषसिंह अनन्त पश्चात्ताप का शिकार बना।

एक धर्मप्राण मुनि के आत्मोत्सर्ग का यह कथानक हजार-हजार वर्ष के पश्चात् भी नित नूतन है। बलिदान कभी पुराना नहीं पड़ सकता। चाहे वह देश के लिए हो या धर्म के लिए। परमार्थ की सिद्धि के हेतु महामुनि स्कंधक का यह बलिदान सदा वन्द्य है। स्मरणीय है। अर्चनीय है। *[उत्तराध्ययन-टीका से]*

□□

[२]
महर्षि दधीचि
(वैदिक)

दधीचि ऋषि ने निःस्वार्थ भाव से देवों की रक्षा के लिए आत्मबलिदान दिया था। उन्होंने अपनी अस्थियों को देवराज इन्द्र को दान में दिया था। स्वपीड़ा को भुलाकर परार्थ के लिए आत्मबलिदान की यह गाथा भी रोमाञ्चकारी है।

गर्वोन्मत्त इन्द्र ने एक बार देवों के गुरु बृहस्पति का अपमान कर दिया। देवगुरु रूठ कर अन्यत्र चले गए। देवकार्यों में बाधाएं आने

लगीं। मार्गद्रष्टा ब्राह्मण के अभाव में अवसर देख कर दैत्यों ने देवों पर आक्रमण कर दिया। देवगण ब्रह्मा के पास गए तो उन्होंने सलाह दी कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को अपना पुरोहित बना लो। विश्वरूप के दिशानिर्देशन में इन्द्र की दैत्यों पर विजय हुई।

दैत्यों पर विजय के उपलक्ष्य में इन्द्र ने एक बड़े यज्ञ का अनुष्ठान किया। इस यज्ञ के आचार्य विश्वरूप ही थे। विश्वरूप जब यज्ञ में आहुतियां देते थे तो चुपचाप आंख बचाकर दैत्यों की आहुतियां भी दे दिया करते थे। यह रहस्य इन्द्र को ज्ञात हो गया। उसने विश्व रूप के तीनों सिर काट दिए। उनके तीन सिर थे। विश्वरूप के पिता त्वष्टा इन्द्र पर बहुत रूष्ट हुए। उन्होंने एक यज्ञ करके वृत्रासुर को पैदा किया। दुर्जेय असुर वृत्र ने स्वर्ग पर आक्रमण कर दिया और इन्द्र को ललकारा। इन्द्र वृत्रासुर के समक्ष ठहर नहीं पाया और भयभीत होकर ब्रह्मा के पास पहुंचा। उसने ब्रह्मा से स्वर्ग-रक्षा और आत्मरक्षा के लिए निवेदन किया।

ब्रह्मा ने कहा– '' देवराज! वृत्रासुर को मारने की एक ही युक्ति है। महर्षि दधीचि यदि अपनी हड्डियां तुम्हें दे दें तो उन हड्डियों का वज्र बनाओ। उस अस्थि वज्र से वृत्रासुर मारा जा सकता है।''

इन्द्र महर्षि दधीचि के पास पहुंचे और उन्हें अपनी विवशता दर्शाते हुए उनकी हड्डियों का दान मांगा। जीते जी अपनी हड्डियों का भला कौन दान दे सकता है? परन्तु दधीचि ने परहित के लिए अपनी देह का दान करना स्वीकार कर लिया। समस्त देवों एवं इन्द्र की प्रार्थना पर दधीचि मुनि का कथन था–

करोमि यद् वो हितमद्य देवाः।
स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजनामि॥

(महाभारत, 3/100/21)

अर्थात् हे देवों! चूंकि आप सभी के कल्याण व हित की यह बात है, इसलिए मैं अपने देह को भी स्वयं विसर्जित कर रहा हूं।

इन्द्र की प्रार्थना पर दधीचि ने अपनी देह को नमक में गला कर उसकी त्वचा अलग करके हड्डियां इन्द्र को दे दीं। उन से बने वज्र से वृत्रासुर मारा गया। महर्षि दधीचि इस महान् कार्य के लिए आज भी अमर हैं। *[द्रष्टव्यः महाभारत, वनपर्व, 100 अध्याय]* ○○○

परार्थ और परमार्थ आत्मबलिदान के दो ध्रुव ध्येय हैं। परार्थी और परमार्थी साधक हंसते-हंसते प्राणों का बलिदान कर देते हैं। उन्हें प्राणों से प्रिय प्रण और देह से प्रिय धर्म होता है।

महर्षि दधीचि ने राक्षसों के विनाश के लिए और देवताओं की रक्षा के लिए अपनी हड्डियों तक का दान कर दिया था। उन हड्डियों से इन्द्र ने वज्र बनाकर वृत्रासुर का वध किया था। इसी तरह स्कन्दक मुनि ने अपने धर्म के पालन के लिए सहज-शान्त स्थिर रहते हुए प्राणोत्सर्ग कर दिया था।

वैदिक पुराण साहित्य में उद्धृत महर्षि दधीचि का कथानक तथा जैन साहित्य से उद्धृत स्कंधक मुनि का कथानक– इन दोनों में शरीरदान अथवा आत्मबलिदान के निमित्त या प्रेरक कारण यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं फिर भी इस भाव में साम्य है कि उन्हें अपनी देह के प्रति किंचित् भी आसक्ति नहीं थी। उन्होंने देह को परार्थ और परमार्थ का साधन मात्र माना था। अतः उन्होंने देह और देही को भिन्न समझा हीं नहीं, अनुभव भी किया और हंसते-हंसते आत्मबलिदान कर दिया।

●

प्रायश्चित्त

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

राग बन्धन है, विराग मुक्ति है। राग संसार से जोड़ता है और विराग संसार को तोड़ता है। राग-रंग में रंगी आंख परमात्मा की ओर से मुंद जाती है जबकि रागातीत-रागरंग से असम्पृक्त आंख संसार की ओर से मुंद जाती है। राग और विराग– ये दो विपरीत दिशाओं के दो छोर हैं।

राग का अर्थ है– पदार्थ में आसक्ति और विराग का अर्थ है पदार्थ में अनासक्ति। रागासक्त चित्त नश्वर-परिवर्तनशील पदार्थ में आनन्द खोजता है, जबकि विरागी चित्त परमात्मा की खोज में परमानन्द अनुभव करता है। रागासक्त चित्त की खोज सदैव अधूरी रहती है और उसे पुनः पुनः पश्चात्ताप की ज्वाला में जलना पड़ता है क्योंकि सुखाभास को सुख स्वीकार कर लेना अन्ततः कस्तूरी के मृग की बाह्य दौड़ ही सिद्ध होती है। विरागी चित्त की खोज का परमात्मा पर अन्त होता है। उसे परमानन्द उपलब्ध होता है।

*भारतीय संस्कृति की दोनों (जैन व वैदिक) विचारधाराएं इस तथ्य पर सहमत है कि राग से व्यक्ति संसार में बंधता है और वैराग्य व वीतरागता से मुक्ति प्राप्त करता है। वैदिक परम्परा के आचार्य शंकर ने कहा है– **मोक्षस्य हेतुः प्रथमं निगद्यते, वैराग्यमत्यन्तम- नित्यवस्तुषु** (विवेकचूड़ामणि-71)। अर्थात् अत्यन्त नश्वर वस्तुओं के प्रति वैराग्य ही मोक्ष का प्रथम कारण है। जैन परम्परा में भी कहा गया है– **रत्तो बंधदि***

कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो (समयसार, 150), अर्थात् रागयुक्त व्यक्ति कर्म बांधता है, जब कि वैराग्य या वीतरागता से मुक्त होता है। जैन आगम उत्तराध्ययन में कहा गया है– **भोगी भमइ संसारे, अभोगी नावलिप्पई** (उत्तरा. सू. 25/41), अथवा- **ण लिप्पई तेण मुणी विरागो** (उत्तरा. 32/78)। अर्थात् भोगासक्त व्यक्ति संसार में ही भ्रमण करता रहता है किन्तु भोग से विरत-विरक्त व्यक्ति कर्मों से लिप्त नहीं होता। बौद्ध परम्परा में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है– **विरागा विमुच्चति** (मज्झिमनिकाय, 3/20), अर्थात् विरक्ति से मुक्ति मिलती है।

किन्तु जो व्यक्ति संसारिक राग में आकण्ठ निमग्न हो रहा होता है, वह वीतरागता या वैराग्य की ओर एकाएक अग्रसर हो– इसकी संभावना प्रायः नहीं होती। भारतीय मनीषियों ने इस पर चिन्तन करते हुए यह विचार अभिव्यक्त किया है कि जब रागी-भोगासक्त व्यक्ति को किसी निमित्त से यह विवेक जागृत हो जाय कि रागासक्ति से होने वाले पाप आदि कार्य अवश्यमेव गर्हित हैं, प्रतिष्ठा को, कीर्ति को नष्ट करने वाले हैं। इस स्थिति में व्यक्ति अपने पूर्वकृत कर्मों पर अनुताप करता है, निर्वेद-सम्पन्न होता है। इस अनुताप या निर्वेद को 'पश्चात्ताप' नाम से भी अभिहित किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि–

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हिते।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते॥

(महाभारत-13/112/5)

– जैसे-जैसे दुष्कृत के प्रति निन्दा का भाव पैदा होता है, वैसे-वैसे उसका शरीर भी पाप करने से मुक्त (विरत) हो जाता है। और, **महापातकवर्जं हि प्रायश्चित्तं विधीयते** (महाभारत- 12/35/43), अर्थात् प्रायश्चित्त की स्थिति महापातक से रहित हो जाती है।

उपर्युक्त निरूपण का आशय यह है कि वैराग्य से पूर्व निर्वेद, अनुताप या पश्चात्ताप की स्थिति होती है। बौद्ध परम्परा में इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है– **निब्बिंदं विरज्जति विरागा, विरागा विमुच्चतीति** (मज्झिमनिकाय, 1/32), अर्थात् निर्वेद से वैराग्य और वैराग्य से मुक्ति प्राप्त होती है।

जैन परम्परा भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करती है। जैन

*आगम में कहा गया है– **णिव्वेएण... सव्वविसएसु विरज्जइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्नेव य हवइ** (उत्तरा. सू. 29/3), अर्थात् निर्वेद के कारण व्यक्ति विरक्त होता है और विरक्त होकर मुक्ति-मार्ग को अंगीकार करता है। निर्वेद या प्रायश्चित्त की स्थिति में व्यक्ति अपने अपराधों पर पछताता है, पुनः उन्हें न करने हेतु दृढप्रतिज्ञ होता है। इससे उसकी आत्मा स्वच्छ या शुद्ध होती है। आचार्य अकलंक के अनुसार प्रायश्चित्त शब्द की निरुक्ति ही है– प्रायः यानी पाप, चित्त यानी शुद्धि, अर्थात् जिस चिन्तन-प्रक्रिया से अपराधों की शुद्धि हो, वह 'प्रायश्चित्त' होता है (द्रष्टव्यः राजवार्तिक, 9/22/1) निर्युक्तिकार का भी कथन है– **पावं छिंदंति जम्हा पायाच्छित्तं ति भण्णते तेण** (आवश्यक निर्युक्ति, 1508)- अर्थात् पाप का छेदन करने के कारण 'प्रायश्चित्त' यह नामकरण किया गया है।*

भारतीय इतिहास में अनेकानेक ऐसे साधक हो गए हैं जो सांसारिक भोगों में आकण्ठ डूबे हुए थे, किन्तु ज्यों ही उन्हें यह भान हुआ कि कामभोगों में पड़कर किये गए कार्य पाप हैं, निन्दनीय हैं, दुर्गति में ढकेलने वाले हैं, तभी विरक्ति या वैराग्य उनमें प्रस्फुटित हो गया और वे 'प्रायश्चित्त' कर वीतरागता के मार्ग पर अग्रसर हो गए और उन्होंने अपना आत्मकल्याण साधा।

जैन व वैदिक परम्पराओं से एक-एक कथानक का चयन कर यहां उन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनमें साधकों ने प्रायश्चित्त कर सन्मार्ग-भ्रष्ट होने से स्वयं को बचाया और आत्म-कल्याण की उपलब्धि की। 'पश्चात्ताप' की महनीय भूमिका को ये कथानक स्पष्ट रूप से रेखांकित करने वाले हैं।

[१]
अरणक मुनि
(जैन)

तगरा नगरी के नगरसेठ का नाम दत्त था। उनकी पत्नी का नाम था भद्रा। भद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्मोत्सव पर अपूर्व खुशियां मनाई गईं। नामकरण के दिन दत्त सेठ ने अपने पुत्र का नाम अरणक कुमार रखा।

माता-पिता के लाड़-प्यार में अरणक युवा हुआ। वह बहुत सुकुमार था। धूप की तपिश और सर्दी की ठिठुरन तक का उसने कभी अनुभव नहीं किया था। कष्ट क्या होता है– वह नहीं जानता था।

जैन मुनि मित्राचार्य ग्रामानुग्राम धर्म का संदेश देते हुए एक बार तगरा नगरी में पधारे। मुनि-वन्दन- दर्शन-प्रवचन-श्रवण के लिए पूरी नगरी उमड़ पड़ी। दत्त, भद्रा और अरणक भी मुनि के पास गए। वन्दन कर बैठे। मुनि ने देशना दी। देशना ने उन तीनों की आत्मा को छू लिया। लौकिक सम्पन्नता को ठुकरा कर दत्त-भद्रा तथा अरणक अलौकिक/आध्यात्मिक सम्पन्नता को पाने के लिए दीक्षित हो गए।

पिता और पुत्र, दत्त मुनि तथा अरणक मुनि साथ-साथ विचरण करते थे। पिता का ममत्व भाव पुत्र पर पूर्ववत् बना रहा। दत्त अरणक का पूरा ध्यान रखते। स्वयं गोचरी लाते। मुनिचर्या के अन्य छोटे-बड़े कार्य भी वे स्वयं करते। मुनि बनकर भी अरणक की सुकुमारता ज्यों की त्यों रही। इसीलिए अरणक दीक्षित होकर भी श्रमणत्व को आत्मसात् न कर सके। श्रम के अभाव में उनमें मुनि के लिए अपरिहार्य– कष्टसहिष्णुता को विकसित नहीं होने दिया।

समय प्रत्येक मर्ज़ की दवा है। एक दिन दत्त मुनि का देहान्त हो गया। अरणक को श्रमण चर्या का समस्त श्रम स्वयं करना पड़ा। जलती दोपहर में अरणक भिक्षा के लिए निकले। गर्मी ने उनका हाल बेहाल कर दिया। बदन पसीने से तरबतर हो गया। अत्यन्त सुकुमार उस युवक मुनि को चलना कठिन हो गया।

अरणक एक भवन की छाया में खड़े होकर पसीना सुखाने लगे। उस भवन की स्वामिनी पति-वियोग से व्यथित थी। सहसा उसकी दृष्टि मुनि पर पड़ी। मुनि की सुकुमारता पर वह विमुग्ध हो उठी। उसने एक दासी को भेजकर मुनि को बुला लिया।

गृहस्वामिनी महिला ने अत्यन्त प्रीति-पूर्ण वचनों से मुनि का स्वागत किया। कामाकुल हाव-भाव दर्शाते हुए वह बोली– ''मुने! इस भवन को अपकी चरण-धूलि ने पावन कर दिया है। आप यहां रहिए। आपको यहां कोई कष्ट न होगा।''

"लेकिन मुनि-मर्यादाएं मुझे ऐसा करने की अनुमति नहीं देती।" अरणक ने कहा।

"मुनि-मर्यादाएं!" महिला ने कहा– "युवक! मुनित्व की ज्वाला में इस सुकोमल देह को यों जला देना समझदारी नहीं है। छोड़िए इस जंजाल को। मेरा भवन और मेरा हृदय आपके श्रीचरणों में अर्पित है।"

दुर्बल मन कष्ट के क्षण में तनिक-सा प्रलोभन पाकर फिसल जाता है। अरणक फिसल गए। वे गृहवासी हो गए। स्वीकृत नियम-मर्यादाओं को विस्मृत करके संसार में विलीन हो गए।

अरणक की माता साध्वी भद्रा मुनि-संघ में अपने पुत्र को न पाकर अधीर हो उठी। उसकी अधीरता इस रूप में बढ़ी कि वह यह भी भूल गई कि वह पंच-महाव्रतधारिणी साध्वी है। वह अपने पुत्र को खोजने के लिए चल दी।

"अरणक! अरणक!" माता भद्रा की पुकार में क्रन्दन था। गली-गली में पागलों की भांति अपने पुत्र को पुकारती हुई वह घूम रही थी। दो दिन इसी दशा में व्यतीत हो गए। तृतीय दिन संयोगवश भद्रा उसी भवन के सामने से निकली। तब भी वह अपने पुत्र को पुकार रही थी।

अरणक ने सुना। मातृस्वर पहचाना। ममता-भरी पुकार में छिपे क्रन्दन ने अरणक के खोए विश्वास को पुनर्जाग्रत कर दिया। महिला के प्रति रागयुक्त बन्धन को एक ही झटके में झटक कर वे उस महल से नीचे उतर आए। मातृचरणों में गिरकर क्षमा मांगते हुए बोले–

"अब राग की विराग पर पुनः जय नहीं होगी। मां! राग की मूल सुकुमारता का आज से मैं सदा-सर्वदा के लिए त्याग करता हूं। तुम लौट चलो।"

माता से पुत्र प्रायश्चित्त करके शुद्ध हुए। मुनि-संघ में सम्मिलित हुए। सुकुमारता के त्याग के लिए अरणक मुनि ने स्वयं को सूर्य की आतापना में झोंक दिया। नीचे तप्त शिलायें और ऊपर जलती धूप। अतिताप से जैसे मोम पिघल जाता है ऐसे ही अरणक मुनि की देह जल उठी। पर वे मुनि शान्त रहे। देह का मोह उनके मन में जागृत नहीं हुआ। अन्त में देह विसर्जन कर मुनि ने परमगति को प्राप्त किया। *[उत्तराध्ययन-टीका से]*

❑❑

[२]
बिल्वमंगल
(वैदिक)

रामदास नामक एक भक्त ब्राह्मण था। उसके एक पुत्र था, जिसका नाम बिल्वमंगल था। कालान्तर में रामदास का देहान्त हो गया। पिता की अपार सम्पत्ति का स्वामित्व बिल्वमंगल को प्राप्त हुआ। कुछ व्यसनी युवक बिल्वमंगल के मित्र बन गए। संगदोष ने बिल्वमंगल के जीवन में अनेक बुराइयों को उत्पन्न कर दिया।

एक दिन गांव में चिन्तामणि नामक एक वेश्या का नाच था। अपने मित्रों के साथ बिल्वमंगल भी वेश्या का नृत्य देखने गया। उसका चित्त वेश्या में अनुरक्त हो गया।

चिन्तामणि गांव से दूर बरसाती नदी के पार बने अपने सुन्दर भवन में रहती थी। बिल्वमंगल प्रतिदिन उसके पास जाने लगा। बिल्वमंगल रात-दिन चिन्तामणि की चिन्ता में अनुरक्त रहने लगा।

एक दिन बिल्वमंगल के पिता का श्राद्ध था। बिल्वमंगल का मन श्राद्ध-कर्म के स्थान पर चिन्तामणि में खोया था। सगे-सम्बन्धियों के समझाने पर उसने ज्यों-त्यों पिता का श्राद्ध-कर्म निपटाया। तब तक रात्री घिर आई थी। आकाश में बादल घिर रहे थे। बिजलियां चमक रही थीं। कुछ ही देर बाद मूसलाधार बरसात होने लगी। लेकिन बिल्वमंगल का मन चिन्तामणि के पास जाने को आतुर था। भयावह मौसम की परवाह किए बिना वह वेश्या से मिलने चल दिया। नदी के तट पर पहुंचा। नदी किनारे तोड़कर बह रही थी। जीवन की चिन्ता किए बिना उसने नदी में छलांग लगा दी। बहते हुए एक मुर्दे को उसने काष्ठ-खण्ड समझा और उस पर सवार होकर नदी पार की। डगमगाता-डोलता हुआ, वह वेश्या के भवन के पास पहुंचा। उसने चिन्तामणि को पुकारा। आंधी और बरसात के कारण उसकी पुकार वेश्या तक नहीं पहुंची। बिल्वमंगल बहुत देर तक पुकारता रहा। जब कोई प्रत्युत्तर न मिला तो उसने इधर-उधर देखा। उसने देखा भवन की दीवार से एक रस्सी लटक रही है। उसके सहारे वह भवन पर चढ़ गया। वेश्या उसे ऐसे

मौसम और इस दशा में देखकर दंग रह गई। तब तक बरसात रूक चुकी थी। वेश्या ने दीपक जलाकर देखा– दीवार पर विषधर सर्प लटका हुआ था। उसका मन दुःखी हो गया। उसने बिल्वमंगल को डांटते हुए कहा– "बिल्वमंगल! जिस हाड़-मांस की देह पर तू इतना दीवाना हो रहा है, उसका अन्तिम परिणाम डरावना बुढ़ापा और फिर मृत्यु है। ऐसी दीवानगी यदि श्रीकृष्ण में होती तो तुम्हारा उद्धार हो जाता। धिक्कार है, तुम्हारे इस प्रेम पर।"

उपयुक्त समय की फटकार ने बिल्वमंगल के हृदय को बदल दिया। उसी क्षण वह लौट गया। श्रीकृष्ण को पुकारता हुआ वह वन-वन गांव-गांव भटकने लगा। उसने सर्वस्व को भुला दिया। केवल श्रीकृष्ण की याद ही उसके हृदय में शेष थी। एक दिन एक कुएं पर पानी खींचती हुई एक सुन्दर महिला पर बिल्वमंगल की दृष्टि पड़ी। उस महिला के रूप ने एक बार पुनः बिल्वमंगल के कदम लड़खड़ा दिए। दीवाना बना वह उसके पीछे-पीछे चल दिया। वह महिला एक घर में प्रवेश कर गई। बिल्वमंगल गृह-द्वार पर बैठ गया। कुछ देर बाद गृहस्वामी बाहर आया। म्लानमुख ब्राह्मण को अपने द्वार पर देखकर उसने उसके वहां बैठने का कारण पूछा। बिल्वमंगल ने निष्कपट हृदय से कहा–"मैं तुम्हारी पत्नी के रूप पर मोहित होकर यहां तक चला आया हूं। मैं एक बार उसका मुखदर्शन करना चाहता हूं।"

गृहस्वामी ब्राह्मण युवक की सरलता से प्रभावित हुआ। उसने विचार किया– यदि मेरी पत्नी के मुखदर्शनमात्र से इसे संतोष है, तो इसमें कोई हर्ज नहीं। वह अपनी पत्नी को बुलाने घर के भीतर चला गया।

बिल्वमंगल के पतन का यह चरम था। सहसा उसका विवेक जगा। उसने अपने को धिक्कारा। उसने रूप पर आसक्त अपनी आंखों को दोषी माना। पास में बेल से उसने दो तीक्ष्ण शूल तोड़े और अपनी आंखों में भोंक लिए। लहू की धार बह चली। लेकिन बिल्वमंगल को हार्दिक प्रसन्नता हुई। वह उठा और पुनः भगवान् की खोज में चल दिया।

अनुश्रुति है कि बिल्वमंगल ने अपना-मन-वचन शरीर श्रीकृष्ण की भक्ति में लगा दिया। कालान्तर में श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए और उनकी नेत्र-ज्योति लौटाई। जीवन भर भगवद्-भक्ति में बिताकर, बिल्वमंगल ने अपने उत्थान-पतन के घटनाक्रमों से पूर्ण जीवन का कल्याण किया।

जीवन की राह सरल हो, यह आवश्यक नहीं है। अनेक बार वह टेढी-मेढी, ऊंची-नीची भी होती है। पूर्व जन्म के पापोदय के कारण, जीवन में ऐसी स्थिति आ जाती है जब व्यक्ति भटक जाता है। भटक जाना ही जीवन की राह का टेढापन है। जब व्यक्ति भटक जाता है तो उसकी उन्नति का द्वार बन्द हो जाता है। किसी के द्वारा प्रतिबोध मिलने पर भटका हुआ व्यक्ति पुनः सन्मार्ग पर आ जाता है। प्रायश्चित्त कर वह अपने को शुद्ध बना लेता है। तब जीवन की राह सरल हो जाती है और वह व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

अरणक और बिल्वमंगल के कथानकों में यही सत्य प्रगट हुआ है। अरणक का कथानक जैन कथा साहित्य से उद्धृत है जबकि बिल्वमंगल का कथानक वैदिक कथा साहित्य से चुना गया है।

आत्मज्ञान के लक्ष्यी अरणक मुनि एक महिला के आमंत्रण पर अपने लक्ष्य को विस्मृत करके राग-संसार में शान्ति खोजने के लिए प्रविष्ट हो जाते हैं। लेकिन मातृ-पुकार उनके वैराग्य के लिए पुनः संजीवनी सिद्ध होती है और वे राग के बन्धनों को झटक कर पुनः विराग के मग के राही हो जाते हैं। ब्राह्मणपुत्र बिल्वमंगल अपनी प्रियतमा की सामयिक सीख से प्रतिबुद्ध बनकर भगवान् की भक्ति के मार्ग पर निकलते हैं। लेकिन पुनः एक महिला के रूप पर रागासक्त होकर उसका अनुगमन करते हैं। उनका विवेक उन्हें झकझोरता है तो वे राग को उत्पन्न करने वाली अपनी आंखों को फोड़ लेते हैं तथा भगवान् को परमाधार बनाकर उनकी भक्ति में शेष जीवन को अतीत करते हैं।

अरणक और बिल्वमंगल- दोनों चरित्रों में उत्थान-पतन और पुनरुत्थान का एक समान दर्शन निहित है जो दो परम्पराओं की एकात्मकता का परिचायक है।

●

भारत की सन्नारियां

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

'समर्पण' का अर्थ है– किसी के प्रति अनन्य आस्था व श्रद्धा भाव रखकर, उससे जुड़ना। समर्पण व्यावहारिक जगत् में भी उपयोगी है और अध्यात्मिक क्षेत्र में भी। अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पित होकर ही कोई व्यक्ति उस लक्ष्य को पाने में सफल हो पाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भक्ति-मार्ग के साधक को प्रभु व आराध्य के प्रति पूर्णतः समर्पित होना पड़ता है। भगवद्गीता में भक्ति-मार्ग के प्रसंग में श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है–

ये तु सर्वाणि कर्माणि, मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन, मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता, मृत्युसंसार-सागरात्।
कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता–12/6-7)

–जो लोग समस्त कार्यों को मेरे प्रति समर्पित कर, अनन्य भाव से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मैं उक्त लोगों को मृत्यु-संसार रूपी सागर (में डूबने) से बचाता हूं। हे अर्जुन! मैं दावे से कहता हूं कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

भक्त और भगवान् के इस अनन्य आस्था भरे सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए भागवत में भगवान ने कहा है–

अहं भक्तपराधीनो, ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(भागवतपुराण, 9/4/63)

– भक्त सन्तों का अधिकार मेरे हृदय पर हो जाता है। मैं भक्तजनों का प्रेम-पात्र होता हुआ, उन भक्तों के अधीन व अस्वतंत्र जैसा हो जाता हूं।

भगवान् की भक्त-पराधीनता का कारण भक्तों के समर्पण भाव में ही निहित है। भक्त भगवान् के सिवा किसी अन्य की महत्ता को नहीं स्वीकारता, उसके लिए भगवान् ही 'एक भरोसो एकबल, एक आस, विश्वास' हैं।

जैन परम्परा में चूंकि परमेश्वर पूर्णतः 'वीतराग' होता है, इसलिए भक्त के पराधीन होना और उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व वहन करना ईश्वर के लिए सम्भव नहीं माना जाता। अतः वहां यह समर्पण प्रारम्भिक स्थिति में आज्ञा-उपदेश के प्रति होता है। जैन आगम साहित्य में एक स्थल पर इस समर्पण का प्रारूप इस प्रकार व्यक्त किया गया है–

चएज्ज देहं न हु धम्मसासणं।

(दशवैकालिक-चूर्णि-1/17)

अर्थात् देह भले ही छूट जाए, किन्तु धर्म-शासन के प्रति आस्था कभी न हटे। जैन भक्त की दृष्टि में– **न वीतरागात् परमस्ति दैवतम्** (हेमचन्द्र-कृत अयोगव्यवच्छेदिका, 28)होता है अर्थात् 'वीतराग' परमेश्वर से बढ कर कोई देवता या ईश्वर नहीं होता। यह उसकी अनन्य निष्ठा है। इसके कारण, परमेश्वर तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म के प्रति और उसकी आज्ञा के प्रति वह पूर्णतया समर्पित रहता है और उसी को अपनी जीवन-चर्या में क्रियात्मक रूप देना चाहता है।

इस समर्पण-भाव को यदि हम देखना चाहें तो भारतीय सन्नारियों के जीवन-व्यवहार में देख सकते हैं।

'समर्पण' नारी का अद्भुत और अद्वितीय अलंकार होता है। अधिकांशतया उसका यह समर्पण अपने पति के प्रति होता है। वह पति के चरणों को ईश्वर के चरण मानकर स्वयं को अर्पित कर देती है। इसके लिए उसे भयानक कष्ट भी सहने पड़ें तो भी वह प्रसन्नचित्त से सहन कर लेती है।

किन्तु जब इन सन्नारियों में से कुछ को ईश्वरीय भक्ति की लगन लग जाए तो वह पूज्य भक्तों के लिए भी आदर्श बन जाती है। वे अपने आराध्य देव व धर्म के प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाती हैं और कोई भी प्रलोभन या तर्जना उन्हें अपने ध्येय से विमुख नहीं कर पाते। घोर से घोरतम संकट भी उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर पाते। ऐसी भक्त सन्नारियों के नाम इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित हो जाते हैं।

जैन और वैदिक परम्परा से लिए गए दो कथानक यहां प्रस्तुत हैं जिनमें आध्यात्मिक समर्पण करने वाली सन्नारियों के जीवन-चरित निबद्ध हैं। जैन परम्परा की सोमा और वैदिक परम्परा की मीरा कृष्ण-भक्ति में समर्पित है तो जैन परम्परा की सोमा भी अपने धर्म की रक्षा हेतु पूर्णतः समर्पित है। देखिए, विष को अमृत में तथा विषधर सर्प को भी फूलमाला में रूपायित करने वाली दो महान् सन्नारियों के संक्षिप्त जीवन-दर्शन! घोर संकट में भी उनकी अदम्य कष्टसहिष्णुता और अकम्प अडोलता को भी हृदयंगम करें।

[१]
सोमा सती
(जैन)

प्राचीन समय की बात है। किसी नगर में धनगुप्त नाम के एक प्रसिद्ध श्रेष्ठी निवास करते थे। धनगुप्त की एक पुत्री थी। उस का नाम श्रीमती था। प्रेम से सभी उसे सोमा कहते थे। सोमा अद्वितीय रूपवती थी। रूप के साथ-साथ वह नारीसुलभ समस्त गुणों का कोष थी।

धनगुप्त सेठ श्रमणोपासक थे। घर में जिनत्व का रंग था। इसी जिनत्व के परिवेश में सोमा ने आंख खोली, पली और बढ़ी। महामंत्र नवकार और अरिहंत देव के प्रति उसमें कूट-कूट कर श्रद्धा भरी थी। यौवन के द्वार पर खड़ी सोमा का मन अपने इष्ट परमेष्ठी देव में ही रमा था। सांसारिक वासनाओं और विलासों में उसकी रूचि न थी। वह प्रातः और सायं-दोनों समय प्रतिदिन सामायिक करती और जिनेश्वर देव की स्तुति करती थी।

धनगुप्त दृढ़धर्मी श्रावक थे। उन्होंने निश्चय किया था कि वे अपनी पुत्री सोमा का विवाह जैन कुल में ही करेंगे। सोमा के रूप गुण की ख्याति की सुगंध से आकर्षित अनेक श्रीसम्पन्न श्रेष्ठियों के वैवाहिक प्रस्ताव धनगुप्त को प्राप्त होते थे, लेकिन धार्मिक समानता न पाकर वे इन्हें अस्वीकार कर देते थे।

उसी नगर में बुद्धप्रिय नाम का एक सुन्दर और श्रीसम्पन्न श्रेष्ठीपुत्र रहता था। उसने सोमा के रूप-गुण की प्रशंसा सुनी। वह मन ही मन सोमा का दीवाना बन बैठा। उसने सोमा से विवाह रचाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। लेकिन उसे ज्ञात हो गया कि धनगुप्त अपनी पुत्री का विवाह श्रमणोपासक युवक से ही करेंगे। बुद्धप्रिय बौद्ध था। उसका पूरा परिवार भी कट्टर बौद्ध मतानुयायी था।

बुद्धप्रिय ने सोमा को अपनाने के लिए एक चाल चली। वह कपटी श्रावक बन गया। सन्तों की सभा में वह सबसे आगे बैठकर सामायिक करता तथा जैन समाज के सांस्कृतिक-धार्मिक कार्यक्रमों में अत्यधिक रूचि प्रदर्शित करता। वह धनगुप्त का ध्यान आकर्षित करना चाहता था और ऐसा करने में वह अन्ततः सफल भी हो गया।

धनगुप्त ने बुद्धप्रिय को अपनी पुत्री सोमा के लिए उपयुक्त वर समझा। बुद्धप्रिय अतिप्रसन्न था। उचित समय पर धनगुप्त ने अपनी पुत्री सोमा का विवाह बड़े महोत्सवपूर्ण क्षणों में बुद्धप्रिय के साथ सम्पन्न कर दिया।

ससुराल की देहरी पर पांव धरते ही सोमा सत्य से परिचित हो गई कि इस घर में जिनत्व के पुजारी नहीं, द्वेषी निवास करते हैं। बुद्धप्रिय की कपटलीला उसकी समझ में आई। लेकिन अब कुछ नहीं हो सकता था। भारतीय नारी जीवन में एक ही पुरुष को पति रूप में देखती है और सोमा भी बुद्धप्रिय को पतिरूप में देख चुकी थी। उसने अपने मन को समझाते हुए विचार किया– मैं अपने पति को एक दिन अवश्य श्रमणोपासक बना दूंगी।

सोमा प्रातः ब्रह्ममुहूर्त्त में उठकर सामायिक करती तो उसकी सास और ननद जल भुन उठती। उसके ससुर के लिए भी यह असह्य था। बुद्धप्रिय कुछ दिन तो मन मारकर सोमा की सामायिक को सहन करता रहा, लेकिन अधिक समय उससे सहन नहीं हुआ। सास-ससुर-ननद और पति पूरा परिवार सोमा से द्वेष करने लगा। उसे नाना प्रकार के कष्ट दिए

जाने लगे। उसे विवश किया गया कि वह नवकार मंत्र और अरिहंत भगवान् को भूल जाए। सोमा ने प्रत्येक कष्ट को मुस्कान के साथ स्वीकार किया। वह अपने ध्येय पर अडिग रही।

बुद्धप्रिय और उसके माता-पिता ने एक कुटिल चाल चली। उन्होंने सोमा की हत्या करने का निर्णय कर लिया। बुद्धप्रिय ने एक सपेरे से एक विषधर सर्प खरीद लिया। सर्प को एक घड़े में रख कर वह सोमा के पास लाया और कृत्रिम प्रेम प्रदर्शित करते हुए बोला– "देखो प्रिये! मैं तुम्हारे लिए सुन्दर फूलों का हार लेकर आया हूं। इसे ग्रहण करो। तुम्हारे गले में यह अत्यन्त सुन्दर लगेगा।"

सोमा के हृदय-मंदिर में प्रतिक्षण अरिहंत देव का निवास था। वह प्रत्येक कार्य को करते हुए महामंत्र नवकार का जाप करती थी। सोमा ने नवकार मंत्र पढ़ते हुए घड़े में हाथ डाला। उसके हाथ में कोमल-सुन्दर फूलों का हार था। सास-ससुर और पति सर्प को फूलमाला के रूप में देखकर दंग रह गए। उनके हृदय धड़कने लगे। पति-आज्ञा का पालन करते हुए सोमा ने उस माला को अपने गले में धारण कर लिया।

सास-ससुर और पति सोमा का सामना न कर सके। इस अपूर्व अद्भुत चमत्कार को देखकर उनके हृदय परिवर्तित हो गए। उन्होंने सोमा को वास्तविकता बताते हुए अपनी धृष्टता के लिए क्षमा मांगी।

सोमा ने अपनी सास-ससुर और पति को जिन धर्म का मर्म समझाया। महामंत्र नवकार और अरिहंत देव की महिमा बताई। पूरे परिवार ने जिन धर्म को ग्रहण किया। सोमा का जीवन सुखपूर्वक धर्माराधन करते हुए अतीत होने लगा। पूरा घर स्वर्ग बन गया। ❑❑

[२]
मीरा बाई
(वैदिक)

मीरा बाई श्रीकृष्ण की दीवानी थी। उसने अपना सर्वस्व अपने प्रभु गिरिधरनागर के चरणों में अर्पित कर दिया था। सुख-दुःख तथा लोकलाज से अतीत उस प्रेम दीवानी ने श्रीकृष्ण को अपना पति घोषित कर दिया था।

संत-संगति और ईश-भक्ति के कारण उसे अनेक कष्ट सहन करने पड़े। उस पर लांछन लगाए गए। उसे विष दिया गया। लेकिन प्रत्येक कष्ट के क्षण में उसकी प्रभु-प्रीति अविचल रही।

भक्तिमती मीरा का जन्म संवत् 1558-1559 में मारवाड़ प्रदेश के ग्राम कुड़की में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री रतन सिंह राठौड़ था जो मेड़ता के राव दूदाजी के चतुर्थ पुत्र थे। मीरा अपने माता-पिता की इकलौती संतान थी। उसे भरपूर लाड़-प्यार प्राप्त हुआ।

चंचलता बाल्यकाल का अभिन्न अंग होती है। लेकिन मीरा का चित्त चंचलताशून्य था। वह दस वर्ष की हुई। एक दिन एक साधु उनके घरपर आए। साधु के पास भगवान् श्रीकृष्ण की एक सुन्दर मूर्ति थी। मीरा की दृष्टि उस मूर्ति पर पड़ी। उसे वह बहुत प्रिय लगी। उसने आग्रह करके वह मूर्ति साधु से ले ली। साधु ने श्रीकृष्ण की महिमा और पूजा विधि समझाते हुए वह मूर्ति मीरा को अर्पित कर दी।

मीरा श्रीकृष्ण की मूर्ति पाकर भाव-विभोर हो उठी। दिन-रात वह उसी की सार-संभाल, पूजा और अर्चना में तल्लीन रहने लगी। श्रीकृष्ण के चरणों से उसका अनुराग घनिष्ठ होता गया। अपने प्रियतम को गोद में लिए मीरा प्रसन्नता से नाच उठती। उसका हृदय गुनगुना उठता। उसके अधर हिलने लगते। वह तन्मय होकर गाने लगती। श्रीकृष्ण के प्रेमरस में पगे मीरा के पद सुनकर न केवल उसके माता-पिता, अपितु अन्य अनेक ग्रामवासी तथा साधु-संन्यासी भी भक्ति में झूमने लगते।

संवत् 1573 में मीरा का विवाह चित्तौड़ के सिसोदिया वंश में महाराजा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ सम्पन्न हुआ। श्रीकृष्ण की दीवानी मीरा ने फेरे लेते हुए अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की मूर्ति को अपना पति स्वीकार किया। देह से वह भोजराज की पत्नी बनी, परन्तु मन से वह गिरिधर गोपाल की रानी बनी।

भोजराज धर्मनिष्ठ और साहित्यप्रेमी थे। प्रारंभ में उन्हें मीरा का श्रीकृष्ण-प्रेम अखरा। बाद में मीरा के हृदय की कोमलता और निश्छलता से वे परिचित हो गए। मीरा को भक्ति में डूबी गाते देखकर वे स्वयं भक्ति सागर में डुबकियां लगाने लगते।

मीरा को इस बात का कष्ट था कि वह अपने लौकिक पति

भोजराज की सम्यक् सेवा नहीं कर पाती। मीरा की हृदय-दशा से परिचित होकर भोजराज ने एक अन्य विवाह रचा लिया। अब मीरा स्वतंत्र थी। उसने अपना पूरा समय कृष्ण-भक्ति को अर्पित कर दिया। वह भूख-प्यास को विस्मृत करके कई-कई दिन श्रीकृष्ण के ध्यान में खोई रहती। वह कभी रोती तो कभी हंसती। लोगों ने मीरा को पागल समझा। लेकिन उसे इसकी चिन्ता न थी।

संवत् 1580 के लगभग भोजराज का देहान्त हो गया। पति की मृत्यु पर मीरा ने आंसू नहीं बहाए। क्योंकि वह जानती थी उसके वास्तविक पति श्रीकृष्ण अमर्त्य, अनश्वर और चिन्मय हैं। वे कभी नहीं मर सकते। पति की मृत्यु के पश्चात् मीरा का सारा समय साधुओं की संगति, पदरचना, ईशस्तुति में बीतने लगा। अनेक बार वह गली-गली में घूमकर श्रीकृष्ण को पुकारती। उस समय राजगद्दी पर मीरा के देवर विक्रमाजीत आसीन थे। उन्हें मीरा का व्यवहार पसन्द न आया। उन्होंने मीरा को समझाया। न मानने पर उसे विष देकर मारने का यत्न किया।

राजा विक्रमाजीत ने चरणामृत के नाम पर विष का प्याला मीरा के पास भेजा। मीरा ने सहर्ष उसे पी लिया। प्रभु-भक्तों के लिए वस्तु अपने प्रभाव को बदल देती है। विष मीरा का कुछ न बिगाड़ पाया। राजा ने एक विषधर सर्प को शालिग्राम कहकर भेजा। मीरा ने पिटारा खोला तो सर्प के स्थान पर शालिग्राम थे।

राजा मीरा के इस प्रभाव और चमत्कार को देखकर मन ही मन भयभीत हो उठा। राजा ने और भी अन्य अनेक कष्ट मीरा को दिए, पर वह उसका कुछ न बिगाड़ पाया। मीरा सुध-बुध खोकर श्रीकृष्ण भक्ति में तन्मय रही। उसका शरीर दुर्बल हो गया। ध्यान से उपजी एकाग्रता को मीरा की बीमारी समझा गया। अनेक वैद्य बुलाए गए। मीरा के पिता भी वैद्यों को लेकर आए। लेकिन किसी दवा का मीरा पर प्रभाव न हुआ। मीरा ने पद गया–

हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय॥
गगन मंडल पे सेज पिया की, किस विध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय॥

जौहर की गति जौहरी जाणै, की जिण जौहर होय।
दरद की मारी वन-वन डोलूं, बैद मिल्या नहीं कोय॥
मीरा की प्रभु पीर मिटे जब, बैद सांवरिया होय।

मीरा के महलों में नित्यप्रति साधु-संत आते। सत्संग होता। मीरा भी साधु-संतों के पास सत्संग करने जाती। मीरा को गली-गली डोलते देख राजा इसे अपना अपमान समझता। उसने मीरा पर पहरे बैठा दिए। एक रात्री राजा को शिकायत मिली की मीरा के महलों में कोई पुरुष है। राजा नंगी तलवार लेकर क्रोध से पागल बना मीरा के महल में पहुंचा। उसने कक्ष के द्वार से कान लगाकर सुना। मीरा किसी पुरुष से प्रेमालाप कर रही थी। उसने क्रोधित होकर कटु स्वर में द्वार खुलवाया। देखा तो वहां मीरा के अतिरिक्त कोई न था। लज्जित-सा राजा लौट गया।

अपनी भक्ति में राजा को कदम-कदम पर बाधा अनुभव करते हुए मीरा ने महलों का सदा सर्वदा के लिए परित्याग कर दिया। वह वृन्दावन चली गई। वृन्दावन के कुञ्ज-कुञ्ज में श्रीकृष्ण को खोजती गाती हुई विचरने लगी–

मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥

मीरा का एक-एक पद भक्ति रस में पगा है। आज भी उन पदों को गाते हुए गायक और सुनते हुए श्रोता भक्ति-सागर में आकण्ठ निमग्न हो जाते हैं। मीरा ने अपने लक्ष्य को साधने के लिए कभी कष्टों की परवाह नहीं की। भगवद्-भक्ति में डूब कर मीरा अमर हो गयी।

OOO

सोमा और मीरा के चरित्रों में नारी के उस रूप के दर्शन होते हैं जो प्रभु और अपने धर्म के लिए शेष सब कुछ को त्यागने के लिए तत्पर हो जाती है। कृष्ण-भक्ति में समर्पित मीरा और जैन धर्म को अपना प्राण धन मानने वाली सोमा को विवश किया गया है कि वे प्रभु और अपने धर्म को विस्मृत कर दें। उनकी अस्वीकृति पर उन्हें अनेक कष्ट दिए गए। राजा ने मीरा के लिए विष का प्याला भेजा। मीरा ने सत्य जानते हुए

भी उस विष को पी लिया। उसकी ईश्वर-भक्ति की शक्ति ने विष को अमृत में बदल दिया। सोमा को मारने के लिए उसके पति ने एक घड़े में कृष्ण सर्प रोककर उसे दिया। अपने इष्ट परमेष्ठी देव का ध्यान करते हुए सोमा ने घड़े में हाथ डाला तो विषधर सर्प फूलों की माला के रूप में बदल गया। पति और परिवार सोमा की शक्ति के समक्ष झुक गए।

जैन और वैदिक साहित्यों से लिए गए दोनों कथानकों में पूर्ण साम्यता प्राप्त होती है। नारी की गरिमा, महिमा, समतापूर्ण भाव और भयावह कष्ट के क्षणों में उसकी अपने लक्ष्य पर अकंप अडोलता का दर्शन दोनों धाराओं में एक रूप-एक स्वर से स्वीकृत किए गए हैं।

दोनों कथानकों में संकटग्रस्त नारी-दशा का चित्रण किया गया है। एक परिवार में नारी को कितने कष्ट झेलने पड़ जाते हैं– यह दोनों कथानकों में देखा जा सकता है। इसके साथ सम्प्रदायवाद कितना भयवाह हो जाता है, वह कैसे परिवारों को तोड़ देता है– यह भी देखा जा सकता है। तीसरी बात जो द्रष्टव्य है, नारी को अबला कहा जाता है, लेकिन नारी की दृढ आस्था एवं अनुपम सहनशक्ति वास्तव में अद्भुत होती है। उसे न तो राज-सत्ता ही डिगा सकती है और न मृत्यु का भय ही विचलित कर सकता है। धन्य हैं ऐसी सन्नारियां, और धन्य है उनकी दृढ आस्था। जैन व वैदिक– दोनों विचारधाराओं ने नारी की उक्त क्षमता को पहचान कर, इन कथानकों के माध्यम से उसका निदर्शन कराया है।

●

आदर्श भ्रातृ-प्रेम

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

भाइयों के परस्पर प्रेम का निरूपण हमें वैदिक साहित्य में भी मिलता है। एक वैदिक वचन है– ***मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्*** *(अथर्ववेद- 3/30/3)। अर्थात् भाई-भाई आपस में कभी द्वेष न करें। भ्रातृ-प्रेम को वेद में भी पारिवारिक सौभाग्य का आधार माना गया है–* ***संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय*** *(ऋग्वेद- 5/60/5)। अर्थात् परस्पर प्रेमयुक्त भाई सौभाग्यसम्पन्न व समृद्ध होते हैं। महाभारत के अनुसार भ्रातृ-प्रेम स्वर्गगति दिलाता है–* ***भ्रातृणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः*** *(महाभारत- 13/24/90)। अर्थात् जिन लोगों का अपने भाइयों के साथ स्नेह-सम्बन्ध रहता है, वे स्वर्ग-सुख प्राप्त करते हैं।*

सहोदर भाइयों में प्रेम होना स्वाभाविक है। एक दूसरे के हित की सिद्धि करना और अहित का निवारण करना भाइयों का जो परस्पर कर्तव्य है, वही इस प्रेम से प्रसूत है। पाण्डवों तथा दशरथ-पुत्रों का आदर्श प्रेम प्रसिद्ध ही है। छोटे भाई का बड़े के प्रति यह प्रेम श्रद्धा व भक्ति के रूप में प्रकट होता है। भक्त वह है जो स्वयं के स्व को मिटा कर अपने आराध्य की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता और उसकी अप्रसन्नता में अपनी अप्रसन्नता के दर्शन करता है। जहां स्वत्व शेष है, वहां भक्ति नहीं घट सकती। स्वत्वविसर्जन की नींव पर ही भक्ति का प्रासाद खड़ा होता है। भक्ति विनत, कृतज्ञ और प्रेमपूर्ण हृदय का आकर्षण है। भक्ति में कठिनता

और कठोरता के लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें तो मृदुता और सरलता की प्रधानता होती है। भगवद्भक्ति के समान ही भ्रातृभक्ति का भी विशेष महत्त्व है। बड़े भाई की प्रसन्नता के लिए स्वत्व को मिटा देना भ्रातृभक्ति का स्वरूप है।

जैन व वैदिक– इन दोनों विचारधाराओं के साहित्य में इस भ्रातृ-भक्ति का निरूपण हुआ है। बड़े भाई को पिता के जैसा महनीय स्थान देना– यह भारतीय संस्कृति का पारिवारिक आदर्श रहा है। वैदिक परम्परा में, आदिकवि वाल्मीकि ने (रामायण के किष्किन्धा काण्ड में) विद्या-दाता गुरु एवं पिता के समान ही ज्येष्ठ भ्राता को पूज्य बताया हैः–

ज्येष्ठो भ्राता पिता वाऽपि, यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेयाः, धर्मे च पथि वर्तिनः॥

(वा. रामा.- 4/18/13)

अर्थात् धर्म-मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों को चाहिए कि वे ज्येष्ठ भाई तथा विद्या प्रदाता गुरु–इन्हें पितृ-तुल्य जाने।

महाभारत में कहा गया है– **ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो, मृते पितरि भारत** (महाभारत, 13/108/16)। अर्थात् पिता के मरने पर, ज्येष्ठ भाई ही पिता की तरह पूज्य व आदरणीय हो जाता है। मनुस्मृति का भी यही निर्देश है– **पितेव पालयेत् पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातृन् यवीयसः। पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः** (मनुस्मृति- 9/108)। अर्थात् ज्येष्ठ भाई को चाहिए कि वह छोटे भाइयों को पिता की तरह पाले-पोसे और छोटे भाइयों को भी चाहिए कि वे पुत्र की तरह रहें और बड़े भाई को पिता-तुल्य सम्मान दें। महाभारत के अनुसार, बड़े भाई को चाहिए कि छोटे भाइयों को 'आत्मवत्' माने– **यथैवात्मा तथा भ्राता, न विशेषोऽस्ति कश्चन** (महाभारत, 11/15/15), अर्थात् जैसी अपनी आत्मा, वैसे ही भाई हैं, अपनी आत्मा और भाई में कोई अन्तर नहीं है।

बड़े भाई का अपने छोटे भाई के प्रति भी आदर्श प्रेम देखना हो तो रामायण में देखा जा सकता है। नागपाश में बंध कर लक्ष्मण के मूर्छित होने पर विलाप करते हुए राम ने अपने आदर्श भ्रातृ-प्रेम को अभिव्यक्त किया है। गोस्वामी सन्त तुलसीदास की रामायण में राम द्वारा अभिव्यक्त किये गए निम्नलिखित विचार-कण इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैंः–

मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।

अर्थात् (लक्ष्मण जैसे) सहोदर भाई बारबार (एवं सभी को) नहीं मिला करते।

जथा पंख विनु खग अति दीना।
मनि बिनु फनि करिवर करहीना॥
अस मम जिवन बंधु विनु तोही।
जो जड़ दैव जिआवै मोही॥

– अर्थात् जड़ भाग्य यदि मुझे लक्ष्मण के बिना भी जीवित रखे तो मेरा जीवन उसी तरह शोभाहीन व निष्प्राण होगा जिस प्रकार पंख के बिना पक्षी का, मणि के बिना सर्प का, सूंड बिना हाथी का (जीवन) होता है।

वाल्मीकि रामायण में भी राम अपने भाई लक्ष्मण के विषय में इस प्रकार अपने भाव अभिव्यक्त कर रहे हैं:– **शक्या सीतासमा नारी, सर्वलोके विचिन्वता। न लक्ष्मणसमो भ्राता, सचिवः साम्परायिकः** (वा.रामा. 6/49/6)। अर्थात् समस्त लोक में ढूंढने निकलूं तो शायद सीता जैसी नारी तो मिल सकती है, किन्तु लक्ष्मण जैसा युद्धकुशल व सहयोगी भाई नहीं मिल सकता।

वैदिक परम्परा की तरह जैन परम्परा में भी भ्रातृ-प्रेम के आदर्श को मान्यता दी गई है। पुराणकार जैनाचार्य जिनसेन ने स्पष्ट कहा है–

गुरोरसंनिधौ पूज्यः ज्यायान् भ्राताऽनुजैरिति।

(आदिपुराण- 34/92)

– अर्थात् पिता (गुरु) के न रहने पर, छोटे भाइयों को चाहिए कि ज्येष्ठ भाई को पूज्य समझे। उपर्युक्त वैचारिक व सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में जैन व वैदिक– इन दोनों विचारधाराओं से जुड़े कुछ कथानकों का चयन कर यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

वर्धमान महावीर का प्रथम कथानक जैन परम्परा से सम्बद्ध है तो भरत और लक्ष्मण के कथानक वैदिक परम्परा से लिये गये हैं। इन सभी कथानकों में आदर्श भ्रातृप्रेम के भारतीय पारिवारिक वातावरण का चित्रण हुआ है जो आज सभी के लिए प्रेरणास्पद है।

[१]
वर्धमान की भ्रातृभक्ति
(जैन)

भगवान् महावीर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर थे। वे जन्मजात तीन ज्ञान (मति-श्रुत-अवधि) के धनी थे। पूर्व जन्मों की महान् साधना के फलस्वरूप उन्होंने सर्वोच्च गोत्र– तीर्थंकर गोत्र का अर्जन किया था।

महावीर का जन्म का नाम वर्धमान था। वर्धमान जब माता त्रिशला के गर्भ में थे, उस समय गर्भ-भार के कारण माता को कष्ट होने लगा। गर्भस्थ शिशु-वर्धमान ने माता की पीड़ा को अनुभव किया। उन्होंने अंगसंचालन रोक दिया। माता की पीड़ा समाप्त हो गई। परिवार के पूज्य/ज्येष्ठ सदस्यों के प्रति वर्धमान का जो आदर या भक्तिभाव है, उसका प्रारम्भिक रूप उक्त घटना में अभिव्यक्त हो गया था।

प्रभु का जन्म हुआ। युवा हुए। माता-पिता की हर खुशी का उन्होंने ध्यान रखा। इसीलिए विवाह भी रचाया। प्रभु जब अट्ठाईस वर्ष के हुए तो अत्यल्प समय में उनके माता-पिता स्वर्ग सिधार गए। वर्धमान का संकल्प पूर्ण हुआ। वर्धमान के बड़े भाई नन्दीवर्धन थे। गृहत्याग के लिए उनकी आज्ञा भी आवश्यक थी। एक दिन वर्धमान ने अपने मन के भाव नन्दीवर्धन से कहते हुए उनसे दीक्षा की अनुमति चाही–

''भाई! मेरा लक्ष्य मुझे पुकार रहा है। मुझे गृह-त्याग कर अगृही- अणगार होना है। मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दो।''

''वर्धमान!'' विह्वल होकर नन्दीवर्धन बोले– ''भाई! क्या कह रहे हो! अभी तो माता-पिता का वियोग हुआ है और अभी तुम मुझसे दूर जाने की बात कह रहे हो। नहीं, वर्धमान! तुम्हारा विरह मैं सह नहीं पाऊंगा।''

''पूज्य अग्रज!'' वर्धमान बोले– ''यह तो मेरी नियति है। नियति को ठुकराया नहीं जा सकता है। कम से कम गृहवास की एक सीमा तो तय कर दो!''

''दो वर्ष!'' नन्दीवर्धन बोले– ''भाई! दो वर्ष तक मुझे छोड़कर जाने की बात मत करना।''

वर्धमान ने भाई के आदेश के समक्ष मस्तक झुका दिया।

पल-पल, घड़ी-घड़ी समय सरकने लगा। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन क्रमशः विगत होने लगे। मास बीते! ऋतुएं बीतीं! नन्दीवर्धन ने देखा कि वर्धमान तो घर में है ही नहीं। वर्धमान की देह तो महलों में है, पर उनकी आत्मा उन्मुक्त हो चुकी है। वर्धमान के रूप में उन्हें घोर-घने जंगलों में एकान्त साधनारत महासाधक के दर्शन हुए। नन्दीवर्धन की आत्मा पुकार उठी–

"नन्दीवर्धन! बन्धन मत बन इस निर्बन्ध के लिए। तू किसे रोकना चाहता है? भाई को या भाई की देह को? भाई तो सदाकाल के लिए अप्रतिबन्ध हो चुके हैं। तेरे मान के कारण उसकी देह अवश्य महलों में है।"

नन्दीवर्धन ने आत्मा की आवाज सुनी और वर्धमान के पास जाकर बोले– "वर्धमान! एक भाई के लिए तुमने अपने लक्ष्य को दो वर्ष पीछे धकेल दिया है। भाई के प्रति तुम जैसे भाई का यह भक्तिभाव सदा-सदा के लिए पूजा का विषय बन गया है।"

"अब तुम स्वतंत्र हो! अपने मार्ग पर बढ़ो। अज्ञान और व्यथा की दशा में कसमसाते मानव-समाज को ज्ञान और सन्मार्ग का अमृत बांटो।"

वर्धमान चल पड़े मानव से महामानव– नर से नारायण– और आत्मा से परमात्मा होने। कष्टकवलितों– पतितों– संतापितों– पथ-भूले जनों के नाथ होने। सर्वज्ञता के शिखर के निकट खड़े एक भाई की एक संसारस्थ भाई के प्रति घटी यह भ्रातृभक्ति; भ्रातृभक्ति के आदर्श का उन्मुक्त कण्ठ से यशोगान करती है। *[त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से]*

❑❑

[२]

भ्रातृप्रेम के पूर्ण प्रतीक– भरत

(वैदिक)

हजारों वर्षों से भारतवर्ष में जब-जब भ्रातृप्रेम की चर्चाएं हुई हैं, तब-तब भ्रातृ-भक्त भरत का नाम केन्द्र में रहा है। भरत के भ्रातृ-प्रेम ने भगवद्भक्ति की पराकाष्ठाओं को छूआ था। उनकी भक्ति राम के चरणों में अनन्य भाव से जुड़ी थी। रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड में भरत का भ्रातृ-प्रेम महामहिमा के साथ प्रगट हुआ है।

राज्य के लिए साधारण जन धर्म-कर्म, मान-मर्यादा और मधुर रिश्तों को विस्मृत कर देते हैं। लेकिन उसी राज्य को अनायास पाकर भी भरत उसे अस्वीकार कर देते हैं। राम के वनगमन का कारण वे स्वयं को मानते हैं। पिता का और्ध्वदैहिक कृत्य करके वे राम को अयोध्या लौटा लाने के लिए चले। उनके साथ सैनिक और रथ भी चल रहे थे। लेकिन भरत पैदल चलते हैं। नग्न पैर चलने से उनके कदमों में फफोले पड़ गए, लेकिन उन्होंने इसकी परवाह नहीं की। मार्ग में चलते हुए जब वे राम के चरण-चिन्ह भूमि पर अंकित देखते हैं तो उस रज को उठाकर अपने सिर पर धारण कर लेते हैं। सन्त तुलसीदास के शब्दों में—

हरषहिं निरखि राम पद अंका।
मानहुं पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियं नयनहिं लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

चित्रकूट में श्री राम और भरत का मिलन होता है। भरत भाई राम के चरणों पर मस्तक रख कर उन्हें अयोध्या लौटने के लिए मनाते हैं। राम भाई भरत को कण्ठ से लगा लेते हैं। दो भाइयों का यह अपूर्व मिलन देखने के लिए तब इन्द्रादि देव आकाश में उतर आए थे।

अयोध्या के राज्य को राम और भरत दोनों अस्वीकार कर देते हैं। जब कोई भी निर्णय नहीं हो पाता तो राम भरत की सन्तुष्टि के लिए उन्हें अपनी चरण-पादुकाएं दे देते हैं। राम की चरण-पादुकाओं को मस्तक पर धारण करके भरत अयोध्या लौटते हैं। उन्होंने उन पादुकाओं को सिंहासन पर आसीन किया और स्वयंसेवक की भांति राज-काज देखने लगे।

राम जंगल में धरा पर सोएंगे— इसलिए भरत ने भी समस्त राजसी सुखों को परित्याग कर दिया। अयोध्या से बाहर नन्दिग्राम में भूमि पर कुश का आसन लगाकर भरत रात्री बिताते। निरन्तर चौदह वर्ष तक वे लेटे नहीं। बैठे-बैठे ही भ्रातृ-याद में निमग्न रहते। भरत को विश्वास था कि चौदह वर्ष की अवधि बिताने से पहले ही, उनके प्राण उनका साथ छोड़ देंगे। और यदि ऐसा नहीं होता है तो —

बीतें अवधि रहहिं जो प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

चौदह वर्षों के पश्चात् राम अयोध्या लौटे। पुनः दो भाइयों का मिलन हुआ। राम अयोध्या के राजा बने। भरत ने जीवन भर उनके चरणों की सेवा करके परमानन्द अनुभव किया।

❑❑

[३]

भ्रातृभक्त श्री लक्ष्मण

(वैदिक)

राम के चरणों में लक्ष्मण का अद्‌भुत अनुराग जगत्प्रसिद्ध है। भाई के लिए सर्वस्व बलिदान करने वाले लक्ष्मण की महिमा भी अद्‌भुत है। राम वनवास जाने लगे तो लक्ष्मण का हृदय व्याकुल हो उठा। उन्होंने माता सुमित्रा से भाई के साथ जाने की अनुमति मांगी। माता सुमित्रा ने लक्ष्मण को आज्ञा नहीं दी। लक्ष्मण दुःखी होकर बोले– "मां! आज कष्ट काल में क्या तुम्हारी दृष्टि भी राम और लक्ष्मण में स्वत्व और परत्व का भेद देखने लगी? तुमने तो सदैव राम और लक्ष्मण को दो देह और एक प्राण माना है। क्या लक्ष्मण के अयोध्या में रह जाने पर वह एक प्राण दो खण्डों में नहीं बंट जाएगा?"

" तुम्हारा कथन अक्षरशः सत्य है, लक्ष्मण!" माता सुमित्रा बोली– "तुम और राम मेरी दायीं और बायीं आंख हो। मैं नहीं चाहती कि तुम दोनों भाई दूर रहो। लेकिन फिर भी मैं तुम्हें अनुमति नहीं दे पा रही हूं।"

" ऐसी कौन सी विवशता है, माता!" लक्ष्मण ने अधीर होकर पूछा– "अपनी विवशता स्पष्ट कीजिए।"

"लक्ष्मण! तुम प्रतिज्ञा लो कि राम को अपने पिता दशरथ के समान, सीता को मेरे समान और वन की भयानक अटवियों को अयोध्या की गलियों के समान समझोगे।" सुमित्रा ने गंभीर होकर कहा– "यदि ये प्रतिज्ञाएं तुम्हें स्वीकार हैं तो तुम अपने अग्रज के साथ चले जाओ।"

"मुझे स्वीकार है माता!" लक्ष्मण हर्षाप्लावित हो उठे। बोले– "भ्रातृप्रेम की ये कसौटियां बनाकर आपने मुझ पर महान् उपकार किया है।"

लक्ष्मण राम का अनुगमन करते हुए वन को चले गए। उन्होंने सदैव राम को पितृतुल्य माना, सीता को मातृतुल्य स्थान दिया और वन की अटवियों को अयोध्या की गलियां समझा।

भाई के लिए लक्ष्मण ने अपने सर्व-सुखों का त्याग कर दिया था। वे जंगल में अपने हाथों से पर्णकुटी बनाते, खाने के लिए फल-फूलों का प्रबन्ध करते और रात्री में जाग कर पहरा देते थे। भाई के प्रति उनके हृदय में कितना सम्मान था– सन्त तुलसीदास जी के शब्दों में–

सीय राम पद अंक बराएं। लखन चलहिं मग दाहिन लाएं॥

राम के पगचिन्हों पर कहीं उनके पैर न पड़ जाएं–इसके लिए लक्ष्मण अनुगमन करते हुए भी सतत सावधान रहते थे। कष्ट के समय लक्ष्मण सदैव राम के आगे रहे।

धन्य है लक्ष्मण का भ्रातृत्व! भ्रातृभक्ति! भ्रातृचरणानुराग!

OOO

उपर्युक्त तीन समान कथानकों के माध्यम से यहां भ्रातृभक्ति का संकथन किया गया है। प्रथम कथानक में जैन परम्परा के वर्धमान की भ्रातृभक्ति का वर्णन है। सर्वज्ञता के शिखर के निकट खड़े वर्धमान अपने भाई नन्दीवर्धन की प्रसन्नता के लिए अपनी अभिनिष्क्रमण की इच्छा को अशेष कर देते हैं।

वैदिक परम्परा के द्वितीय और तृतीय कथानकों में भरत और लक्ष्मण की राम के प्रति अटूट भक्ति मुखरित हुई है। दोनों भाई अपने अग्रज राम के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर देते हैं। जैन और वैदिक धाराओं से चयनित इन पुष्पों की सुगंध में कितना साम्य है, यही यहां मननीय है।

●

पुत्र-कुपुत्र

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

भारतीय संस्कृति में 'पिता' को पूज्य व आदरणीय माना जाता है। वैदिक ऋषि का वचन है– ***आत्मा पितुस्तनूर्वासः*** *(ऋग्वेद- 8/3/24), अर्थात् पुत्र पिता की आत्मा है और आश्रयदाता भी। महाभारत में पिता के महनीय स्थान का इस प्रकार निरूपण किया गया है– पिता वै गार्हपत्योऽग्निः (महाभारत- 12/108/7), अर्थात् पिता गार्हपत्य अग्नि है। घर में खाना पकाने की जो अग्नि होती है, उसे गार्हपत्य अग्नि कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है, इस अग्नि के बिना भोजन बनना ही सम्भव नहीं है। जिस प्रकार यह अग्नि परिवार के सदस्यों के जीवन-भरण का साधन है, उसी प्रकार पिता भी अपनी सन्ततियों के लिए भरण-पोषण प्राप्त करने का प्रमुख स्रोत होता है। इस दृष्टि से पुत्र या सन्तति के लिए पिता की पूज्यता स्वतःसिद्ध हो जाती है। जैन परम्परा में भी पिता को महनीय स्थान प्राप्त है। जैन साहित्य में पुत्र शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गई प्राप्त होती हैः–*

पुनाति पितरं पाति वा पितृमर्यादाम् इति पुत्रः।

(स्थानांग-टीका 493)

–पुत्र वह होता है जो पिता की रक्षा करे, उसे पापमुक्त करे या पिता द्वारा स्थापित मर्यादा का पालन करे।

भारतीय संस्कृति में रघुकुलशिरोमणि राम का जीवन-चरित उपर्युक्त पितृ-सम्मान का जीता-जागता उदाहरण है। पिता की इच्छा को

पूरा करने के लिए उन्होंने राज-सिंहासन से च्युत होना श्रेयस्कर समझा और वनवास स्वीकार किया।

किन्तु लोभ, तृष्णा आदि मनोविकारों से ग्रस्त व्यक्ति पारिवारिक आदर्शों का उल्लंघन करता ही है। ऐसे कुछ कुपुत्रों के उदाहरण भी हैं जो लोभ-ग्रस्त होकर पिता तक के प्रति दुर्व्यवहार करने से नहीं चूके। लोभ के दुर्भाव ने उनमें क्रूरता, निर्दयता, माया आदि दुष्प्रवृत्तियों को संवर्द्धित किया और उन्हें पुत्र से कुपुत्र बना दिया।

नैतिक-अनैतिक विचार से शून्य होकर भौतिक सम्पत्ति निरन्तर संग्रहीत करते रहने की प्रवृत्ति का कारण है– लोभ। नियम, मर्यादा और विवेक से आंख मूंद कर प्राप्तव्य पर समस्त प्रयत्नों को केन्द्रित कर देना 'लोभ' है। पदार्थ में सुख मानने और उसे खोजने में अपनी सारी शक्तियों को नियोजन कर देना 'लोभ' है।

मनुष्य का मन सुखाकांक्षी है। मन स्वयं पौद्गलिक है अतः उसकी सोच पुद्गल (भौतिक पदार्थ) तक ही दौड़ सकती है। वह पुद्गल से सुख प्राप्त करना चाहता है। मंजिल प्राप्ति के लिए उसे धन आश्रयभूत प्रतीत होता है। धन को जुटाने के लिए वह अपनी सारी ऊर्जा को लगा देता है। वह धन को 'काम' पूर्ति का साधन– एकमात्र साधन मानता है, और काम को आनन्द-परमानन्द का स्रोत समझता है।

लोभ के विषय में एक बात विशेष है कि वह सदैव अपूर्ण रहता है। मनुष्य लाख-लाख प्रयत्न करके भी लोभ को सम्पूर्ति नहीं दे पाता है। वह लक्ष्यविहीन है। लोभ के स्वरूप का दिग्दर्शन भगवान् महावीर ने मनुष्य को यों कराया था–

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।

(उत्तरा. सू. 8/17)

जैसे-जैसे लाभ-सम्पन्नता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता चला जाता है। लाभ लोभ की पूर्ति नहीं करता, अपितु उसे और अधिक बढ़ा देता है। जैन परम्परा में लोभ और परिग्रह का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। परिग्रह-वृत्ति एक महान् वृक्ष है तो लोभ उसका एक मोटा तना है (द्रष्टव्यः प्रश्नव्याकरण सूत्र, 1/5 सू. 93)। परिग्रह-वृत्ति मनुष्य को क्रूर, निर्दय बना देती है। जैन साहित्य में इस प्रसंग में कहा गया हैः–

संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा।
पहणेज्ज व मारेज्ज व मरिजेज्ज व तह य हम्मेज्ज॥

(भगवती आराधना, 1147)

–अर्थात् परिग्रह व लोभ-आसक्ति के कारण व्यक्ति क्रोधी हो जाता है, लड़ाई-झगड़ा करता है, विवाद करता है, वैर-विरोध व मारपीट तक कर बैठता है, (कभी-कभी) दूसरों द्वारा मारा-पीटा जाता है या मर जाता है।

उपर्युक्त निरूपण के आलोक में लोभी पुत्र की गतिविधियों का हम अनुमान लगा सकते हैं। लोभी पुत्र को अपने पिता, माता, गुरुजनों तक से दुर्व्यवहार, वैर-विरोध आदि करने में कोई संकोच नहीं होता और वह अपने विनाश को ही आमंत्रित करता है। इसलिए कहा गया है– ***लोहो सव्वविणासणो*** *(दशवैकालिक- 8/38), अर्थात् लोभ समस्त सद्गुणों को नष्ट कर देता है। लोभान्ध व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति में किसी पारिवारिक व्यक्ति को भी यदि बाधक मानता है तो वह उसकी हत्या तक करने के लिए तत्पर हो जाता हैः–* ***पासम्मि बहिणि-मायं सिसुं पि हणेइ कोहंधो*** *(वसुनन्दिश्रावकाचार, 67), अर्थात् क्रोधान्ध व्यक्ति निकटवर्ती माता, बहिन एवं मासूम बच्चों तक को मारने लग जाता है।*

वैदिक परम्परा में भी लोभ के दुष्परिणामों को विविध रूपों में व्याख्यायित किया गया है। यद्यपि वैदिक संस्कृति में ***'पितृदेवो भव'*** *(तैत्ति. उप. 1/11)– पिता को देवता मानने की परम्परा रही है, किन्तु क्रोधी पुत्र पिता आदि गुरुजनों तक को मारने पर कटिबद्ध हो जाता हैः–* ***क्रुद्धो हि संमूढः सन् गुरुम् आक्रोशति*** *(गीता-शांकरभाष्य, 2/63)।* ***क्रुद्धः पापं न कुर्याद् कः, क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि*** *(वाल्मीकि रामायण, 5/55/4)–अर्थात् क्रुद्ध व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं करता। वह पिता आदि गुरु-जनों पर आक्रोश करता है, उन्हें मार भी देता है। एक अन्य साहित्यकार ने लोभ के कुत्सित रूप को इस प्रकार अभिव्यक्त किया हैः–*

लोभोऽतीव च पापिष्ठस्तेन को न वशीकृतः।
किं न कुर्यात् तदाविष्टः पापं पार्थिवसत्तमः॥
पितरं मातरं भ्रातृन् गुरून् स्वजनबान्धवान्।
हन्ति लोभसमाविष्टो जनो नात्र विचारणा॥

—लोभ में असीम पाप भरा हुआ है। इन नीच लोभ ने किसको वश में नहीं किया है? उससे आविष्ट हो जाने पर श्रेष्ठ राजा भी कौन-सा बुरा कर्म नहीं कर सकता? लोभी प्राणी पिता, माता, भाई, गुरु एवं अपने बन्धु बान्धवों को भी मार डालता है। इस सत्य के कथन में कोई अन्य विचार या तर्क को स्थान नहीं है।

[१]
सम्राट् कूणिक
(जैन)

मगध देश के अन्तर्गत राजगृह नाम का एक सुन्दर नगर था। राजा श्रेणिक वहां के शासक थे। उनके बड़े पुत्र अभयकुमार मगध साम्राज्य के महामंत्री थे। वे बड़े बुद्धिमान् और कुशल राजनीतिज्ञ थे।

यौवनावस्था में राजा श्रेणिक साधारण राजाओं की तरह राजसी ऐश्वर्य और भोगविलासों में डूबे रहते थे। वे बौद्धमतावलम्बी थे। वैशालीनरेश गणाध्यक्ष चेटक की पुत्री सुज्येष्ठा के रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनकर श्रेणिक मुग्ध हो उठे। उन्होंने चेटक से उनकी पुत्री की याचना की। चेटक श्रमणोपासक थे। वे अपनी पुत्रियों का विवाह भी जैन परिवार में करना चाहते थे। श्रेणिक बौद्धमतावलम्बी थे। चेटक ने उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

श्रेणिक उदास रहने लगे। पिता की उदासी का कारण जानकर उनके पुत्र अभयकुमार ने अपने बुद्धिबल से वैशाली पहुंचकर सुज्येष्ठा के हृदय में श्रेणिक के लिए अनुराग उत्पन्न कर दिया। सुज्येष्ठा श्रेणिक के साथ भागने को तैयार हो गई। सुज्येष्ठा ने अपनी छोटी बहन चेलना को भी अपने साथ चलने के लिए तैयार कर लिया।

अभयकुमार ने वैशाली के महल तक सुरंग खुदवा दी। राजा श्रेणिक सुरंग मार्ग से वैशाली के महल में पहुंचे। पूर्वनिश्चित समयानुसार सुज्येष्ठा और चेलना पहले ही तैयार थीं। लेकिन भवितव्यतावश सुज्येष्ठा अपनी रत्नपेटिका भूल गई। वह महल में रत्नपेटिका लेने चली गई। तब तक महलरक्षक सजग हो गए। श्रेणिक चेलना को साथ लेकर भाग निकले। सुज्येष्ठा छूट गई। चेलना राजगृह पहुंच गई।

वह शीघ्र ही श्रेणिक के हृदय की साम्राज्ञी बन बैठी और पटराणी बन गई। बाद में सुज्येष्ठा साध्वी बन गई।

श्रेणिक और चेलना में गहरा अनुराग था। चेलना गर्भवती हुई। गर्भकाल में उसे एक विचित्र और निकृष्ट दोहद उत्पन्न हुआ। उसे अपने पति के हृदय का मांस खाने का दोहद उठा। उसने यह इच्छा छिपा कर रखी। फलस्वरूप वह कृश होने लगी। श्रेणिक ने चेलना के हृदय की इच्छा जान ली। विकट समस्या थी। इस समस्या का समाधान भी अभय की बुद्धि से ही संभव हो पाया।

चेलना ने पुत्र को जन्म दिया। उसे अपने पुत्र से घृणा हो गई कि जो पुत्र गर्भ में ही अपने पिता का कलेजा खाना चाहता हो, वह भविष्य में न जाने क्या कुछ अनर्थ कर सकता है। यह सोचकर उनसे अपने नवजात शिशु को उकरड़ी पर फिंकवा दिया। उकरड़ी पर पड़े इस नवजात शिशु की एक अंगुली मुर्गे ने खा ली।

संयोगतः श्रेणिक भ्रमण को निकले तो उन्हें वह शिशु मिल गया। बाद में भेद खुलने पर श्रेणिक को सत्य घटना ज्ञात हुई। पितृहृदय श्रेणिक ने पुत्र को पुनः पुनः कण्ठ से लगाया। मुर्गे द्वारा चबाई अंगुली में पीप पड़ गई थी। श्रेणिक अपने मुंह से उस अंगुली की पीप को चूस कर बाहर निकालते थे। अंगुली कुछ छोटी रह गई। शिशु का नाम कूणिक पड़ गया।

अपरिसीम लाड़-प्यार से कूणिक युवा हुआ। उसका विवाह कर दिया गया। तब तक अभयकुमार दीक्षित हो चुके थे। कूणिक राज्य-पिपासा से व्याकुल था। वह सोचने लगा– मेरे पिता तो बूढ़े हो चुके हैं फिर भी सिंहासन से चिपके हैं। राज्यलक्ष्मी के उपभोग का समय तो यौवन काल ही होता है। पिता यदि सिंहासन नहीं छोड़ेंगे तो मैं बलात् उन्हें इसके लिए विवश कर दूंगा।

राज्य-प्राप्ति की उसकी लालसा भड़क उठी। उसने कालकुमार आदि अपने भाईयों को अपने साथ मिलाया और अपने पिता को कारावास में डाल दिया। सारे राज्य में आतंक छा गया। कूणिक से लोग घृणा करने लगे। लौह पिंजरे में बन्द श्रेणिक से न तो कोई मिल सकता था और न ही उन्हें भोजन दिया जाता था।

चेलना का जीवन अश्रुसागर में डूब गया था। एक दिन उपयुक्त

समय पर उसने कूणिक को फटकारा। उसे बताया कि उसके पिता उस से कितना प्रेम करते थे। कूणिक पश्चात्ताप में डूब गया। लौहदण्ड लेकर वह पिता के पिंजरे को तोड़ने चला। कूणिक को लौहदण्ड लिए आते देखकर श्रेणिक ने समझा कि आज वह अपने पुत्र के हाथों मारा जाएगा। उन्होंने पुत्र के हाथों मरने की अपेक्षा आत्महत्या को उचित समझा। उन्होंने हीरे की अंगूठी निगल कर प्राण त्याग दिए।

राज्य-प्राप्ति के लिए खून की नदियां बहाई जाती रही हैं। भाई-भाई का शत्रु हो जाता है। पुत्र पिता का हन्ता हो जाता है। कूणिक का प्रसंग इसी सत्य का साक्ष्य है।

❑❑

बादशाह औरंगजेब

ऐसा ही एक प्रसंग मुगल इतिहास में घटित हुआ। मुगल बादशाह शाहजहां के पुत्र का नाम औरंगजेब था। औरंगजेब के तीन अन्य भाई थे, जिनके नाम थे– दारा, सूजा और मुराद। औरंगजेब बाल्यकाल से ही भारत का बादशाह बनने का सपना देखा करता। युवावस्था में उसने सोचा कि कहीं उसके पिता उसे उत्तराधिकार न दें, उसने कपट का आश्रय लिया। उसने मुराद को अपने साथ मिलाकर अपने पिता शाहजहां से राजसिंहासन छीन लिया। इतना ही नहीं, उसने अपने पिता को हथकड़ियों-बेड़ियों में जकड़कर कालकोठरी में कैद कर दिया। भाई दारा के विरोध करने पर औरंगजेब ने उसे आगरा में एक चौक में चिनवा दिया। बांद में उसने अपने शेष दोनों भाइयों को भी धोखा दिया।

औरंगजेब के लोभ और पितृविद्वेष को दिखाने वाला एक प्रसंग इस प्रकार है– शाहजहां को कारावास में प्रत्येक वस्तु सीमित मात्रा में दी जाती थी। पानी पीने के लिए उसे एक घड़ा दिया गया था। अकस्मात् एक दिन वह घड़ा फूट गया। शाहजहां ने कारावास के निरीक्षक से एक अन्य घड़ा लाने के लिए कहा। निरीक्षक को औरंगजेब का आदेश था कि उसके पिता को कोई भी वस्तु देने से पहले उसकी अनुमति प्राप्त करे। निरीक्षक ने औरंगजेब से शाहजहां की घड़ा मांगने की बात कही। औरंगजेब चिल्लाकर बोला– वह प्रतिदिन घड़े तोड़ देता है। उसे कह दो कि घड़ा नहीं मिलेगा।

निरीक्षक से अपने पुत्र औरंगजेब का उत्तर सुनकर शाहजहां का हृदय हाहाकार कर उठा। उसने कहा– ''वे हिन्दू, जिन्हें मैंने द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना था, वे हिन्दू कितने श्रेष्ठ हैं जो अपने पिता के मरने के बाद उसका श्राद्ध करते हैं और यह अपने जीवित बाप को भी एक घड़ा नहीं दे रहा है।'' कहकर वृद्ध-विवश, बन्धनों में बंधा शाहजहां रो पड़ा था।

संसारस्थ जन पुत्रों से सुख की आशा करते हैं लेकिन संसार की विचित्रता है कितनी ही बार पुत्र, कुपुत्र बनकर घोर दुःख का कारण बन जाते हैं।

[२]
मथुरा-नरेश : कंस
(वैदिक)

विधि का विधान विचित्र होता है। अनेक बार हिरण्यकशिपु जैसे अधर्मी और पापात्माओं को प्रह्लाद जैसे भगवद्भक्त पुत्र प्राप्त होते हैं और अनेक बार उग्रसेन जैसे धर्मप्राण पुरुषों को कंस जैसे दुष्ट और उद्दण्ड पुत्रों की प्राप्ति होती है।

मथुरा के राजा उग्रसेन धर्मात्मा, प्रजावत्सल और न्यायशील शासक थे। उनके पुत्र का नाम कंस था। कंस का जीवन अपने पिता के विरोधी गुणों– दुर्गुणों से आपूरित था। वह क्रूर और अन्यायी था। यौवन और प्रभुसत्ता के संयोग ने उसे उद्दण्ड और उच्छृंखल बना दिया था।

कंस की बहन देवकी का विवाह वसुदेव से निश्चित हुआ। विवाह के समय कंस की पत्नी और प्रतिवासुदेव जरासन्ध की पुत्री जीवयशा ने मदिरा के नशे में चूर होकर नियम और मर्यादाओं का उल्लंघन किया। उस समय आकाशवाणी हुई– देवकी की आठवीं संतान के रूप में कंस का काल (विनाशक) जन्म लेगा।

आकाशवाणी ने कंस के होश उड़ा दिए। उसने देवकी और वसुदेव को कालकोठरी में डाल दिया। पुत्र के इस कृत्य पर पिता उग्रसेन को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कंस की भर्त्सना की, प्रताड़ना दी। उन्होंने कंस का विरोध किया।

अहंकार और लोभ के नशे में मत्त कंस ने अपने पिता महाराज उग्रसेन को बन्दी बनाकर कारागृह में डाल दिया और स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया। इससे कंस का भारी अपयश हुआ, लेकिन भयवश किसी ने मुखर विरोध करने का साहस नहीं किया।

भवितव्यता को टाला नहीं जा सकता। कंस ने भी सहस्रशः उपाय किए अपनी मृत्यु को टालने के, लेकिन वह असफल रहा। माता देवकी की आठवीं संतान– श्रीकृष्ण गोकुल में पले और बढ़े। फिर एक दिन उन्होंने कंस जैसे अत्याचारी अधर्मी शासक को समाप्त करके धर्मात्माओं की रक्षा की। उन्होंने अपने माता-पिता को बन्दीगृह से मुक्त कराया तथा

अपने नाना महाराज उग्रसेन के बन्धन तोड़े। श्रीकृष्ण ने पुनः उग्रसेन को ही मथुरा का राजसिंहासन पर आसीन किया।

राज्य के लोभी अहंकारी कंस रूपी अधर्म का पतन हुआ। और धर्मप्राण महाराज उग्रसेन रूपी धर्म का पुनरुत्थान हुआ। *[द्रष्टव्यः भागवतपुराण, 10/67-69 अध्याय]*।

OOO

लोभ समस्त दुर्गुणों का उद्गम-स्थल है, सब पापों का मूलकेन्द्र है। प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लोभी व्यक्ति को प्रताड़ित करते हुए कहा था–

"लोभियों! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो। तुम्हें धिक्कार है।"

लोभ विपरीत सोच का परिणाम है। विपरीत सोच यह होती है कि 'काम-भोग में सुख है'। सही सोच यह है कि सुख का मूल योग है। समाधि है। ध्यान है। उसे अलोभ से ही साधा जा सकता है। अलोभ विवेक, ज्ञान और मर्यादा से उत्पन्न होता है।

लोभ की पराकाष्ठा पर जीने वाले ये कुछ ऐसे ऐतिहासिक कुपुत्रों के कथानक ऊपर दिए गए हैं, जिन्होंने राज्य के लोभ में अपने पूज्य पिताओं तक को कारावास में डाल दिया था। कूणिक जैन परम्परा से सम्बद्ध है तो कंस वैदिक परम्परा से। औरंगजेब भारतीय इतिहास का ज्वलन्त पात्र रहा है। लोभ यानी राज्य का लोभ। वह हिन्दू में हो, मुसलमान में हो या जैन में हो, एक ही परिणाम देता है– क्रूरता! हिंसा! अन्याय! मर्यादाओं का अन्तिम सीमा तक अतिक्रमण! काल, परम्परा और पात्रों की दृष्टि से ये तीनों कथानक भिन्न हैं। परन्तु इनका साम्य अभिन्न है।

●

वामन और विराट्

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

भारतीय दर्शनों का चिन्तन है–अणु में महत् छिपा हुआ है। छोटे-से बीज में पूरा वृक्ष छिपा हुआ होता है। आत्मा में परमात्मा निहित है। साधारण और निर्बल से दिखाई देनें वाले मानव में कितनी शक्ति और विराट् स्वरूप छिपा हुआ है, यह चिन्तन का विषय है।

वैदिक परम्परा के अद्वैत दर्शन में मान्य ब्रह्म तत्त्व को सूक्ष्म और महान् से महान् बताया गया है– ***अणोरणीयान् महतो महीयान्*** *(कठोपनिषद्, 1/2/20, श्वेता. उप. 3/20)–अर्थात् ब्रह्म अणु से भी अणु है तो महान् से भी महान् है। यह सारा जगत् समष्टि रूप में 'ब्रह्म' है–* ***ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्*** *(मुण्डक उप. 2/2/11)– यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के अलावा कुछ नहीं है।* ***सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्*** *(श्वेता. उप. 1/16), अर्थात् आत्मा उसी प्रकार सर्वव्यापी है, जैसे दूध में घृत।*

आत्मा की इस महनीय शक्ति का आंशिक आभास हमें दैनिक जीवन में हमें इस रूप में मिलता है कि देहबल की अपेक्षा आत्म-बल वाले अपना अधिक प्रभाव स्थापित करने में सफल होते हैं। वैदिक-साहित्य में कहा गया है– ***बृहन्तं चिद् ऋहते रन्धयानि*** *(ऋग्वेद, 10/28/9)अर्थात् आत्मबल से निर्बल भी बलवान् को वश में कर लेते हैं। इसी प्रकार, अन्यत्र भी कहा गया है–* ***लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः*** *(ऋग्वेद, 10/28/4), अर्थात् आत्मबल से गीदड़ भी शेर को भगा देता है।*

आत्मीय बल का प्रयोग उस समय अधिक अपेक्षित माना गया है जब किसी पापी के हाथों किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को या उसके सम्मान को क्षति पहुंच रही हो, अथवा समाज में अन्याय हो रहा हो, और उसका प्रतीकार करना अत्यावश्यक हो। प्रतीकार के अभाव में अन्याय को बल मिलता है। महाभारत में कहा गया है–

प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते॥

(महाभारत- 1/180/9)

–यदि अन्याय का कोई प्रतीकार करने वाला खड़ा हो जाता है, तो फलस्वरूप कोई पापकर्ता या अपराधी सामने नहीं आता। इसीलिए यह माना जाता है कि अन्याय को मूक होकर सहते जाना अन्याय को बढावा देना ही है। प्रत्येक आत्मा में अद्भुत विराट् शक्ति निहित है, इस सम्बन्ध में जैन मनीषियों के विचार यहां उल्लेखनीय हैं– आत्मा में अनन्त शक्ति है, किन्तु कर्मों के आवरण के कारण वह शक्ति पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं हो पाती। आत्मा में परमात्मा स्वरूप छिपा हुआ है, ज्योंही कर्म-मल से वह मुक्त होगी, परमात्मा का स्वरूप अभिव्यक्त हो जाएगा– ***कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो*** *(मोक्षप्राभृत, 5)। क्षमता की दृष्टि से यह आत्मा 'अचिन्त्यशक्तिशाली देव' है–* ***अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवः*** *(समयसारकलश, 144)।*

समस्त लोकाकाश-प्रदेशों का जो समग्र परिमाण है, उतने क्षेत्र तक व्यापक होने की क्षमता आत्मा में है, और वह अपनी विशिष्ट अवगाहन-शक्ति के कारण, उपलब्ध अणुशरीर में अणुरूप हो जाता है तो महान् शरीर में महान् हो जाता हैः–

निश्चयेन लोकमात्रोऽपि। विशिष्टावगाहपरिणामशक्तियुक्तत्वात् नामकर्मनिर्वृत्तमणु महच्च शरीरमधितिष्ठन् *(पंचास्तिकाय पर अमृतचन्द्राचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति)।* ***निश्चयेन लोकाकाशप्रदेशप्रमितः*** *(वहीं, जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका)।*

कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में मुक्ति प्राप्त करने से पूर्व, सर्वज्ञ-तीर्थंकर आदि 'लोकपूरणसमुद्घात' करते हैं, जिसमें उनके आत्म-प्रदेश समस्त लोक में व्याप्त होकर पुनः पूर्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं।

इस प्रकार जैन परम्परा आत्मा में लोकव्यापी होने की क्षमता स्वीकार करती है, और अणु व महत् दोनों प्रकार के शरीरों के अनुरूप आत्मा की स्थिति को सम्भव मानती है। वह वामन भी हो सकती है और विराट्रूपता भी प्राप्त कर सकती है।

अन्याय के प्रतीकार हेतु अपनी आत्मीय शक्ति का प्रयोग करना न्यायोचित है– ऐसा अनेक जैन ऐतिहासिक जीवन-चरितों के अनुशीलन से ज्ञात होता है।

एक जैन आचार्य का यह कथन इस प्रसंग में समर्थन देता हुआ प्रतीत होता है– **अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू।** (भगवती सूत्र- 12/2)। अर्थात् धर्मनिष्ठ आत्माओं का बलवान् (आत्मीय शक्ति से सम्पन्न) होना अच्छा है।

जैन आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' में इस सम्बन्ध में स्पष्ट नीति-निर्देश दिया है, जो मननीय हैः–

धर्मध्वंसे सतां ध्वंसः, तस्माद् धर्मद्रुहोऽधमान्।
निवारयन्ति ये सन्तो रक्षितं तैः सतां जगत्॥

(उत्तरपुराण, 76/418)

–धर्म यदि नष्ट हो गया तो सन्त-महात्माओं की परम्परा भी स्वतः नष्ट हो जाएगी, इसलिए जो सन्त-महात्मा अधम धर्मद्रोहियों (के प्रभाव)को रोकते हैं, वे सन्त-संसार की ही रक्षा कर रहे होते हैं।

उपर्युक्त वैचारिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक व जैन– इन दोनों विचारधाराओं से सम्बद्ध कथानक यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनमें धर्म-मर्यादा की रक्षा हेतु अपने विराट् रूप से समस्त लोक को व्याप्त करने की घटना घटित हुई है।

वैदिक परम्परा के विष्णु स्वयं परमात्मा हैं, पर उन्होंने वामन रूप बनाकर दिखाया और अन्त में विराट् रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दो ही कदमों में नाप दिया।

जैन परम्परा के मुनिविष्णुकुमार ने भी आत्मा की लोकव्यापिनी शक्ति को प्रकट किया और दो कदमों से सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को नाप लिया। देखिए– वामन और विराट् स्वरूप को।

[१]

मुनि विष्णुकुमार

(जैन)

हस्तिनापुर-नरेश महाराज पद्मोत्तर के दो पुत्र थे– विष्णुकुमार और महापद्म। विष्णुकुमार बाल्यावस्था से ही वैराग्यशील थे। पिता ने जब उन्हें राज्यसिंहासन देना चाहा तो उन्होंने इसे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उन्होंने साधनामय जीवन जीने का अपना संकल्प अपने पिता को बता दिया। एक दिन जैन मुनियों का हस्तिनापुर में आगमन हुआ। विष्णुकुमार मुनि बनने को तत्पर हुए। राजा पद्मोत्तर ने अपने लघु पुत्र महापद्म को राज्य-भार सोंपकर विष्णुकुमार का अनुगमन किया। महापद्म भू-मण्डल के छः खण्ड जीत कर नौवें चक्रवर्ती बने।

मुनि विष्णुकुमार ने उग्र तप प्रारंभ कर दिया। वे सुमेरू पर्वत की कन्दराओं में एकान्त समाधि में लीन रहते थे। उन्हें अनेक लब्धियां अनायास उपलब्ध हो गईं। उज्जयिनी-नरेश श्रीवर्म का एक अमात्य था– नमुचि। नमुचि धर्म-द्वेषी था। एक बार सुव्रताचार्य उज्जयिनी पधारे। एक लघुमुनि से नमुचि ने शास्त्रार्थ किया और पराजित हो गया। उसने इसे अपना अपमान समझा। रात्री में तलवार लेकर वह मुनि का वध करने पहुंचा। लेकिन शासनदेवी ने उसे स्तंभित कर दिया। सुबह सभी को नमुचि के नीच विचारों की खबर मिली। सभी ने उसे धिक्कारा। राजा ने उसे अपने देश से निकाल दिया। नमुचि हस्तिनापुर पहुंचा। उसने महापद्म चक्रवर्ती के मन में जगह बना ली और वहां भी अमात्य का पद पा गया।

एक बार नमुचि ने वहां राज्यहित में कोई बड़ा काम किया। महापद्म ने प्रसन्न होकर उसे वर मांगने को कहा। नमुचि ने वर को महापद्म के पास सुरक्षित रख छोड़ा।

समय गुजरता रहा। एकदा सुव्रताचार्य मुनि-संघ के साथ हस्तिनापुर आए। मुनि संघ के आगमन की सूचना नमुचि को मिली। उसके भीतर छिपी वैर की चिंगारी पद के अहंकार की हवा पाकर दावानल बन गई। उसने मुनि से बदला लेना चाहा। महापद्म के पास सुरक्षित वर उसने सात दिन के राज्य के रूप में प्राप्त कर लिया।

नमुचि सात दिन के लिए छः खण्ड का राजा था। उसे चारों ओर से बधाई संदेश मिले। लेकिन जैन सन्तों ने उसे बधाई नहीं दी। पहले ही जले-भुने नमुचि ने घोषणा करा दी– "तीन दिन के भीतर समस्त जैन मुनि उसके राज्य की सीमाओं के बाहर चले जाएं। ऐसा न करने पर उन्हें मृत्युदण्ड दिया जाएगा।"

इस घोषणा से सर्वत्र भय फैल गया। मुनि जाएं तो कहां जाएं? छः खण्डों से बाहर वे जा नहीं सकते थे। सुव्रताचार्य ने मुनि-संघ को अपने पास बुलाया और बोले– "मुनियों! जिन-शासन पर संकट है। इस संकट से केवल विष्णु मुनि ही मुनियों की रक्षा कर सकते हैं। लेकिन वे इतनी दूर हैं कि उन तक इस अत्यल्प समय में पहुंच जाना कठिन है।"

एक युवा मुनि ने कहा– "आचार्य देव! इस तीन दिन के अत्यल्प समय में मैं मुनि विष्णुकुमार तक पहुंच तो सकता हूं, लेकिन पुनः लौट नहीं सकता हूं।"

आचार्य बोले– " मुने! लौटने की चिन्ता मत करो। बस विष्णुमुनि को सूचना भर मिल जाए, यही पर्याप्त है।"

युवा मुनि विष्णु मुनि के पास पहुंचे और उनसे नमुचि के दुष्ट आदेश की बात बताई। विष्णु मुनि ने स्थिति समझी और तत्काल आकाश मार्ग से हस्तिनापुर पहुंचे। उन्होंने नमुचि को नानाविध विधियों से समझाने का यत्न किया। लेकिन अहंकार के नशे में डूबे नमुचि ने महामुनि की एक न सुनी। विष्णु मुनि बोले– "नमुचि! मैं तुम्हारे महाराज का ज्येष्ठ भाई हूं। मेरे कहने से कुछ स्थान तो मुनियों के लिए दे दो।"

"तीन कदम!" नमुचि धूर्तता से हंसा– "मैं इतनी ही दया कर सकता हूं। मैं तीन कदम भूमि मुनियों को दे सकता हूं।"

विष्णु मुनि गंभीर होते हुए बोले– "तो तीन कदम ही सही।" विष्णु मुनि ने विद्या-बल से अपना आकार एक लाख योजन का बना डाला। उन्होंने दो कदमों में ही छः खण्डों को नाप दिया। तीसरा कदम उठाकर वे बोले– "दुष्ट नमुचि! बोल यह तीसरा कदम कहां रखूं?"

महामुनि के इस रूप से ग्रह-नक्षत्रों की गति डोल गई। देवगणों ने महामुनि से अपना रूप समेटने की प्रार्थना की। महापद्म चक्रवर्ती दौड़ कर आए और मुनि विष्णुकुमार से क्षमा मांगने लगे। महामुनि ने अपनी विद्या समेट ली। जिन-धर्म की जय हुई।

महापद्म ने नमुचि के लिए मृत्युदण्ड की घोषणा की। लेकिन करुणासिन्धु विष्णुमुनि ने उसके प्राणों की रक्षा की। राजा ने उसे अपमानित करके देश-निकाला दे दिया। मुनियों की रक्षा का वह दिन रक्षा-दिवस— रक्षाबंधन के त्यौहार के रूप में आज भी भारतवर्ष में हर्षोल्लास-सहित मनाया जाता है। *[त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से]* ❑❑

[२]

दैत्यराज बलि और वामन अवतार

(वैदिक)

बलि का जन्म दैत्यकुल में हुआ था। दैत्यकुल में उत्पन्न बलि में अपने पितामह भक्त-श्रेष्ठ प्रह्लाद के अनेक गुण जन्मजात थे। वे परम ब्राह्मणभक्त और उदार हृदय के स्वामी थे। अपने पिता विरोचन के पश्चात् बलि दैत्येश्वर बने।

महर्षि दुर्वासा के शाप से इन्द्र की श्री नष्ट हो गई। दैत्येश्वर बलि के लिए यह उपयुक्त अवसर था। उसने स्वर्ग पर आक्रमण कर दिया। देवता पराजित हुए। बलि का स्वर्ग पर अधिकार हो गया।

देवों ने भगवान् विष्णु से सहायता मांगी। भगवान् ने इन्द्र को बलि से सन्धि करने का निर्देश दिया। सन्धि के पश्चात् भगवान् के निर्देश पर देव और दैत्यों ने मिलकर क्षीरसागर का मन्थन किया। अन्य अनेक रत्नों के अतिरिक्त, विष और अमृत भी सागर-मन्थन से उत्पन्न हुए। विषपान महादेव ने किया।

अमृत-कलश को लेकर दैत्य उन्मत्त हो उठे। भगवान् ने मोहिनी रूप धारण करके अमृत कलश दैत्यों से लेकर देवों को दे दिया। सत्य से परिचित होकर दैत्य क्रोधित हो उठे। पुनः भयंकर देवासुर-संग्राम छिड़ गया।

भगवत्कृपा और अमृत के प्रभाव से देवताओं ने दैत्यों को घोर पराजय दी। दैत्य भाग गए। दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य ने संजीवनी शक्ति से मृत और घायल असुरों को स्वस्थ बनाया।

पराजय से पीड़ित बलि ने शुक्राचार्य के दिशानिर्देशन में विश्वजित् यज्ञ किया। अग्नि ने प्रसन्न होकर बलि को अक्षय और अकाट्य

दिव्यास्त्र प्रदान किए। दैत्यराज बलि अपराजित हो गए। दैत्यों की भारी सेना के साथ बलि ने पुनः स्वर्ग पर आक्रमण कर दिया। देवों की पराजय के प्रति देवगुरु बृहस्पति ने देवों को युद्ध न करने की सम्मति दी। देवता भाग गए। स्वर्ग पर पुनः बलि का अधिकार हो गया।

सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण किए बिना कोई नियमित इन्द्र नहीं बन सकता, यही विचार करके शुक्राचार्य ने बलि से अश्वमेध यज्ञ कराने प्रारंभ कर दिए।

देवमाता अदिति अपने पुत्रों की दुर्दशा पर अत्यन्त क्षुब्ध थी। वह अपने पति-महर्षि कश्यप के पास पहुंची और अपना दुःख निवेदन किया। महर्षि ने अदिति को भगवान् की आराधना करने को कहा। अदिति ने वैसा ही किया।

भगवान् विष्णु प्रगट हुए। उन्होंने कहा–"अदिति! बलि धर्मात्मा और ब्राह्मणभक्त है। उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता है। लेकिन मेरी आराधना कभी निष्फल नहीं जाती है। मैं ऐसा यत्न करूंगा कि तुम्हारे पुत्रों का खोया हुआ वैभव उन्हें पुनः प्राप्त हो जाए।"

भगवान् विष्णु अदिति के उदर से वामन रूप में अवतरित हुए। महर्षि काश्यप ने उनका यज्ञोपवीत संस्कार किया। वामन रूपी विष्णु हाथ में छत्र, पलाशदण्ड और कमण्डलु लेकर नर्मदा के तट की ओर चले, जहां दैत्येश्वर बलि सौवां अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। उस अत्यन्त तेजस्वी वामन ने यज्ञशाला में प्रवेश किया।

बलि वामन को देखकर गद्गद हो गए। भलीभांति स्वागत करके तथा सिंहासन पर बैठाकर बलि ने वामन के चरण धोए। फिर करबद्ध होकर बोले–

"वामनदेव! अपने आगमन का उद्देश्य बताकर मुझे कृतार्थ कीजिए।" "मैं कुछ पाने की आशा से तुम्हारे पास आया हूं!" वामन बोले– "क्या मेरी आशा सफल होगी?"

"अवश्य वामनदेव!" बलि बोले– "आदेश कीजिए। त्रिलोक का साम्राज्य आपके चरणों में अर्पित है।"

"अकिंचन ब्राह्मण को तीन लोक का साम्राज्य नहीं चाहिए।" वामन ने कहा– "मुझे केवल तीन कदम भूमि चाहिए।"

बलि हंसे। बोले– "मात्र तीन कदम भूमि! आपकी आशा अवश्य पूर्ण होगी। आपको भूमि मिलेगी।"

शुक्राचार्य ने बलि को चेताया। वे समझ चुके थे कि वामनरूप में स्वयं विष्णु उनके समक्ष हैं और वे तीन कदम में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नाप लेने की क्षमता रखते हैं। लेकिन बलि ने शुक्राचार्य की बात नहीं मानी और बोले– "मैंने जो वचन दिया है उसे मैं प्राण देकर भी पूरा करूंगा।" बलि के उत्तर से रुष्ट होकर शुक्राचार्य ने उन्हें शाप दिया– "दैत्येश्वर! तूने मेरी आज्ञा की अवज्ञा की है। अतः तेरा यह ऐश्वर्य शीघ्र नष्ट हो जाएगा।"

बलि के भूमिदान का संकल्प लेने पर वामन रूपी भगवान् विष्णु ने अपना रूप विशाल बनाया। उन्होंने दो कदमों में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नाप डाला। तृतीय कदम उठाकर विष्णु बोले– "दैत्यराज! तुझे अपने राज्य और शक्ति का बड़ा अभिमान था। मैंने तुम्हारे सम्पूर्ण राज्य को दो कदमों में ही नाप डाला है। बोल! यह तृतीय कदम कहां रखूं?"

बलि बोले– "प्रभु! सम्पत्ति का स्वामी सम्पत्ति से बड़ा होता है। आपने दो कदम में मेरा पूरा साम्राज्य ले लिया है। तृतीय कदम के लिए मैं स्वयं को अर्पित करता हूं। मेरा शरीर ग्रहण कीजिए भगवन्।"

दैत्येश्वर बलि के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए भगवान् विष्णु ने अपना तृतीय कदम उनकी देह पर रख दिया। बलि की देह नष्ट हो गई। महान् दान देकर बलि सदा-सर्वदा के लिए अमर हो गए। भगवान् विष्णु बलि की भक्ति से अतीव प्रसन्न हुए। उन्होंने बलि को निजधाम प्रदान करते हुए कहा–

"वत्स! तुम इन्द्र बनना चाहते थे। मैं स्वयं तुम्हें अगले सावर्णी मन्वन्तर में इन्द्र पद पर बैठाऊंगा।"

दैत्यकुल में उत्पन्न दैत्यराज बलि की अमर कीर्ति त्रिलोकों और त्रिकालों में अमर हो गई। *[द्रष्टव्यः भागवत पुराण- 8/18-23 अध्याय]*

OOO

उपर्युक्त दोनों कथानकों में जो समानता है, वह सहज अनुभूतिगम्य हो रही है। पात्र और स्थिति जरूर

भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु दिव्य चमत्कार दोनों में समान है। सम्पूर्ण भूमण्डल को दो ही कदमों में नाप देने का विश्रुत कथानक जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं के पौराणिक ग्रन्थों में सूक्ष्म अन्तर के साथ उपलब्ध होता है।

जैन परम्परा के महामुनि विष्णुकुमार श्रमणसंघ की रक्षा के लिए अपने तप के बल से सम्पूर्ण भूमण्डल को दो ही कदमों में नाप कर नमुचि के धर्मद्वेषी-अत्याचारी शासन का अन्त कर देते हैं। वैदिक परम्परा के विश्रुत कथानक में स्वयं भगवान् विष्णु देवताओं की रक्षा के लिए वामनावतार ग्रहण करते हैं और दैत्येश्वर बलि से तीन कदम भूभाग की याचना करते हैं। दैत्येश्वर बलि की स्वीकृति पर भगवान् वामन अपना रूप विशाल बनाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दो ही कदमों में नाप देते हैं। भूमण्डल-परिमापन की यह मान्यता दोनों परम्पराओं में पर्याप्त साम्यभाव से प्राप्त होती है। जैन मान्यतानुसार मुनि विष्णुकुमार द्वारा श्रमण संघ की रक्षा का वह दिन रक्षाबन्धन के त्यौहार के रूप में आज तक प्रचलित है। दो संस्कृतियों की समवेत स्वराञ्जलियां व भावाञ्जलियां इन कथानकों में अन्तर्निहित हैं।

एक बात यहां उल्लेखनीय है। वैदिक परम्परा में परमात्मा परमदयालु होता है तो जैन मुनि पूर्णतः अहिंसक। किन्तु यहां दोनों का उग्र रूप प्रकट हुआ है। इसका कारण यह है कि अन्याय को रोकने के लिए ही उन्होंने अपनी शक्ति का प्रयोग किया है। अन्याय को रोकना कभी कभी (अपवाद रूप में) परम आवश्यक हो जाता है। अन्यथा समग्र नैतिक मर्यादाओं के लुप्त होने का खतरा रहता है। अन्याय को रोकने में दोनों विचारधाराओं/परम्पराओं की स्वीकृति को इन कथानकों ने व्याख्यायित किया है।

●

मृत्यु का सत्य

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमि:)

*मृत्यु जीवन का अन्तिम और सबसे बड़ा सत्य है। जो जन्म लेता है वह एक दिन अवश्य मरता है। प्रायः सभी भारतीय आस्तिक विचारधाराओं में मृत्यु के उक्त सत्य को स्वीकार किया गया है। वैदिक परम्परा में महाभारतकार महर्षि व्यास का कथन है– **मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः** (महाभा. 12/277/9)। अर्थात् वृद्धावस्था इस समस्त लोक को घेरती है और मृत्यु विनष्ट करती रहती है। **सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति** (महाभा. 12/175/18)। अर्थात् जैसे कोई व्याघ्र सोये हुए मृग को उठाकर ले जाता है, उसी प्रकार मृत्यु भी प्राणी को (अचानक) उठाकर ले जाती है। महाभारत में ही अन्यत्र कहा गया है:–*

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति॥

(महाभा. 12/277/18-19)

–नित्य संचय (परिग्रह) में लगे हुए और कामनाओं की तृप्ति न कर पाते हुए प्राणी को मृत्यु उसी प्रकार पकड़ कर ले जाती है जैसे व्याघ्री भेड़ के बच्चे को ले जाती है।

*वेद तथा उपनिषद् के ऋषियों की वाणी में भी यही स्वर उद्घोषित हुआ है– **मृत्युबन्धवः... मनवः स्मसि** (ऋग्वेद- 3/2/10)। अर्थात् हम सभी मनुष्य मृत्यु के बन्धन में हैं। **यदिदं सर्वं मृत्योरन्नम्***

(बृहदा. 3/2/10)। अर्थात् यह जो कुछ है, वह सब मृत्यु का अन्न (खाद्य) है। जैन परम्परा में भी मृत्यु की अनिवार्यता के सत्य को बार-बार उद्घोषित किया गया हैः–

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिंऽसहरा भवंति॥

(उत्तरा. 13/22)

–जिस प्रकार सिंह हिरण को पकड़ कर ले जाता है, उसी तरह अन्त समय में मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय, माता-पिता, भाई आदि कोई भी उसके दुःख को बांट नहीं सकते, परलोक में उसके साथ नहीं जाते।

सेणे जहा वट्टयं हरे, एवं आयुखयंमि तुट्टई॥

(सूत्रकृ. 1/2/1/2)

– जैसे बाज़ चिड़िया पर झपट कर उसे उठा ले जाता है, वैसे ही आयुष्य पूर्ण होने पर काल पकड़ कर ले जाता है।

बौद्ध परम्परा में भी उक्त सत्य का पूर्णतया समर्थन किया हुआ दृष्टिगोचर होता है– **एवमब्भाहतो लोको मच्चुना च जराय च** (सुत्तनिपात- 34/8)। अर्थात् समस्त लोक मृत्यु व वृद्धावस्था से आक्रान्त है। **सुत्तं गामं महोघो व मच्चु आदाय गच्छति** (धम्मपद- 4/4)। अर्थात् जैसे जल-प्रवाह सोते हुए पूरे गांव को दहा कर ले जाता है, वैसे ही मृत्यु (आसक्त) व्यक्ति को लेकर चली जाती है।

चूंकि जीवन प्रकाश है और मृत्यु अन्धकार है, इसलिए प्रकाश का पुजारी मनुष्य-जीवन से प्रेम और मृत्यु से घृणा करता है। वह मृत्यु से भयभीत रहता है। मृत्यु से भागना और सदा-सर्वदा के लिए वह परिमुक्त होना चाहता है। किन्तु मृत्यु तो अवश्यंभावी है, उससे कोई बच नहीं पाता। भारतीय मनीषियों ने मृत्यु-दर्शन के एक अन्य सिद्धान्त को प्रतिपादित कर लोगों को मृत्यु-भय से मुक्त होने का मार्ग-दिखाया। वह सिद्धान्त था– 'आत्मा कभी नहीं मरती। मृत्यु प्राणी के देह आत्मा को अलग करती है। मृत्यु के अनन्तर-प्राणी की आत्मा नया जन्म धारण कर नया देह धारण करती है। उसके नये जन्म की परिस्थितियों का निर्माण, प्राणी द्वारा किये गये कर्मों के अनुरूप, होता है।' वैदिक परम्परा की गीता में स्पष्ट कहा गया

है– ***अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*** (गीता- 2/18)।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिः, धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता-2/13)

—यह जो शरीरी (आत्मा) है, वह नित्य है, उसके जो देह हैं वे नाशवान् हैं। जिस प्रकार शरीर में कुमारावस्था आती है और चली जाती है, फिर युवावस्था आती है और चली जाती है, फिर वृद्धावस्था आती है और जाती है, उसी प्रकार मृत्यु के कारण प्राणी इस देह को छोड़कर नये देह में चला जाता है, धीर पुरुष (आत्मा की अमरता को ध्यान में रखते हुए) मोहित-दुःखी नहीं होता।

जैन परम्परा में भी आत्मा की अमरता व देह की नश्वरता का प्रतिपादन कर मृत्यु-भय से निर्भीक रहने का परामर्श दिया गया है– ***सरीरं सादियं सनिधणं*** (प्रश्नव्याकरण- 1/2) अर्थात् शरीर का ही आदि व अन्त होता है। ***इमं सरीरं अणिच्चं*** (उत्तरा. 19/13)। अर्थात् यह शरीर अनित्य है। ***चइत्ताणं इमं देहं गंतव्वं*** (उत्तरा. 19/17)। अर्थात् इस (नश्वर) देह को छोड़कर जाना पड़ता ही है। ***सकम्मबीओ अवसं पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा*** (उत्तरा. 13/24)। अर्थात् अपने कर्मनुरूप सुन्दर या निन्दनीय दूसरा जन्म धारण करना ही होता है।

समणं संजयं दन्तं हणेज्जा कोइ कत्थई।
नात्थि जीवस्स नासुत्ति, एवं पेहेज्ज संजए॥

(उत्तरा. 2/27)

– संयत व जितेन्द्रिय श्रमण को कोई व्यक्ति मारे-पीटे व वध करे तो श्रमण को यह सोचना चाहिए कि आत्मा का कभी नाश नहीं होता (और इस प्रकार भयमुक्त रहे)।

उक्त सांस्कृतिक विचारधारा से मृत्यु-दर्शन से जुड़े सत्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस सत्य से सुपरिचित साधक नश्वर देह तथा भौतिक सुख-साधनों को नष्ट होते देखकर कभी विचलित नहीं होता। वह आसक्ति व व्यामोह से रहित हो जाता है।

उपर्युक्त मृत्यु-दर्शन को हृदयंगम करने वालों में वैदिक परम्परा के राजा जनक और जैन परम्परा के नमि राजर्षि– ये दोनों

अधिक प्रसिद्ध उदाहरण माने जाते हैं। महाभारत में राजा जनक की (माण्डव्य ऋषि के प्रति) यह उक्ति मननीय है जिसमें उनकी पूर्ण अनासक्ति के दर्शन होते हैं– **मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन** (महाभा. 12/276/4)। (अर्थात् समस्त राजधानी) मिथिला आग में जल रही हो तो भी मेरा (मेरी आत्मा का) कुछ नहीं जल रहा होता। जैन परम्परा में नमि राजर्षि की भी (देवेन्द्र के प्रति) इसी प्रकार की उक्ति प्राप्त होती है– **मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण** (उत्तरा. 9/14)। अर्थात् मिथिला के जलते रहने में, मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।

बौद्ध परम्परा में भी उक्त गाथा का पाली रूप इस प्रकार प्राप्त होता है– **मिथिलाय डह्यमानाय न मे किंचि अडह्यथा:** (जातक अट्ठकथा-245)।

उपर्युक्त समग्र मृत्यु-दर्शन के सत्य को हृदयंगम करने वाला व्यक्ति मृत्यु को अवश्यंभावी समझ कर, मानव-जीवन को मृत्यु से पहले ही सार्थक करने हेतु संयम के आत्मकल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। साथ ही, मृत्यु के भय से भी निर्मुक्त रहता है क्योंकि वह समझता है कि मृत्यु तो अगली यात्रा का एक पड़ाव है। मृत्यु-दर्शन की विस्मृति आसक्ति की जन्मदात्री है। सुख-साधनों की आसक्ति और उनके स्थैर्य की चिन्ता और यत्न मृत्यु की विस्मृति के क्षण में प्रगतिशील रहते हैं। मनुष्य इस सत्य को कि एक क्षण सर्वस्व छीन लेगी यदि अपने आत्म-पट पर अंकित कर ले तो उसके जीवन के अधिकांश संघर्ष समाप्त हो जाएं। उसके जीवन के बहुत से दुःख स्वतः छंट जाएं। एक दार्शनिक ने कहा– "सोते समय मौत को सिरहाने एवं जागते समय सामने खड़ी समझ कर काम करो। जीवन से मृत्यु का यह नैकट्य साक्षात् तुम्हें पापमुक्त बना देगा।"

जीवन में प्रतिक्षण मृत्यु का दर्शन मनुष्य को अनासक्तयोगी बना देता है। वह जलकमलवत् बन जाता है। उसे सांसारिक आकर्षण आकर्षित नहीं कर पाते हैं। वह संसार के समस्त कार्य करता हुआ भी अकर्त्ता बना रहता है। वह संसार में होता है परन्तु संसार उसके भीतर नहीं होता है। वह उन्मुक्त गान गाता है–

दुनियां में रहता हूं तलबगार नहीं हूं।
बाजार से गुज़रा हूं खरीदार नहीं हूं॥

वैदिक व जैन परम्परा से जुड़े कुछ कथानक यहां प्रस्तुत हैं। जिनमें मृत्यु-दर्शन को हृदयंगम करने वाले अनासक्त महापुरुषों के जीवन-चरित निबद्ध हैं।

[१]

नमि राजर्षि

(जैन)

अवन्ती देश में सुदर्शन नाम का नगर था। वहां मणिरथ नाम का राजा राज्य करता था। युगबाहु इसका भाई था। उसकी पत्नी का नाम मदनरेखा था। मणिरथ ने युगबाहु को मार डाला। मदनरेखा गर्भवती थी। वह वहां से अकेली चल पड़ी। जंगल में उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसे रत्नकम्बल में लपेट कर वहीं रख दिया और स्वयं शौच-कर्म करने जलाशय में गई। वहां एक जलहस्ती ने उसे सूंड़ से उठाकर सुरक्षित स्थान पर रख दिया। विदेह राष्ट्र के अन्तर्गत मिथिला नगरी का नरेश पद्मरथ शिकार करने जंगल में आया। उसने उस बच्चे को उठाया। वह निष्पुत्र था। पुत्र की सहज प्राप्ति पर उसे प्रसन्नता हुई। बालक उसके घर में बढ़ने लगा। उसके प्रभाव से पद्मरथ के शत्रु राजा भी नत हो गए। इसलिए बालक का नाम 'नमि' रखा। युवा होने पर उसका विवाह 1008 कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ।

पद्मरथ विदेह राष्ट्र की राज्यसत्ता नमि को सौंप प्रव्रजित हो गया। एक बार महाराज नमि को दाह-ज्वर हुआ। उसने छह मास तक अत्यन्त वेदना सही। वैद्यों ने रोग को असाध्य बतलाया। दाह-ज्वर को शान्त करने के लिए रानियां स्वयं चन्दन घिस रही थीं। उनके हाथ में पहिने हुए कंकण बज रहे थे। उनकी आवाज से राजा को कष्ट होने लगा। उसने कंकण उतार देने के लिए कहा। सभी रानियों ने सौभाग्य-चिह्न स्वरूप एक-एक कंकण को छोड़ कर शेष सभी कंकण उतार दिए। कुछ देर बाद राजा ने अपने मंत्री से पूछा—'कंकण के शब्द क्यों नहीं सुनाई दे रहा है?' मंत्री ने कहा— राजन्! उनके घर्षण से उठे हुए शब्द आपको अप्रिय लगते हैं, यह सोचकर सभी रानियों ने एक-एक कंकण के अतिरिक्त शेष कंकण उतार दिए हैं। अकेले में घर्षण नहीं होता। घर्षण के बिना शब्द कहां से उठे?

यह घटना राजा नमि के लिए भावी निःश्रेयस का निमित्त बनी। इस घटना ने राजा नमि की विचारधारा को मंगलमय दिशा की ओर मोड़ दिया। वह सोचने लगा 'निश्चय ही जहां 'एक' है, वहां पूर्ण शान्ति है, और जहां अनेक हैं वहां संघर्ष है, दुःख है, पीड़ा है।' धन, परिवार आदि से आत्मा की एकता बाधित होकर अनेकता का वातावरण बनता है और यही संघर्ष एवं दुःख व पीड़ा का कारण बनता है। परम सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब व्यक्ति सांसारिक अनेकता को छोड़कर, मात्र आत्म-भाव के एकत्व में सुस्थिर हो जाए।

इसी विवेकमूल वैराग्य की उदात्त जागृति से राजा नमि के भावों में प्रशस्तता क्रमशः बढ़ती गई और उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। जन्म और मृत्यु की क्रमिक परम्परा की वास्तविकता उन्हें हृदयंगम हो गई और इस परम्परा से मुक्ति पाने के लिए संयम मार्ग को ही उन्होंने अमोघ उपाय जाना। उन्होंने तत्क्षण समस्त राज्य-वैभव को छोड़कर प्रव्रजित होने का निर्णय किया। समस्त मिथिला राज्य शोकाकुल हो गया। राजा नमि परिवार-अन्तःपुर और प्रजा-जन के करुण आवाहन की उपेक्षा कर संयम-मार्ग पर अग्रसर हो गए।

राजर्षि के वैराग्य की खबर देवलोक तक पहुंची। देवेन्द्र स्वयं उत्सुकतावश एक ब्राह्मण का रूप धारण कर उनके सामने उपस्थित हुए। देवेन्द्र ने अनेक युक्तियों से नमि राजर्षि को सांसारिक उत्तरदायित्वों की ओर लौटाने का प्रयत्न किया किन्तु राजर्षि ने अपने युक्तियुक्त उत्तरों से अपने वैराग्य-मार्ग की ही श्रेयस्करता को सिद्ध किया। देवेन्द्र ने मिथिला नगरी की दयनीय दशा की ओर संकेत किया—"राजर्षि! देखिए! आपका राजभवन जल रहा है। अपने अन्तःपुर की दयनीय स्थिति को तो देखें। राज-धर्म के उत्तरदायित्व से मुख मोड़कर जाना ठीक नहीं। अपने राज्य की सुख-शान्ति के लिए अपने निर्णय पर विचार करें।" राजर्षि नमि का स्पष्ट उत्तर था— "समस्त मिथिला नगरी के जलने में मेरा कुछ नहीं जल रहा है। मैंने अकिंचनता- अपरिग्रहता को धारण किया है, अब मेरा कुछ नहीं है, न मिथिला और न ही अन्तःपुर। मैं इस अकिंचनता में सुखी हूं। मेरे लिए अब न कोई वस्तु प्रिय और न ही अप्रिय। सांसारिक काम-भोग दुर्गति में ले जाते हैं और जन्म-मृत्यु की परम्परा को बढाते हैं।"

देवेन्द्र नमि-राजर्षि की दृढ़ता, सरलता, निश्छलता वह निर्विकारता से अत्यन्त प्रभावित हुए और राजर्षि को वन्दना कर देवलोक लौट गया। राजा नमि ने मुनित्व को साधा और संयम-तप पर क्रमशः अग्रसर होते हुए सिद्ध-बुद्ध-मुक्त अवस्था प्राप्त की। *[द्रष्टव्यः उत्तराध्ययन, नवम अध्ययन तथा उसकी सुखबोध टीका, बौद्ध परम्परा में भी कुम्भकार जातक- जातक सं.408 में कुछ परिवर्तन के साथ यह कथा उपलब्ध है।]* ❑❑

[२]

महाराज जनक

(वैदिक)

मिथिला नगरी के राजा जनक आत्मज्ञानी थे। राजकाज में लीन रहते हुए भी वे ब्रह्मसुख में लीन रहते थे। इसीलिए वे 'विदेह' कहलाते थे। एकदा महर्षि वेदव्यास मिथिला आए। वे प्रतिदिन सत्संग करते थे। अनेक ऋषि और महाराज जनक प्रतिदिन उक्त सत्संग में उपस्थित होते थे।

एक दिन सत्संग का निर्धारित समय होने पर भी सत्संग सभा में जनक नहीं पहुंचे। महर्षि वेदव्यास जनक की प्रतीक्षा करते रहे। शिष्य ऋषियों ने महर्षि से सत्संग प्रारंभ करने का निवेदन किया। लेकिन महर्षि ने जनक के आने तक प्रतीक्षा करने को कहा। महर्षि की बात सुनकर श्रोता ऋषियों के अधरों पर व्यंग्यात्मक मुस्कान उभर आई। उनकी मुस्कान में स्पष्ट कटाक्ष था कि जनक राजा हैं। इसलिए महर्षि उनसे दबते हैं। ऋषियों की व्यंग्यात्मक मुस्कान से महर्षि वेदव्यास अपरिचित न थे।

कुछ समय पश्चात् जनक सत्संग सभा में उपस्थित हुए। सत्संग प्रारंभ हो गया। महर्षि शिष्य ऋषियों को जनक की श्रेष्ठता दिखाना चाहते थे। उन्होंने अपने योगबल से मिथिला नगरी में आग लगा दी। अकस्मात् भड़की इस आग से चतुर्दिक् त्राहि-त्राहि मच गई। राजसेवक दौड़ते हुए जनक के पास पहुंचे और बोले–"राजन्! आपकी नगरी में आग लग गई है। उठिए! नगर-रक्षा का उपाय कीजिए।"

"लगने दो।" जनक बोले– "आग का काम ही लगना है।" यह कहकर जनक अविचल बने सत्संग में तल्लीन रहे। कुछ देर के बाद

पुनः दूसरे राजसेवक आए। उन्होंने कहा– "पृथ्वीनाथ! आग ने आपके महलों को घेर लिया है। रनिवास जल रहा है।"

"महल और रनिवास के जलने से मेरा कुछ नहीं जलता।" जनक ने उसी शान्त भाव से उत्तर दिया। तभी फैलती हुई आग सत्संग सभा तक पहुंच गई। अब तक किसी तरह मन मारे बैठे ऋषिगण विचलित हो उठे। अपने-अपने वस्त्रों और कमण्डलुओं को उठाकर वे इधर-उधर दौड़ने लगे। आग जनक की देह तक पहुंच चुकी थी। एक सेवक चिल्लाया– "महाराज! अपनी देह की रक्षा कीजिए। आग आपको जला देगी।"

"जलाने दो!" जनक बोले–"आग जल जाने योग्य को ही जलाती है। जो जल नहीं सकता उसे जलाने की क्षमता आग में नहीं है।"

जनक की इस अनासक्ति को देखकर इधर-उधर दौड़ रहे ऋषि आश्चर्यचकित थे। महर्षि वेदव्यास ने अग्नि समाप्त कर दी। सब कुछ पूर्ववत् हो गया। ऋषि सत्संग-भवन में लौट आए।

महर्षि वेदव्यास ने कहा–"ऋषियों! जनक और तुम्हारी आसक्ति में जो अन्तर है, उसे जानकर ही मैंने जनक की प्रतीक्षा की थी। जब तक श्रोता स्वयं को बदल न डाले तब तक सत्संग सुनना और न सुनना समान है।"

जनक ने देह और देही के अन्यत्व को आत्मसात् कर लिया था। वे देह में भी विदेह थे। वे शुद्ध आत्मतत्त्व में विरमण करते थे। इसीलिए वे जीवन के व्यामोह और मृत्यु के भय से अतीत थे। वे जानते थे कि पल-पल वे मृत्यु से घिरे हैं। जो पल-पल मृत्यु को स्मरण रखता है वह न केवल ममत्व से अतीत हो जाता है अपितु मृत्यु का आगमन भी उसे संतापित नहीं कर पाता है। ❑❑

[३]
भरत चक्रवर्ती
(जैन)

महाराज भरत इस कालचक्र के प्रथम चक्रवर्ती थे। अपरिसीम सुख-साधनों और भोग-विलास के मध्य रहकर भी वे कीचड़ में कमल

के समान निर्लिप्त थे। उनका हृदय निवृत्ति और वैराग्य से परिपूर्ण बना रहता था। आदि प्रभु ऋषभदेव भरत चक्रवर्ती के पिता थे। एक समय तीर्थंकर ऋषभदेव अयोध्या नगरी में पधारे। उनकी देशना सुनने हजारों नर-नारी गए। भरत चक्रवर्ती भी प्रभु के चरणों में पहुंचे। प्रभु ने देशना दी।

देशना के उपरान्त एक व्यक्ति ने प्रभु ऋषभदेव से पूछा– "भन्ते! भरत चक्रवर्ती किस गति में जाएंगे?"

"मोक्ष में!" भगवान् ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

इस उत्तर को सुनकर प्रश्नकर्त्ता ने भगवान् ऋषभदेव पर आरोप लगाते हुए कहा– "आखिर भरत आपके पुत्र जो ठहरे! संतजन भी पक्षपात करते हैं। अपना पुत्र होने के कारण उसकी गति मोक्ष की बता रहे हैं। भोग-विलास भोगते हुए और राज्यलक्ष्मी का आनन्द लेते हुए भी यदि मुक्ति प्राप्त की जा सकती है तो त्याग का अर्थ ही व्यर्थ हो गया।"

भरत उस व्यक्ति की बात सुन रहे थे। भगवान् की वाणी पर उसका संदेह और आरोप उन्हें अच्छे नहीं लगे। उन्होंने उक्त व्यक्ति को उपयुक्त युक्ति से समझाने का निश्चय कर लिया।

भरत राजमहल में लौट आए। उन्होंने अनुचर भेजकर उस प्रश्नकर्त्ता को बुलाया। उन्होंने उसे एक तैल से भरा कटोरा थमा दिया और दो नंगी तलवारों वाले सैनिक उसके पीछे लगाते हुए कहा–"ध्यान रहे! इस तैलपात्र से बिना एक बूंद गिराए तुम्हें पूरे नगर का एक चक्कर लगाना है। यदि एक बून्द भी पात्र से गिर गई तो तुम्हारा अनुसरण कर रहे सैनिक तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देंगे।"

भरत चक्रवर्ती ने नगर में स्थान-स्थान पर नृत्य-संगीत, नाटकों की व्यवस्था करवा दी। उन्हें देखने के लिए जगह-जगह दर्शकों की भीड़ भी जमा थी। तेल-पात्र पर दृष्टि जमाए और एक-एक कदम संभल कर रखते हुए वह व्यक्ति नगर की परिक्रमा कर रहा था। उसे चतुर्दिक् मृत्यु का ताण्डव दीख रहा था। सन्ध्या समय वह भरत के पास पहुंचा। भरत ने पूछा–"कहिए बन्धु! नगर का वातावरण कैसा लगा?"

"मुझे तो पूरा नगर तेल का सागर दीख रहा था राजन्!" व्यक्ति बोला– "तेल और मृत्यु के अतिरिक्त मेरी दृष्टि में कुछ न था।"

"नगर में तो बड़ा उत्सव था।" भरत बोले– "नृत्य-गान और नाटक हो रहे थे। क्या तुम्हारा मन वहां नहीं रमा?"

"कैसे रमता?" व्यक्ति बोला– "जिसके सिर पर मृत्यु नाच रही हो वह आमोद-प्रमोद और राग-रंग में भला कैसे रम सकता है!"

भरत मुस्कराए और बोले– "बन्धु! एक दिन के मृत्युभय से तुम इतनें भयभीत हो गए कि आंख उठाकर अपने सामने हो रहे दृश्यों को नहीं देख पाए। लेकिन मेरे सामने तो जन्म-जन्मान्तरों की मृत्यु खड़ी मुझे भयभीत कर रही है। फिर मैं भला चक्रवर्ती के भोगों में लिप्त कैसे हो सकता हूं। प्रतिक्षण मेरी ओर सरकती मृत्यु मुझे प्रतिक्षण भोगों से विरक्त रखती है। तुमने भगवान् की वाणी में संदेह किया था। तुम्हें सत्य से परिचित कराने के लिए ही मैंने यह युक्ति निकाली थी।"

वह व्यक्ति भरत के कदमों में गिर गया और बोला– "भगवान् की वाणी परमसत्य है। मेरा भ्रम टूट चुका है। अनासक्त चित्त ही सच्चा त्यागी होता है। आप चक्रवर्ती होते हुए भी महात्यागी हैं और महात्यागियों के लिए मोक्ष का द्वार प्रतिपल खुला रहता है।"

❑❑

[४]
जनक और शुकदेव
(वैदिक)

शुकदेव जन्मजात ज्ञानी थे। फिर भी गुरु बनाना आवश्यक है, इसलिए वे जनक को गुरु बनाने उनके पास पहुंचे। शुकदेव कई दिनों तक बाहर धूप में बैठे रहे। जनक ने उनकी कोई खबर न ली। फिर कई दिनों तक पानी में भीगते रहे, फिर भी उन्हें बुरा नहीं लगा। अहंकारशून्य शुकदेव जनक की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अब अन्तिम परीक्षा लेने के लिए जनक ने शुकदेव को तैल से भरा एक कटोरा दिया और बोले– "बस यही एक काम तुम्हें करना है। उसके बाद मैं तुम्हें शिष्य बना लूंगा। यह कटोरा लेकर मिथिला नगरी का एक चक्कर लगा आओ। ध्यान रहे कि इस कटोरे से एक भी तेल की बूंद नीचे नहीं गिरनी चाहिए।"

शुकदेव चल दिए। महाराज जनक ने पहले ही नगर में राग-रंग व नाच-नाटकों आदि का प्रबन्ध करा दिया था। शुकदेव लौटे। जनक ने पूछा– "मार्ग के नाटक व संगीत कैसे लगे?" शुकदेव ने उत्तर दिया– "मुझे तो कहीं भी नाटक-संगीत-नृत्यादि दिखाई ही नहीं दिए। मुझे तैल के कटोरे के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था।"

"तुम उत्तीर्ण हुए।" जनक बोले– "जो इसी तरह संसार में रहकर उससे अछूता रहता है, वह संसार में रहकर भी संसारी नहीं है। शुकदेव! तुम तो जन्मजात ज्ञानी हो। मुझे मान देने आए हो।"

OOO

[illegible]

उपर्युक्त चार कथानकों में जनक व शुकदेव– ये दो कथानक वैदिक परम्परा से सम्बद्ध हैं, और नमि राजर्षि व भरत – ये दो कथानक जैन परम्परा से सम्बद्ध हैं। पहली दो कथानकों और अन्तिम दो कथानकों में स्थान व पात्रों की भिन्नता भले ही हो, परन्तु तथ्य समान है। जैन परम्परा के चक्रवर्ती भरत का मृत्यु-बोध उन्हें चक्रवर्ती होते हुए भी मोक्षगामी बना देता है तो वैदिक परम्परा के महाराज जनक राजकाज करते हुए और पारिवारिक उत्तरदायित्व को वहन करते हुए भी मृत्यु दर्शन की स्मृति के कारण विदेहराज कहलाते हैं।

राजा जनक और नमि राजर्षि– दोनों इस प्रकार आसक्त हैं कि महल जल रहे हैं तो यह मानते है कि उनका कुछ नहीं जल रहा है। तीसरे-चौथे कथानकों में यह तथ्य प्रकट होता है कि मृत्यु के सामने होने पर संसार के आकर्षण व्यक्ति को अपनी ओर लुभा नहीं पाते। सभी कथानकों का सार यह है कि मृत्यु की अवश्यंभाविता तथा आत्मा की अमरता की सतत स्मृति रखने से व्यक्ति मोह, अहंकार, काम-आसक्ति आदि में नहीं फंसता। इस तरह, मृत्यु व्यक्ति की शत्रु नहीं, मित्र है।

प्रकाश-पुञ्ज दीपावली

(सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः)

जब कोई समारोह सर्वसाधारण (या अधिकांश जनता) के कल्याण से सम्बन्धित होता है, तो वह उत्सव या महोत्सव की कोटी में आ जाता है। चूंकि महापुरुषों के जन्म में जन-कल्याण के कार्यों का बीज छिपा रहता है, अतः उसे भी महोत्सव के रूप में मनाया जाता है।

उत्सव सदैव सामूहिक होता है। वह समूह की आशाओं और उपलब्धियों का प्रतिबिम्ब होता है। व्यक्ति तक सीमित उपलब्धियां, चाहे जितनी अधिक व सशक्त हों, कभी उदात्त नहीं हो सकतीं और सूर्य-प्रकाश-सा महत्त्व नहीं पा सकतीं। उनका महत्त्व एक मकान तक सीमित विद्युत-प्रकाश जैसा होता है। उपलब्धियां जब व्यापक समाज को प्रकाशित करने लगती हैं तो वे व्यक्तिगत नहीं रह जातीं। संकीर्णता से मुक्त हो जाती हैं। मानव सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण ऐसी ही उपलब्धियों से हुआ है।

यों तों प्रत्येक दिन नवीन और मंगलमय होता है, लेकिन कोई-कोई दिन इतिहास के पटल पर तथा मानव के मानस पर अपनी अमिट और अक्षुण्ण छाप छोड़ जाता है। कार्तिक अमावस का दिन वैसा ही एक दिन है। इस दिन का भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास में गौरवशाली और विशिष्ट स्थान है। अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवासी इस दिन को महान् उत्सव और महापर्व का दर्जा देकर हर्षोल्लास से मनाते आए हैं।

वैसे तो भारत त्यौहारों और पर्वों के देश के नाम से विख्यात है। यहां अनेकानेक पर्व-त्यौहार और उत्सव मनाए जाते हैं। परन्तु कार्तिक अमावस के दिन मनाया जाने वाला दीपावली का त्यौहार समस्त त्यौहारों से बड़ा त्यौहार और महापर्व माना गया है। भारत की लगभग सभी धार्मिक परम्पराओं से दीपावली का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इस मधुर महापर्व के साथ अनेक धार्मिक कथाएं जुड़ी हैं।

वैदिक परम्परा के राम तथा जैन परम्परा के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के साथ इस पर्व का सम्बन्ध माना जाता है। इस दिन से जुड़ी अन्य कुछ घटनाएं हैं–

– श्रीकृष्ण द्वारा नरकासुर का वध तथा सोलह हजार रानियों को बन्धनमुक्त करना।

– समुद्र-मन्थन इसी दिन हुआ।

– नरसिंह अवतार इसी दिन हुआ।

– महर्षि दयानन्द का देह त्याग।

इन्हीं अनेक कारणों से यह दिन अनेकता में एकता का उद्गाता है।

आइए, भारतीय संस्कृति की दोनों धाराओं में मान्य इस महान् पर्व से सम्बद्ध दो कथानकों के माध्यम से इसकी ऐतिहासिक प्राचीनता को हृदयंगम करें।

[१]
वर्धमान महावीर
(जैन)

जैन परम्परा में दीवाली को बड़ा महत्त्व प्राप्त है। दीपावली अर्थात् कार्तिक अमावस की रात्रि में अपनी अनादि जीवन-यात्रा को विराम देकर भगवान् महावीर अनन्त में विलीन हो गए थे। जैन दृष्टि में साधक के लिए यह क्षण परम मूल्यवान् होता है। भगवान् महावीर के जीवन के उस परम मूल्यवान क्षण को जैन परम्परा में कार्तिक अमावस की रात्रि को आलोक दिवस के रूप में प्रतिवर्ष श्रद्धा और विश्वास के साथ मनाया जाता है।

भगवान् महावीर कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के पुत्र थे। उनका पूर्व नाम वर्धमान था। वर्धमान के बड़े भाई का नाम नन्दीवर्धन और बहन का नाम सुदर्शना था। वर्धमान बाल्यकाल से ही बड़े धीर-वीर-गम्भीर और अपूर्व बलशाली थे। इन्द्र द्वारा प्रशंसा करने पर एक देव ने वर्धमान की परीक्षा ली थी। लेकिन वह स्वयं अनेक बार वर्धमान से पराजित हुआ। अपनी भूल स्वीकार करते हुए उसने कहा था– "वर्धमान! तुम केवल वीर नहीं, अपितु महावीर हो।"

महावीर युवा हुए। उनके भीतर सांसारिक आकर्षण नहीं थे। उन्होंने अपनी माता-पिता की प्रसन्नता के लिए विवाह अवश्य रचाया, परन्तु 'काम'-भोग उन्हें बांध न सके। उस युग में सत्य पर असत्य तथा धर्म पर अधर्म प्रभावी हो रहा था। धर्म के नाम पर पाखण्ड का बोलबाला था। जातिगत विषमताएं चरम पर थीं। स्त्री और शूद्र की आत्मा कराह रही थी।

महावीर ने सत्य-सूर्य पर छाए असत्य के बादलों को नष्ट करने का महत्संकल्प लेते हुए राजपाट का त्याग कर दिया। वे अकिंचन मुनि बनकर आत्मसाधना में लीन हो गए। उन्होंने घोर तप प्रारंभ कर दिया। सत्य की समग्र अनुभूति के लिए उन्होंने स्वत्व को शून्य कर दिया। वे कष्ट-क्लेश-भाव-विभाव और प्रभाव से अतीत हो कर मात्र द्रष्टा बन गए। वे संसार रूपी नदी के दोनों तटों– राग और द्वेष से स्वतंत्र होकर लम्बे-लम्बे उपवास और अखण्ड समाधि में तल्लीन बने विचरते रहे। साढ़े बारह वर्ष के इस साधना-काल में भगवान् महावीर ने कठोर परीषह और कठिन उपसर्ग आत्मस्थ भाव से सहन किए।

साढ़े बारह वर्ष के पश्चात्, भगवान् महावीर ने समग्र सत्य का साक्षात्कार किया। वे आत्मस्वरूप केवलज्ञान और केवलदर्शन को उपलब्ध हुए। सत्य से साक्षात्कार करने के पश्चात् भगवान् महावीर ने जगत् को सत्य संदेश दिया। उन्होंने पाखण्ड का खण्डन और सत्य का मण्डन किया। उन्होंने कहा– प्रत्येक आत्मा में परमात्मा की ज्योति जल रही है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है। ऊंच-नीच जातिगत नहीं, कर्मगत हैं। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी परमात्मत्व को उपलब्ध हो सकता है तो शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी। स्त्री भी और पुरुष भी। सब समान हैं। साधना करने का सभी को समान अधिकार हैं।

भगवान् महावीर की इस उद्घोषणा ने तत्कालीन तथाकथित धार्मिकों के गढ़ हिला दिए। साधारण व्यक्ति से लेकर बड़े-बड़े सम्राट् तक भगवान् महावीर के शिष्य बन गए। महावीर एक आन्दोलन बनकर उठे। उनका यश दिग्दिगन्तों में व्याप्त हो गया।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह और अनेकान्त भगवान् महावीर के प्रमुख उपदेश थे। हजारों नर-नारी भगवान् महावीर के धर्मसंघ में प्रव्रजित हुए और लाखों ने उनके सिद्धान्तों को आंशिक रूप से अपने जीवन में धारण किया।

निरन्तर तीस वर्षों तक भगवान् महावीर सत्य और अहिंसा की पताका फहराते हुए भारत-भू पर विचरण करते रहे। अन्ततः बहत्तर वर्ष की आयु में कार्तिक अमावस की रात्रि में वे इस नश्वर देह का त्याग करके मोक्ष में जा विराजे। महावीर की बिदाई ने सर्वत्र उदासी फैला दी। उस क्षण देवराज इन्द्र ने प्रगट होकर साश्रुनयन महावीर-उपासकों से कहा– "यह रात्रि उदासी की नहीं, प्रसन्नता की है। महावीर ने आज समग्र महावीरत्व को साधा है। अतः 'अन्तर दीप' जलाकर धर्म-ध्यान पूर्वक इस रात्रि के माहात्म्य को स्वीकार करो।"

भगवान् महावीर की बिदायगी की वह रात्रि अविस्मरणीय बन गई। निरन्तर अढ़ाई हजार वर्षों से महावीर के उपासक कार्तिक अमावस की उस रात्रि को प्रकाश-पर्व मानकर धर्मध्यान पूर्वक बिताते हैं।

[२]
मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम
(वैदिक)

श्रीराम का जीवन विश्व के लिए आदर्श जीवन है। वे प्रकाश-पुरुष बनकर इस धरा पर अवतरित हुए थे। उन्होंने स्वयं प्रकाश को जीया और लोगों को जीना सिखाया। अधर्म रूपी अन्धकार उनके उदय से नष्ट हो गया। वे हजारों वर्षों से अधर्म पर धर्म और अन्धकार पर प्रकाश की विजय के प्रतीकपुरुष के रूप में स्वीकृत हैं।

श्रीराम अयोध्या-नरेश दशरथ के पुत्र और माता कौशल्या के अंगजात थे। लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न भी दशरथ के पुत्र थे। चारों भाइयों में परस्पर आदर्श प्रेम था। श्रीराम बचपन से ही उत्तम गुणों के आकर थे। वे अपने माता-पिता और गुरु को भगवान् की तरह मानते थे। संत कवि तुलसीदास के शब्दों में–

प्रात काल उठि के रघुनाथा।
मात-पिता-गुरु नावहि माथा॥

शिक्षा-दीक्षा की पूर्ति के पश्चात् श्रीराम ने अपने अनुज लक्ष्मण के साथ मिलकर राक्षसों से ऋषियों-मुनियों की रक्षा की। राजसी सुविधाओं को त्यागकर वे अकिंचन मुनियों-ऋषियों के चरणों में रहते। जंगल और महल उनके लिए समान थे। मिथिलानगरी में राजा जनक ने अपनी पुत्री सीता का स्वयंवर रचा। निर्धारित शर्तानुसार स्वयंवरविजेता को शिव के प्रचण्ड धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ानी थी। आगंतुक सभी नरेशों के उक्त शर्त पर पराजित हो जाने के बाद श्रीराम ने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई। फलस्वरूप धनुष टूट गया। सीता ने श्रीराम के गले में जयमाला डाल दी।

राजा दशरथ ने अपने पुत्र श्रीराम के राज्यसिंहासन देने की घोषणा की। लेकिन श्रीराम की विमाता कैकेयी ने रंग में भंग डालते हुए दशरथ से पूर्वरक्षित अपने दो वर मांग लिए। उसने अपने पुत्र भरत के लिए राज्य मांगा और राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास। पिता के वचनों की आन पर श्रीराम ने स्वयं को कुर्बान कर दिया। वे हर्षित मन से जंगलों में चले गए। सीता और लक्ष्मण ने श्रीराम के कदमों का अनुगमन किया।

जंगल में मंगल मनाते श्रीराम अनेक वर्षों तक तपस्वियों का सा जीवन जीते रहे। वे ऋषियों-मुनियों का सत्संग करते हुए विचरते थे। एक बार लक्ष्मण के हाथ से रावण की बहन शूर्पणखा के पुत्र का वध हो गया। फलस्वरूप श्रीराम और लक्ष्मण को अनेक राक्षसी शक्तियों से निपटना पड़ा। सब सूचनाएं लंकाधिपति रावण को ज्ञात हुईं। रावण अपने समय का प्रबल पराक्रमी राजा था। वह दुष्ट और अहंकारी था। उसने छल-बल से श्रीराम की अर्द्धांगिनी सीता का अपहरण कर लिया। श्रीराम और लक्ष्मण सीता की खोज में वन-दर-वन भटकने लगे। सुग्रीव और भक्तराज हनुमान् की सहायता से सीता का पता लगाया गया। विशाल समुद्र को लांघकर श्रीराम और लक्ष्मण, सुग्रीव की सेना व हनुमान् सहित लंका पहुंचे।

मर्यादा के प्रतीक स्वरूप श्रीराम ने रावण के पास संधि-प्रस्ताव भेजा और सीता को लौटाने की बात कही। अपने को विश्वविजेता समझने वाले रावण ने श्रीराम का प्रस्ताव ठुकरा दिया। इस पर रावण का भाई विभीषण उसे छोड़कर श्रीराम के चरणों में आ गया।

राम और रावण के मध्य भीषण संग्राम हुआ। इस युद्ध में अधर्म का प्रतीक रावण अपने भाइयों, पुत्रों और अजेय सेना सहित मारा गया। धर्म और मर्यादा के प्रकाशपुञ्ज श्रीराम की विजय हुई। तब तक श्रीराम का चौदह वर्ष का वनवास-काल भी पूर्ण हो चुका था। श्रीराम सीता, लक्ष्मण, हनुमान और सुग्रीव सहित अयोध्या लौट गए।

श्रीराम का अयोध्या-आगमन कार्तिक मास की अमावस के दिन हुआ। सम्पूर्ण अयोध्या नगरी को दुल्हन की भांति सजाया गया था। द्वार-द्वार और दीवार-दीवार पर दीप-मालाएं प्रज्ज्वलित की गई थीं। व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में श्रीराम के स्वागत का उल्लास था। यह स्वागतोत्सव इतना भव्य था कि जन-जन के लिए यह दिन अविस्मरणीय बन गया। और युग पर युग अतीत हो गए, आज तक कार्तिक अमावस का वह दिन भारत का जनमानस विस्मृत न कर सका है। आज भी प्रतिवर्ष इस दिन अपूर्व हर्षोत्सव मनाया जाता है।

कार्तिक अमावस के साथ श्रीराम की यादें जुड़ी हैं। यह दिन सम्पूर्ण विश्व को अधर्म पर धर्म की और अन्धेरे पर प्रकाश की विजय का संदेश और उपदेश देता है। विशेषकर भारतीय जनमानस के लिए यह दिन विशेष श्रद्धा और समर्पण का है। वह श्रीराम को उनके आदर्शों के कारण अपने हृदय-मंदिर में प्रतिष्ठित करके उनकी अर्चना-वन्दना करता है।

OOO

इन कथाओं में सबसे प्रमुख श्रीराम की कथा है। इस दिन रावण जैसे प्रबल पराक्रमी और अत्याचारी राजा रावण को पराजित करके श्रीराम अयोध्या लौटे थे। अयोध्यावासियों ने अपने प्रिय और पूज्य श्रीराम का स्वागत दीपमालाएं प्रज्ज्वलित करके किया था। दीपमालाओं के प्रज्ज्वलन के कारण उस दिन का नाम दीपावली विख्यात हुआ।

दूसरा प्रमुख कथानक है महाश्रमण महावीर का। विकट साधना से अपनी आत्मा में परमात्मा को अवतरित करके तथा संसार को सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह तथा अनेकान्त का महाप्रकाश बांट कर, इसी दिन श्रमण महावीर ने मोक्ष के लिए महाप्रयाण किया था। इन्द्र के निर्देश पर देवों और मनुष्यों ने मिलकर उस रात में दीपमालाएं प्रज्ज्वलित करके श्रमण महावीर के सम्मान में अपनी श्रद्धा-अर्घ्य अर्पित की थी।

भगवान् महावीर का अर्हन्त अवस्था प्राप्त करना, समस्त जगत् को अहिंसा धर्म का पावन मंगलमय उपदेश देकर सन्मार्ग दिखाना, और इसी लोककल्याणकारी कार्य को करते हुए सिद्ध-बुद्ध-मुक्त (निर्वाण) अवस्था को प्राप्त करना– यह सब भगवान् महावीर की वैयक्तिक उपलब्धि नहीं है, अपितु समस्त मानव-जाति की परम उपलब्धि है। यह घटना युगान्तरकारी होने से उत्सव नहीं, महोत्सव बन कर आज भी प्रवर्तमान है।

इसी प्रकार राम का अयोध्या में लौटना सम्पूर्ण अयोध्या का उत्सव बन गया। महापुरुषों का होना ही उत्सव होता है। वे जहां होते हैं, वहीं सब की खुशियां बन कर जगमगाते हैं। वहां से चले जाने पर भी प्रकाश की स्मृति और प्रेरणा बन कर आलोक विकीर्ण करते हैं।

ऊपर प्रस्तुत दोनों कथानकों से प्रकाश-पुंज दीपावली की महत्ता तो सिद्ध होती ही है, यह भी संकेत मिलता है कि यह पर्व भोगविलास का साधन नहीं, अध्यात्मिक उच्चता प्राप्त करने का प्रेरणा-स्रोत है। दीपावली दीपों के प्रकाश का पर्व है। यह मानवीय असीम उदारता को प्रतिबिम्बित करता है। प्रकाश का स्वभाव है– संकीर्णता को छोड़कर महल हो या झोपड़ी, सर्वत्र अन्धकार दूर करना। समता रूपी धर्म का प्रतीक है दीपक। अतः दीपावली एक महान् धार्मिक उत्सव है।

जैन धर्म एवं वैदिक धर्म की सांस्कृतिक एकता

(एक सिंहावलोकन)

समन्वय-दिशा

'भारत की सांस्कृतिक एकता' कृति के इस तृतीय खण्ड में जैन व वैदिक धर्म के ग्रन्थो/ शास्त्रों में निरूपित धर्म-तत्त्व में परस्सपर कितनी समानता है— इसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है। इस में धर्म, आत्मा, अहिंसा, सत्य, सत्संग, साधु, ब्राह्मण, कर्म, बन्ध, मुक्ति आदि विविध तत्त्वों को चयनित कर, उन पर दोनों धर्मों के विचार-चिन्तन को प्रस्तुत किया गया है।

पाठक स्वयं अनुभव करेंगें— भेद में अभेद, अनेकता में एकता तथा विविधता में एकस्वरता भी मुखरित हुई है।
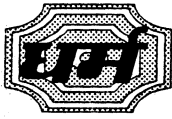
संसार में हजारों धर्म-सम्प्रदाय हैं। उनके मानने वाले तो लाखों -करोड़ों में हैं। धर्म की परिभाषाएं सब की भिन्न-भिन्न हैं। यह सब होने पर भी, धर्म की परिभाषा क्या है, किसे धर्म कहें— यह अनिर्णीत है।

जैन व वैदिक— इन दो धर्मों की धर्म-सम्बन्धी व्याख्या निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है। जैन धर्म के स्थानांग सूत्र में 10 बातों को धर्म के रूप में निरूपित किया गया है— क्षमा, मुक्ति आदि। साथ में इस धर्म पर चलने की प्रेरणा भी है और धर्म को जीव का परम रक्षक भी बताया गया है। वैदिक धर्म के ऋषि मनु भी दस बातों को 'धर्म' कहते हैं।

उक्त समानता के साथ-साथ धर्माचरण-सम्बन्धी प्रेरणादायक वचनों में भी समानता है। अन्त में 'जो धर्म की रक्षा करता है, वही रक्षित है'— इस तथ्य का प्रतिपादन भी दोनों धर्मों में समान विचारधारा पर किया गया है।

(1)

खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे।
संजमे, तवे, चिआए, बंभचेरवासे॥

(स्थानांग सूत्र-10)

— (1) क्षमा, (2) मुक्ति (अनासक्ति), (3) ऋजुता

(सरलता), (4)मार्दव (मृदुलता, कोमलता), (5)लाघव (नम्रता), (6) सत्य (7) संयम (8) तप, (9) त्याग, और (10) ब्रह्मचर्य— ये धर्म के 10 लक्षण हैं।

(2)

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्॥

(मनुस्मृति-7/92)

— (1) धैर्य, (2) क्षमा, (3) दम, (मानसिक संयम), (4) अस्तेय (अन्याय से किसी वस्तु का न लेना), (5) शौच (पवित्रता), (6) इन्द्रिय निग्रह (विषयों में प्रवृत्त होने से इन्द्रियों को रोकना), (7) धी (शास्त्रादि का तात्त्विक ज्ञान), (8) विद्या (आत्मबोधी ज्ञान), (9) सत्य (यथार्थ कथन), और (10) अक्रोध (क्रोध नहीं करना)— ये धर्म के 10 लक्षण हैं।

(2)

धम्मं चर। *(उत्तराध्ययन-सूत्र, 18/3)*

—धर्म का अनुसरण करो।

(3)

धर्मं चर। *(तैत्तिरीय उपनिषद्- 1/11/1)*

—धर्म का पालन करो।

(4)

इक्को हु धम्मो नरदेव ताणं,
ण विज्जइ अण्णमिहेह किंचि।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 14/40)

—राजन्! इस संसार में एक धर्म के अतिरिक्त कोई और रक्षक नहीं है।

(5)

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

(मनुस्मृति- 8/15)

— धर्म हत (विनष्ट) होने पर, अपना विनाश (उल्लंघन) करने वाले को नष्ट कर देता है और धर्म रक्षित होने पर अपना पालन करने वाले की रक्षा करता है।

❑❑❑

वैदिक व जैन- इन दोनों धार्मिक परम्पराओं में धर्म की व्याख्या, प्रेरणा एवं फल की जो निरूपणा प्राप्त होती है, वह परस्पर पर्याप्त साम्य लिए हुए है।

आत्मा

प्राय: सभी दर्शनों की जिज्ञासा का विषय 'आत्मा' रहा है। समस्त अध्यात्म-चिन्तन प्रमुखतया आत्मकेन्द्रित है। प्रत्येक प्राणी 'मैं' इस शब्द से जिस आत्म-पदार्थ का संवदेन करता है, वह कैसा है, उसका आकार-प्रकार क्या है, देह से पृथक् उसकी सत्ता है या नहीं, कैसे उसे जाना जाय— ये प्रश्न सब के मन में उठते रहे हैं। इन प्रश्नों के समाधान हेतु अनेकानेक प्रयत्न भी होते रहे हैं। सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों से तथा शरीर को तोल कर, चीर कर अनेक तरह से आत्मा को देखने का भी यत्न किया गया।

जैन धर्म में बताया गया है कि आत्मा को इन्द्रियों से, तर्क से तथा किसी यन्त्र आदि से देखा नहीं जा सकता। वह अमूर्त है। उसे ध्यान से अनुभव किया जाता है। वैदिक धर्म के ऋषियों का भी यही मन्तव्य रहा है।

दोनों ही धर्म यह मानते हैं कि दुष्प्रवृत्तियों में संलग्न आत्मा ही अपना शत्रु है और सदाचार में प्रवृत्त आत्मा परम मित्र है।

(1)

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ। मई तत्थ न गाहिया।

(आचारांग सूत्र-2/6)

— आत्मा के विषय में शब्द और तर्क नहीं चल सकते। बुद्धि उसकी थाह नहीं ले सकती।

(2)

नैषा तर्केण मतिरापनेया।

(कठोपनिषद्-2/9)

— यह आत्म-ज्ञान तर्क से प्राप्त नहीं होता।

(3)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(गीता-3/42)

— इन्द्रियां शरीर से परे हैं, मन इन्द्रियों से परे है, बुद्धि मन से परे है और बुद्धि से भी परे यह आत्मा है।

(4)

नो इन्द्रियगेज्झ अमुत्तभावा।

(उत्तराध्ययन सूत्र-14/19)

— आत्मा अमूर्त्त-निराकार है, अतः वह इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता।

(5)

न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः।

(महाभारत-12/288/18)

— आत्मा का इन्द्रियों द्वारा दर्शन नहीं किया जा सकता।

(6)

अप्पा मित्तममित्तं च ।

(उत्तराध्ययन सूत्र-20/37)

— आत्मा ही अपना मित्र और आत्मा ही अपना अमित्र-शत्रु है।

(7)

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।

(गीता-6/5)

— आत्मा ही अपना बन्धु है और वही अपना शत्रु है।

(8)

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।

(उत्तराध्ययन सूत्र-20/49)

— जितना बुरा अपना ही दुष्प्रवृत्त आत्मा कर सकता है, उतना बुरा कोई गला काटनेवाला शत्रु भी नहीं कर सकता।

(9)

योऽवमन्यात्मनाऽऽत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्याऽत्माऽपि न कारणम्॥

(महाभारत-1/74/33)

— जो स्वयं अपनी आत्मा को तिरस्कृत करके कुछ का कुछ समझता है और करता है, स्वयं का अपना आत्मा ही जिसका हित-साधन नहीं कर सकता है, उसका देवता भी भला नहीं कर सकते।

❑❑❑

वैदिक व जैन- दोनों धर्मों के ऋषियों, मुनियों, चिन्तकों ने आत्मा के सम्बन्ध में जिस सत्य की अनुभूति की, उसका सार उपर्युक्त शास्त्रीय उद्धारणों में प्रस्फुटित हुआ है। दोनों परम्पराओं का वैचारिक साम्य पठनीय व मननीय है।
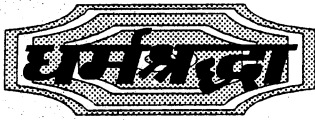
श्रद्धा आत्मा का दिव्य गुण है। इस गुण के विकास से ही 'सत्य' का साक्षात्कार व दर्शन हो पाता है। श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति ही 'ज्ञान' प्राप्त कर पाता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति सन्देह व शंकाओं से ग्रस्त होकर भ्रमित होता रहता है— इस तथ्य को वैदिक व जैन दोनों धर्मों में समानतया स्वीकार किया गया है।

(1)

सड्ढी आणाए मेहावी।

(आचारांग सूत्र-1/3/4)

— मेधावी अर्हत्-आज्ञा (सत्पथ) पर श्रद्धावान् होता है।

(2)

श्रद्धया सत्यमाप्यते।

(यजुर्वेद-19/30)

— श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

(3)

अदक्खु व दक्खुवाहियं सद्दहसु।

(सूत्रकृतांग-2/3/11)

— ओ देखने वालों! तुम देखने वालों (सत्य-द्रष्टा महापुरुषों) की बात पर विश्वास और श्रद्धा करके चलो।

(4)

आज्ञैव भव-भञ्जकी।

(योगसार)

— आज्ञा ही भव-आवागमन (जन्म-मरण) का नाश करने वाली है।

(5)

वितिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं।

(आचारांग सूत्र-1/5/5)

— विचिकित्सा— संशय उत्पन्न होने पर शांति नहीं मिल सकती।

(6)

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः।

(गीता-4/40)

— ज्ञानहीन, श्रद्धाहीन तथा संशयहीन व्यक्ति नष्ट हो जाता है। जो संशयात्मा है, उसके लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं तथा उसे सुख नहीं मिलता। ❑❑❑

सन्देह व संशय को दूर कर, 'श्रद्धा'/समर्पण के मार्ग पर चलने वाले साधक को ज्ञान की उपलब्धि या सत्य की प्राप्ति सहजतया होती है— इस तथ्य को एक स्वर में वैदिक व जैन-दोनों परम्पराओं ने अभिव्यक्त किया है।

अहिंसा आदि महाव्रत

आध्यात्मिक साधना के लिए संयम का मार्ग ही उपादेय होता है। इस मार्ग में कुछ मौलिक नियमों का पालन अत्यावश्यक होता है। इन नियमों को व्रत या महाव्रत के नाम से जाना जाता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह— ये पांच महाव्रत हैं, जिन्हें वैदिक व जैन- इन दोनों परम्पराओं में समानतया अंगीकार किया गया है।

(1)

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
ततो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-21/12)

— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह —इन पांच महाव्रत रूप जिनदेशित धर्म का आचरण विद्वानों को करना चाहिए।

(2)

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः।
एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥

(योगदर्शन सूत्र-2/30-31)

— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— ये पांच 'यम' हैं। जाति, देश, समय के प्रतिबन्ध से रहित, एवं सर्वदा-सर्वत्र इनका पालन करने पर, ये 'यम' ही 'महाव्रत' के रूप में प्रसिद्ध होते हैं।

(3)

अहिंसा सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं, चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

(मनुस्मृति-10/63)

— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शौच- पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह— संक्षेप में धर्म का यह स्वरूप चारों ही वर्णों के लिए मनु ने कहा है।

❑❑❑

अहिंसा आदि पांच धर्म सार्वभौमिक व सार्वजनिक हैं, क्योंकि इनका पालन सभी के लिए, प्रत्येक साधक के लिए सर्वदा करणीय है। जैन व वैदिक— इन दोनों धर्मों में भी इनके विषय में सहमति है— इसकी पुष्टि उपर्युक्त उद्धरणों में हो रही है।

अहिंसा परम धर्म है। समस्त धर्माचार्यों के प्रवचन अहिंसा-केन्द्रित होते हैं। अहिंसा एक सर्वभौम या विश्व धर्म है क्योंकि यह प्राणिमित्र की इच्छा– जिजीविषा (जीने की इच्छा) से जुड़ा हुआ है। जैसे अपना जीवन प्यारा होता है, वैसे ही दूसरों को भी प्यारा है। अपने प्राणों की रक्षा की तरह दूसरे के प्राणों की रक्षा भी हमारा कर्तव्य है, क्योंकि हमारी जैसी आत्मा ही सब प्राणियों में है। इस प्रकार अहिंसा-दर्शन आत्मवत् दृष्टि के सिद्धान्त पर आधारित है। अभय-दान इसी अहिंसा धर्म के विविध रूपों में से एक है। वैदिक व जैन– इन दोनों धर्मों में अहिंसा-दर्शन को समानतया आदर प्राप्त हुआ है।

(1)

सव्व-जग-जीव-रक्खण-दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

(प्रश्नव्याकरण सूत्र-1)

— भगवान् ने जगत् के सब जीवों की दया के लिए प्रवचन किया।

(2)

अहिंसार्थाय भूतानां, धर्म-प्रवचनं कृतम्।

(महाभारत-109/12)

— सभी प्राणियों की अहिंसा के लिए (अर्थात् किसी प्राणी का हिंसा न हो— इस दृष्टि से) धर्म का प्रवचन किया गया है।

(3)

अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया।

(सूत्रकृतांग सूत्र-1/11/10)

— अहिंसा के सिद्धान्त का सम्यक्ज्ञान ही यथार्थ विज्ञान है।

(4)

अहिंसा परमो धर्मः।

(महाभारत- 13/115/25)

— अहिंसा परम धर्म है।

(5)

तुमंसि नाम तं चेव, जं हंतव्वं त्ति मन्नसि।

(आंचारांग सूत्र-1/5/5)

— तू जिसको हन्तव्य-मारने योग्य मान रहा है, वह तू ही तो है।

(6)

सर्व-भूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

(गीता -6/31)

— सभी जीवों में मैं (परमेश्वर) ही एकत्व रूप में स्थित हूं।

(7)

ण हणे पाणिणो पाणे।

(उत्तराध्ययन सूत्र-6/7)

— किसी प्राणी का प्राण-घात न करो।

(8)

न हणे पाणिणो पाणे।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 6/7)

— किसी प्राणी का प्राणघात न करो।

(9)

मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।

(यजुर्वेद-13/47)

— किसी भी जीव की हिंसा न करें।

(10)

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।

(सूत्रकृतांग सूत्र-1/6/23)

— दानों में अभयदान सर्वश्रेष्ठ है।

(11)

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च, तपो दानानि चानघ।
जीवाभयप्रदानस्य, न कुर्वीरन् कलामपि॥

(भागवतपुराण-3/7/41)

— सब वेद, यज्ञ, तप और दान (सभी प्राणियों के प्रति किये जाने वाले) अभय-प्रदान के एक अंश जितने भी नहीं हैं। ❑❑❑

[illegible]

उपर्युक्त शास्त्रीय उद्धरणों से यह तथ्य स्वतः मुखरित हुआ है कि अहिंसा-दर्शन की मौलिक मान्यताओं में वैदिक व जैन— ये दोनों धर्म पूर्णतया एकमत हैं।

ब्रह्मचर्य परम दुष्कर तप है, अतः वह सर्वश्रेष्ठ तप है। विषय-भोगों में उच्छृंखल रूप में प्रवृत्त हो रही इन्द्रियों पर नियन्त्रण किए बिना ब्रह्मचर्य की साधना सम्भव नहीं। विषय-भोगों के प्रति तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, क्योंकि कामनाएं अनन्तानन्त हैं। यह तृष्णा परिणामतः दुःखप्रद ही होती है। इसलिए इस तृष्णा की भयंकरता को हृदयंगम कर, इन्द्रिय-विजय अर्थात् 'ब्रह्मचर्य' की साधना पर अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है। ब्रह्मचर्य बनाम कामभोग सेवन के सम्बन्ध में वैदिक व जैन —इन दोनों धर्मों में समान विचारों की बानगी प्रस्तुत है।

(1)

तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं।

(सूत्रकृतांग सूत्र-1/6/23)

— सभी तपों में सर्वोत्तम तप है— ब्रह्मचर्य।

(2)

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुः दममेवोत्तमं व्रतम्।

(महाभारत-12/160/14)

— चारों आश्रमों में 'दम' (इन्द्रिय-जय, ब्रह्मचर्य) को ही उत्तम व्रत माना गया है।

(3)

कामा दुरतिक्कमा।

(आचारांग सूत्र-1/2/5)

— कामनाएं दुरतिक्रमणीय हैं, अर्थात् उनकी पूर्ति कर पाना दुष्कर कार्य है।

(4)

कामः समुद्रमाविवेश।

(अथर्ववेद-3/29/7)

— काम समुद्र में प्रविष्ट होता है, अर्थात् कामनाएं समुद्र के समान असीम होती जाती हैं, उनका अन्त नहीं होता।

(5)

समुर्द्र इव कामोऽपरिमितः।

(काठक संहिता- 9/12)

— समुद्र की तरह असीम-अनन्त होता है— काम।

(6)

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 9/48)

— इच्छा-कामनाएं आकाश के समान अनन्त हैं।

(7)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।

(उत्तराध्ययन सूत्र-32/19)

— प्राणियों को जो दुःख है, वह विषय-भोग सम्बन्धी तृष्णा के कारण उत्पन्न है।

(8)

दुःखी सदा को विषयानुरागी।

(शंकर प्रश्नोत्तरी-13)

— दुःखी कौन है? जो विषय-भोगों में अनुरक्त है।

(9)

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोपमा।

(उत्तराध्ययन सूत्र-9/53)

— कामभोग कांटे हैं, विषतुल्य हैं। यही नहीं, वे आशीविष सर्प के समान (भयंकर) हैं।

(10)

विषाद् विषं किं, विषयाः समस्ताः।

(शंकर-प्रश्नोत्तरी-13)

— सबसे से बड़ा (अधिक भयंकर) विष क्या है? समस्त विषय-भोग ही विष हैं।

❑❑❑

[illegible]

सुख पाना और दुःख से छूटना सभी चाहते हैं। दुःखों का कारण है- विषयभोगों में आसक्ति। विषय-भोगों से विरत होने के लिए इन्द्रिय-विजय व ब्रह्मचर्य की साधना ही उपयोगी है। ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता को तथा विषय भोगों की निस्सारता को दोनों धर्मों (जैन व वैदिक) ने एकमत से स्वीकार किया है।

परमेश्वर सत्-चित्-आनन्दमय है। उक्त 'सत्' रूप ही 'सत्य' है। इस प्रकार 'सत्य' ईश्वरीय रूप का प्रतिनिधित्व करता है। सत्य का अवलम्बन लेकर ईश्वरत्व के निकट पहुंचा जा सकता है। अत: 'सत्य' एक विशिष्ट धर्म है। ईश्वरीय उपदेश भी 'सत्य' रूप में ही अभिव्यक्त होता है। सत्य जनकल्याणकारी होता है। व्यवहार में जनहितकारी वचन को ही सत्य माना गया है। सत्य का आराधक परमेश्वर का आराधक है।

उपर्युक्त भारतीय सांस्कृतिक विचार-धारा वैदिक व जैन —इन दोनों तटों को छूती हुई प्रवाहित होती रही है।

(1)
तं सच्चं खु भगवं।

(प्रश्नव्याकरण सूत्र-2/2)

— सत्य ही भगवान् है।

(2)
सत्यमेवेश्वरो लोके।

(वाल्मीकिरामायण, -2/109/13)

— सत्य ही संसार में ईश्वर है।

(3)

तमेव सच्चं णिस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं।

(*आचारांग सूत्र-1/5/5*)

— वही सत्य है, वही सन्देह रहित है, जो जिनों, राग-द्वेष विजेताओं, सर्वज्ञों द्वारा प्ररूपित हुआ है।

(4)

सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ।

(*आचारांग सूत्र-1/3/3/19*)

— सत्य की आज्ञा-सीमा में स्थित विद्वान् मृत्यु को जीत लेता है।

(5)

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।

(*ऋग्वेद-9/73/1*)

— सत्य की नौका धर्मात्मा को पार लगाती है।

(6)

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्।

(*वाल्मीकिरामायण- 2/109/11*)

— सत्यवादी इस लोक में अक्षय परम पद (मोक्ष) पाता है।

(7)

अन्नं भासइ अन्नं करेइ त्ति मुसावाओ।

(*निशीथचूर्णि- 3988*)

— कहना कुछ और करना कुछ, यही मृषावाद है।

(8)

अश्रद्धामनृते दधात्, श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।

(यजुर्वेद-19/77)

— प्रजापति ने असत्य में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा स्थापित की है।

(9)

मियं अदुट्ठं अणुवीय भासए।

(दशवैकालिक सूत्र-7/55)

— विचारपूर्वक मित-थोड़ा, अदुष्ट-निर्दोष- सुन्दर बोलना चाहिए।

(10)

निर्दुरमण्यऽ ऊर्जा मधुमती वाक्।

(अथर्ववेद-16/2/1)

— निर्दोष, रमणीय, ओजस्वी और मधुर वाणी बोलें।

(11)

सच्चं लोगम्मि सारभूयं।

(प्रश्नव्याकरणसूत्र-2/1)

— सत्य ही संसार में सारभूत है।

(12)

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

(ऋग्वेद-1/164/46)

— सत्य एक है, उसे ज्ञानी बहुत प्रकार से बताते हैं।

(13)

भासियव्वं हियं सच्चं।

(उत्तराध्ययन सूत्र-19/27)

— हितकारी सत्य बोलना चाहिए।

(14)

यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।

(महाभारत– 12/329/13)

— जो सब प्राणियों के लिए अत्यन्त हितकारी है, वही सत्य है।

(15)

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

(मनुस्मृति-4/138)

— सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, जो अप्रिय हो वैसा सत्य नहीं बोलना चाहिए।

❑❑❑

सत्य की महत्ता एवं सत्य के स्वरूप आदि के विषय में जैन व वैदिक– इन दोनों धर्मों में जो निरूपणा हुई है, वह उनकी समान विचारधारा को स्पष्ट प्रकट करती है।

दी गई वस्तु को छोड़कर, किसी की वस्तु को लेना, उस पर अधिकार जताना 'चोरी' है। यह एक निन्दनीय कार्य है। चोरी करने वाले का जीवन अनेक संकटों की आशंका से ग्रस्त रहता है। चोर सदैव तनाव-ग्रस्त व भयभीत रहता है। सुरक्षित स्थान की तलाश में वह भटकता रहता है और पापमय जीवन जीने के लिए विवश रहता है।

आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति आदि का संचय करना भी 'चोरी' है और एक सामाजिक अपराध है। अनावश्यक संचय करने वाला समाज के अन्य लोगों को उस संचित वस्तु के उपयोग से वंचित करता है जो न्यायोचित नहीं। उपर्युक्त विचारधारा को जैन व वैदिक— दोनों ही परम्पराएं एकमत से स्वीकारती हैं।

(1)

दंतसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं।

(उत्तराध्ययन सूत्र-12/28)

— दांत खुरचने के लायक (तुच्छ से तुच्छ) वस्तु को भी, बिना दूसरे के द्वारा दिये हुए, न ले।

(2)

अदिन्नमन्नेसु नो जहेज्जा।

(सूत्रकृतांग सूत्र-1/10/2)

— विना दी हुई दूसरों की किसी भी वस्तु को न ले।

(3)

सर्वतः शङ्कते स्तेनो मृगो ग्राममिवेयिवान्।

(महाभारत- 12/259/16)

— जिस प्रकार कोई हरिण या पशु ग्राम में (पशु-हत्यारों के घात से आशंकित होता हुआ) प्रवेश करता है, उसी प्रकार चोर (लोगों की आंखों से बचता हुआ) सर्वत्र सशंकित रहता है।

(4)

अदिण्णादाणं हर-दह-मरणभय-कलुस-तासण-परसंतिय-अभेज्जलोभमूलं कालविसमसंसयं अणिहुय-परिणामं।

(प्रश्नव्याकरण सूत्र-1/3/60)

— यह अदत्तादान (चोरी) का दुष्कर्म (किसी के धन आदि का) अपहरण (ही) है। यह कार्य हृदय-दाहक होता है, इसमें मृत्यु आदि का भय बना रहता है, यह कलुषित विचारों से ग्रस्त रहता है, तथा लोभ इसका मूल है। इस कार्य में लगे चोर-डाकू (भय व आशंका के कारण, छिपने के लिए) पर्वत आदि विषम-दुर्गम स्थान को तथा रात आदि के अन्धकारपूर्ण विषम समय को अधिक उपयुक्त-प्रशंसनीय मानते हैं।

(5)

अवतीर्णस्य ग्रहणं, परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद् यत्।
तत् प्रत्येयं स्तेयम्।

(आ. अमृतचन्द्र-कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-4/66/102)

— किसी के द्वारा नहीं दिए गए 'परिग्रह' (आवश्यकता से अधिक संग्रह) को, अपने प्रमाद (मनोविकारों) के कारण, ग्रहण करना 'चोरी' ही है।

(6)

तदेव हि धनं तस्य वपुर्वा सर्वथा मतम्।
यद् यस्य शासनस्थानां यथा समुपयुज्यते॥

(आ. जिनसेन-कृत हरिवंशपुराण-18/147)

— जिसका जितना धन या शरीर उसके अधीनस्थ (या साधर्मी) लोगों के उपयोग में आता है, उतने ही धन का या शरीर का वह व्यक्ति स्वामी कहलाने लायक है (अतिरिक्त का नहीं)।

(7)

यावद् भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(भागवत पुराण-7/14/8)

— जितने से अपना पेट भर जाए, उतनी मात्र संपत्ति पर प्राणियों का स्वत्व-अधिकार (न्यायोचित) है। जो उससे अधिक संपत्ति पर अपना अधिकार जताता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिए।

(8)

रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु।

(ऋग्वेद-7/140/10)

— चोरी करने वाला (समाज का) शत्रु है, उसका पतन हो।❑❑❑

चोरी क्या है, इसके क्या आयाम हैं— इसकी व्याख्या सामाजिक हित के सन्दर्भ में की गई है। जैन व वैदिक-दोनों धर्मों के आचार्यों ने जो सूक्ष्मतम चिन्तन प्रस्तुत किया है, उसमें एकस्वरता स्पष्ट होती है।

मोह-जनित ममत्व से परिग्रह-वृत्ति का संवर्धन होता है। ममत्व-भाव के कारण आसक्ति, तृष्णा बढ़ती जाती है और लोभ का वर्चस्व बढता है। यह लोभ समस्त अनर्थों का कारण बनता है। तृष्णा कभी शान्त नहीं होती और व्याकुलता बनी ही रहती है। इस प्रकार परिग्रह दु:खदायक ही सिद्ध होता है। अत: 'अपरिग्रह' की साधना श्रेयस्कर है जिसमें तृष्णा, आसक्ति लोभ का दमन कर सन्तोष, अनासक्ति व वैराग्य का संवर्धन करना होता है। इस विषय में जैन व वैदिक— दोनों धर्मों के चिन्तन की दिशा समान ही है।

(1)

नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो।

(प्रश्नव्याकरण सूत्र- 1/5)

— परिग्रह (आसक्ति) के जैसा दूसरा कोई बन्धन नहीं है।

(2)

जीवाः कामबन्धनबन्धनाः।

(महाभारत- 12/279/19)

— जीव कामनाओं के बन्धन में बंधे हुए हैं।

(3)

लोहो सव्वविणासणो।

(दशवैकालिक सूत्र-8/38)

— लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है।

(4)

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह!

(महाभारत -12/159/1)

— हे पितामह! लोभ समस्त अनर्थों का अधिष्ठान (घर) है।

(5)

जहा लोहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 5/17)

— ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है।

(6)

तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते।

(महाभारत- 12/276/7)

— धन के बढ़ने के साथ ही तृष्णा भी बढ़ती है।

(7)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-32/8)

— जो अकिंचन (अपरिग्रही) है, उसके लोभ नहीं होता। जिसके लोभ नहीं, उसकी तृष्णा नहीं होती। जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई, उसका मोह भी नष्ट हुआ समझो। जिसके मोह नहीं रहा, वह दुःख से मुक्त हो गया।

(8)

लोभं हित्वा सुखी भवेत्।

(महाभारत- 3/313/78)

— लोभ को छोड़ने पर (ही) सुख प्राप्त होता है।

(9)

ममत्तभावं न कहिं चि कुज्जा।

(दशवैकालिकचूर्णि- 2/8)

— कहीं भी ममत्व भाव नहीं करना चाहिए।

(10)

मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।

(ईशावास्योपनिषद्-1)

— किसी के धन पर लालच मत करो।

(11)

सुवण्ण-रूवस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
णरस्स लुद्धस्स ण तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥

(उत्तराध्ययन सूत्र- 9/48)

— कैलाश के समान सोने और चांदी के असंख्य पर्वत भी यदि पास में हों तो भी तृष्णाशील व्यक्ति की तृप्ति के लिए वे कुछ नहीं के बराबर हैं, क्योंकि तृष्णा आकाश के समान अनन्त होती है।

(12)

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।

(कठोपनिषद्- 1/127)

— मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता।

(13)

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं णालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे॥

(उत्तराध्ययन सूत्र- 9/49)

— चावल, जौ, सोना और पशुओं सहित समूची पृथ्वी भी एक मनुष्य के संतोष के लिए यथेष्ट नहीं है, यह जानकर मनुष्य विरक्ति से संतोष करे।

(14)

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

(महाभारत- 1/75/51)

— रत्नों से भरी सारी पृथ्वी, संसार का सारा सुवर्ण, सारे पशु और सुन्दर स्त्रियां किसी एक पुरुष को मिल जाएं, तो भी वे सबके सब उसके लिए पर्याप्त नहीं होंगे, वह और भी पाना चाहेगा। ऐसा समझ कर शान्ति धारण करे— भोगेच्छा से विरक्त हो जाए। ❑❑❑

परिग्रह का अर्थ है— आवश्यकता से अधिक संग्रह करने की अज्ञानमय विषय-आसक्ति। परिग्रही व्यक्ति सदा असंतुष्ट रहता है। उसकी तृष्णा बढती जाती है जो उसके लिए अनन्त दुःखपरम्परा को जन्म देती है। इसके विपरीत, विरक्ति, अनासक्ति, सन्तोष पर आधारित 'अपरिग्रह' के मार्ग को अपना कर व्यक्ति दुःख-मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। इस सन्दर्भ में उपर्युक्त उद्धरण जैन व वैदिक— दोनों धर्मों की समान विचारधारा का पोषण करते हैं।

*धर्म-साधना का साधन है— शरीर। कहा भी है— **शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।** इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उपयुक्त भोजन के अपेक्षा होती है। किन्तु भोजन कब करना चाहिए, कब नहीं, भोजन में क्या ग्राह्य वस्तुएं होती हैं— इस सम्बन्ध में भारतीय चिन्तकों व धर्म-गुरुओं ने पर्याप्त उपदेश दिए हैं। वैदिक व जैन— इन दोनों धर्मों में भोजन के सम्बन्ध में जो समान विचार-बिन्दु हैं— उन्हें दृष्टिगत रख कर कुछ शास्त्रीय उद्धरण यहां प्रस्तुत हैं।*

(1)

असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।

(दशवैकालिक सूत्र-9/2/22)

— जो संयमी साधक भोजन में अपने साथियों को संविभाग-हिस्सा नहीं देता, उसकी मुक्ति नहीं होती।

(2)

केवलाघो भवति केवलादी।

(ऋग्वेद-10/117/6)

— अकेला खाने वाला केवल पाप खाता है।

(3)

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्थाय अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए॥

(दशवैकालिक सूत्र-8/28)

— सूर्य अस्त होने से सूर्य उदय होने तक, मुमुक्षु सर्व प्रकार की खान-पान की मन से भी इच्छा न करे।

(4)

वर्जनीया महाराजन् ! निशीथे भोजनक्रिया।

(महाभारत)

— राजन्! रात में भोजन करना सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

❑❑❑

भोजन को बांट कर खाना और रात्रि-भोजन का त्याग करना— इन दो विचार-बिन्दुओं पर दोनों धर्मों की समान विचारधारा का निदर्शन उपर्युक्त उद्धरणों के माध्यम से हुआ है। उक्त वैचारिक समानता पठनीय व मननीय है।

सामान्यतः धन-सम्पत्ति को लोग सुख का साधन समझते हैं। किन्तु जब बुद्धि से अज्ञान का आवरण हटता है तो यह विवेक जागृत होता है कि भौतिक सुख-सम्पत्ति सुख कम, किन्तु दुःख अधिक देती है। धन बटोरने और उसे सुरक्षित रखने में होने वाली व्याकुलता व्यक्ति को कभी सुखी नहीं होने देती, अपितु सदैव तनाव, भय व आशंका से ग्रस्त रखती है।

असन्तोष, तृष्णा व लोभ के रहते हुए व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। इसके विपरीत, सन्तोषी व अनासक्त व्यक्ति थोड़े में ही सुखी रहता है। धर्माचरण व साधना के क्षेत्र में धन की कोई उपयोगिता है ही नहीं, क्योंकि वहां मन की पवित्रता व आत्मीय शुद्धि की ही प्रधानता होती है। उपर्युक्त विचारधारा का समर्थन वैदिक व जैन— इन दोनों धर्मों में हुआ है।

(1)

असंतुट्ठाणं इह परत्थ व भयंति।

(आचारांग-चूर्णि- 1/2/2)

— सन्तोष-रहित व्यक्ति को यहां-वहां, सर्वत्र भय बना रहता है।

(2)

सन्तोषमूलं हि सुखं, दुःखमूलं विपर्ययः।

(मनुस्मृति- 4/12)

— सुख का मूल सन्तोष है और दुःख का मूल तृष्णा।

(3)

एवमेगेसिं महब्भयं भवइ।

(आचारांग सूत्र- 1/5/2)

— यह परिग्रह ही लोगों के महाभय का हेतु है।

(4)

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम्।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम्॥

(महाभारत- 1/156/28)

— धन की इच्छा सबसे बड़ा दुःख है, किन्तु धन प्राप्त करने में तो और भी अधिक दुःख है। जिसे प्राप्त धन में आसक्ति हो गई हो, धन का वियोग होने पर उसके दुःख की तो कोई सीमा ही नहीं रहती।

(5)

अत्थो मूलमनत्थाणं।

(मरणसमाधि- 603)

— अर्थ (धन-संपत्ति आदि) तो अनर्थों का मूल है।

(6)

अर्थमनर्थं भावय नित्यम्।

(चर्पटमंजरी)

— धन संपत्ति को अनर्थकारी समझो।

(7)

धणेण किं धम्मधुराहिगारे।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 14/17)

— धर्माचरण में धन की क्या उपयोगिता है? (अर्थात् कुछ नहीं)।

(8)

अमृतत्वस्य नाशाऽस्ति वित्तेन।

(बृहदारण्यक उपनिषद्- 2/4/3)

— धन से अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति हो— ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

❑❑❑

तृष्णा व असन्तोष के साथ अधिकाधिक धन-सम्पत्ति का अर्जन दुःखदायी होता है। किन्तु सन्तोष व अनासक्ति से उसे सुखदायी बनाया जा सकता है। यह विचारधारा उपर्युक्त शास्त्रीय उद्धरणों में अभिव्यक्त हुई है, साथ ही जैन व वैदिक— इन दोनों धर्मों की एकस्वरता भी मुखरित हुई है।

संसार में अनेकानेक प्राणी हैं। उन्हें 84 लाख योनियों में वर्गीकृत किया जाता है। इन्द्रियों के आधार पर एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक 5 भेद हैं। गति के आधार पर पर मनुष्य, देव, नरक, व तिर्यञ्च— ये 4 भेद हैं। इन सब प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ कौन है— यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। सभी धर्मों व दर्शनों में एक स्वर से मनुष्य-जन्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। इसकी श्रेष्ठता का कारण यह है कि चिन्तन-मनन कर, आत्मिक उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर चढने के लिए उचित पुरुषार्थ करने का सुअवसर इसी मनुष्य-जन्म में मिल सकता है। इसी सुअवसर को क्रियान्वित करना मनुष्य-जन्म की सार्थकता है।

(1)

माणुस्सं खु सुदुल्लहं।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 20/11)

— मनुष्य-जन्म अति दुर्लभ है।

(2)

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि।
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥

(महाभारत- 12/299/20)

— (ऋषि वेद व्यास कहते है) मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताता हूं— मनुष्य-जन्म से अधिक कोई श्रेष्ठ जन्म नहीं है।

(3)

विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम्।

(ऋग्वेद 10/43/4)

— मनुष्य को सुखद व श्रेष्ठ ज्ञान-ज्योति प्राप्त हुई है।

(4)

पुव्वकम्मखयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 6/14)

— पूर्वसंचित कर्मों के क्षय (मोक्ष पाने) के लिए इस मनुष्य-देह को धारण करे, इस देह का उपयोग करे।

(5)

धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 14/25)

— धर्माचरण करने वाले व्यक्ति की ही रात्रियां (रात-दिन) सफल होती हैं।

(6)

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां, स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायण-स्मृतिः॥

(भागवतपुराण- 2/1/6)

— मनुष्य-जन्म का यही इतना लाभ है कि चाहे जैसे हो, ज्ञान से, भक्ति से या धर्म-निष्ठा से, जीवन को ऐसा बना लिया जाय कि मृत्यु के समय 'परमेश्वर' स्मृति में रहे।

(7)

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

(भागवत पुराण- 11/17/42)

— मनुष्य-योनि में श्रेष्ठतम 'ब्राह्मण' का यह जो देह मिला है, वह विषय-भोग जैसे तुच्छ काम में गंवाने के लिए नहीं है, अपितु तपस्या कर और मरने के बाद अनन्तसुख (मोक्ष) की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ करने के लिए प्राप्त हुआ है।

❑❑❑

मनुष्य-जन्म की श्रेष्ठता व दुर्लभता को वैदिक व जैन-दोनों धर्मों में मुक्तकंठ से स्वीकारा है। संयमी जीवन जीकर, मोक्ष-हेतु पुरुषार्थ किया जाए, तभी इस मनुष्य-जन्म की श्रेष्ठता सार्थक होगी— इस विचारधारा का दोनों धर्म समर्थन करते हैं।
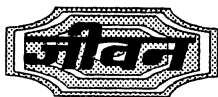
प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। जिन वस्तुओं से उसे सुख मिलता है, वे उसे प्रिय लगती हैं। जिनसे दुःख मिलता है, वे उसे अप्रिय लगती हैं। इस संसार में अनेक वस्तुएं लोगों को प्रिय लगती हैं तो अनेक अप्रिय भी, किन्तु उन सब में जो सबसे अधिक प्रिय वस्तु है, वह है— जीवन। सभी प्राणी जीवन चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। किन्तु यह जीवन अनित्य होता है। इस विनश्वर जीवन में धर्माचरण किया जाय तो भावी जीवन सुखमय हो सकता है। सभी धार्मिक परम्पराओं में इस सत्य को एक स्वर में अभिव्यक्त किया गया है।

(1)

सव्वेसिं जीवियं पियं।

(आचारांग सूत्र- 1/2/3)

— सब को अपना जीवन प्रिय होता है।

(2)

सर्वो जीवितुमिच्छति।

(योगवाशिष्ठ)

— सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं।

(3)

न ह्यात्मनः प्रियतरं किञ्चिद् भूतेषु निश्चितम्।
अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत॥

(महाभारत- 11/7/27)

— अपनी आत्मा, अपने जीवन से अधिक प्यारी वस्तु प्राणियों की नहीं होती। सभी प्राणियों के लिए सबसे अधिक अनिष्टकारी कोई वस्तु है, तो वह है— मृत्यु।

(4)

अमेध्यमध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।
सदृशी जीवने वाञ्छा, तुल्यं मृत्यु-भयं द्वयोः॥

(गीता रहस्य)

— इन्द्र में और अमेध्य-विष्ठा-गत कीडे में, दोनों में जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय समान है।

(जीवन की अनित्यता)

(5)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 18/13)

— यह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक की तरह चंचल (अनित्य) है।

(6)

नायमत्यन्तसंयोगो लभ्यते जातु केनचित्।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित्॥

(महाभारत- 12/28/52)

— किसी को भी ऐसा कोई संयोग प्राप्त नहीं है जो नित्य हो और किसी संयोग की बात तो दूर, यह जो शरीर का संयोग हमें प्राप्त हुआ है, वह भी नित्य नहीं होता।

(7)

एक्को हु धम्मो नरदेव ताणं, ण विज्जइ अण्णमिहेह किंचि।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 14/40)

— एक धर्म को छोड़कर और कोई ऐसा नहीं है जो जीवन में हितकर-रक्षक होता है।

(8)

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता- 2/40)

— जीवन में धर्म का थोड़ा-सा भी पालन व्यक्ति की महाभय से रक्षा करता है।

❑❑❑

प्रत्येक प्राणी में विद्यमान जिजीविषा (जीने की चाह), जीवन की अनित्यता एवं जीवन में मात्र धर्मानुष्ठान की श्रेयस्करता— इन तीनों को वैदिक व जैन— दोनों धर्मों ने अपने उद्‌बोधन-उपदेशों में रेखांकित किया है।

●

जीवन एक यात्रा है। मृत्यु एक पड़ाव है। इस यात्रा का लक्ष्य होता है— संसार-मुक्ति। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अन्तर्जागरण, अप्रमाद, संयम-तप की साधना अंगीकार करनी होती है। अन्यथा, यात्री लक्ष्य से च्युत हो जाता है और अनन्तानन्त काल तक यात्रा में ही भटकता रहता है। इसी तथ्य की अभिव्यक्ति वैदिक व जैन— इन दोनों धर्मों के साहित्य में हुई है।

(1)

अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि।

(आवश्यक सूत्र- 4/प्रतिक्रमणपाठ)

— मैं अमार्ग-असत्मार्ग का परित्याग करता हूं, मार्ग- सन्मार्ग को स्वीकार करता हूं।

(2)

दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।

(यजुर्वेद- 4/28)

— मुझे दुष्कर्मों से बचाकर सत्कर्मों में दृढ़ता से स्थापित कीजिए।

(3)

असतो मा सद्गमय।

(बृहदारण्यकोपनिषद्- 1/3/28)

— मुझे असत् (मार्ग) से सत् (मार्ग) की ओर ले चलो।

(4)

उट्ठिए नो पमायए।

(आचारांग सूत्र- 1/5/2)

— आत्मन्! उठो, प्रमाद न करो।

(5)

उत्तिष्ठत जाग्रत।

(कठोपनिषद्- 3/14)

— उठो, जागो।

(6)

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।

(सूत्रकृतांग- 1/8/3)

— प्रमाद कर्म (बन्धन) है, अप्रमाद अकर्म (बन्धन-निरोध) है।

(7)

प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।
तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि॥

(महाभारत-5/2/4)

— मैं प्रमाद को मृत्यु और अप्रमाद को अमरता कहता हूं।

❑❑❑

[illegible]

वर्तमान जीवन में ही भावी जीवन की रूपरेखा तैयार की जाती है। सन्मार्ग का आश्रयण, तथा सतत जागरूकता से भावी जीवन को प्रशस्त बनाया जा सकता है। उपर्युक्त उद्धरणों में वैदिक व जैन- दोनों धर्मों की समान विचारधारा प्रवाहित होते देख सकते हैं।

जीवन में सुख के दिन भी आते हैं तो दुःख के भी। उक्त सुख-दुःख का कारण क्या है या इनका प्रदाता या नियामक कौन है— यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। इसका समाधान वैदिक व जैन-दोनों धर्मों में किया गया है। जैन धर्म में स्वकृत कर्मों को ही सुख-दुःख का कारण माना गया है। वैदिक धर्म में भी, यद्यपि ईश्वर प्राणियों के सुख-दुःख का नियन्ता है, फिर भी वह प्राणियों द्वारा किये गये कर्मों के अनुरूप ही फल देता है— ऐसा माना जाता है। इस संदर्भ में, वैदिक व जैन— इन दोनों धर्मों के शास्त्रीय उद्धरण प्रस्तुत हैं जिनमें वैचारिक समता अभिव्यक्त होती है।

(1)

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ॥

(दशवैकालिक सूत्र- 4/8)

— जो साधक यतना-संयम या विवेक से चले, खड़ा हो, बैठे, सोए, खाए और बोले, उसके पाप कर्म का बंध नहीं होता।

(2)

यत् करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुस्व मदर्पणम्॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

(गीता- 9/27-28)

— अर्जुन! तुम जो करते हो, खाते हो, होमते हो, देते हो, तपते हो, वह सब मुझे अर्पण कर दो। अर्थात् यह सब तुम मुझे अर्पण करते हुए करो। इस प्रकार, तुम समस्त शुभ या अशुभ फलों वाले कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

(3)

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ॥

(दशवैकालिक सूत्र- 4/9)

— जो जगत् के सब जीवों को आत्मवत् समझता है, सब जीवों को सम भाव से देखता है, जो आस्त्रव (कर्म-आगमन) का निरोध कर चुका है, जो दमयुक्त (जितेन्द्रिय) है, उसके पाप कर्म का बंध नहीं होता।

(4)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(गीता- 5/7)

— जिसने योग साधा है, अन्तरतम को विशुद्ध किया है, मन और इन्द्रियों को जीता है और जो प्राणी मात्र को अपने जैसा ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है।

(5)

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।

(सूत्रकृतांग- 1/5/2/23)

— आत्मा ने जैसे कर्म किये हैं, संसार में उसी के अनुसार उसे फल मिलता है।

(6)

यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथैव प्रेत्य भवति।

(छान्दोग्य उपनिषद्- 3/14/1)

— यहां इस लोक में जो जैसा कार्य करता है, वह परलोक में वैसा ही फल पाता है।

(7)

कम्मसच्चा हु पाणिणो।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 7/20)

— प्राणी जैसे कर्म करते हैं, सचमुच वैसा ही फल पाते हैं।

(8)

अन्यदुप्तं जातमन्यद्, इत्येतन्नोपपद्यते।

(मनुस्मृति- 9/40)

— बोया जाए कुछ और ही, उत्पन्न हो कुछ और ही, ऐसा कभी नहीं होता।

(9)

सकम्मुणा विपरियासुवेइ।

(सूत्रकृतांग सूत्र- 1/7/11)

— (अज्ञानी) व्यक्ति अपने कर्म (असत् कर्म-पाप) से ही दुःखी होता है।

(10)

हिंस्रः स्वपापेण विहिंसितः खलु, साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते॥

(भागवत पुराण- 10/8/31)

— पापी अपने पाप से ही नष्ट हो जाता है। साधु पुरुष अपनी समता से ही भयविमुक्त हो जाता है।

(11)

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 13/23)

— कर्म अपने कर्ता के पीछे-पीछे चलता है।

(12)

यथा धेनु-सहस्त्रेषु, वत्सो याति स्वमातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म, कर्तारमनुगच्छति॥

(महाभारत- 12/181/16)

— हजारों गायों में भी जैसे बछड़ा सीधा अपनी माता के पास जाता है, उसी प्रकार कर्म भी अपने कर्ता का अनुगमन करता है।

(13)

कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 4/3)

— बिना भोगे, किये हुए कर्मों से मोक्ष-छुटकारा नहीं होता।

(14)

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्।

(विवेकचूडामणि)

— अच्छे-बुरे किये हुए कर्म निश्चित रूप से भोगने ही पड़ते हैं।

(15)

संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणे जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले ण बंधवा बंधवयं उवेंति॥

(उत्तराध्ययन सूत्र- 4/4)

— संसारी जीव अपने लिए और दूसरों के लिए जो साधारण भी कर्म करता है, उस कर्म के फल-भोग में कोई सम्बन्धी जन हिस्सा नहीं बंटाते।

(16)

सञ्चिनोत्यशुभं कर्म, कलत्रापेक्षया नरः।
एकः क्लेशानवाप्नोति, परत्रेह च मानवः॥

(महाभारत- 12/171/25)

— मनुष्य स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जनों के लिए पाप--कर्मों का संचय करता है, किन्तु इस लोक में और परलोक में उसे अकेले ही उन (पाप-कर्मों) का फल भोगना पड़ता है।

(17)

जीवेण सयं कडे दुक्खं वेदेइ न परकडे।

(भगवती सूत्र- 1/2)

— जीव अपना ही किया हुआ दुःख भोगता है, दूसरे का किया हुआ नहीं।

(18)

दुक्खे केण कडे? अन्तकडे, केण? पमायेण।

(भगवती सूत्र- 17/5)

— दुःख किसने किया? आत्मा ने किया। किस तरह किया? प्रमाद से किया।

(19)

आत्मानमेव मन्यन्ते कर्तारं सुख-दुःखयोः।

(चरक संहिता)

— सुख और दुःख को अपना किया हुआ ही समझें।

(20)

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।
दुचिण्णा कम्मा दुच्चिणफला भवंति॥

(दशाश्रुत स्कन्ध- 6)

— अच्छे कर्मों के अच्छे फल होते हैं और बुरे कर्मों के बुरे फल।

(21)

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेनेति।

(बृहदारण्यकोपनिषद्- 3/2/13)

— पुण्य-कर्म से मनुष्य पवित्र और पाप-कर्म से अपवित्र बनता है।

(22)

कर्मभूमिरियं लोके,इति कृत्वा शुभाशुभम्।
शुभैः शुभमवाप्नोति, तथाऽशुभमथान्यथा॥

(महाभारत- 12/192/19)

— यह जगत् कर्म-भूमि है। इसमें मनुष्य शुभ कर्मों का शुभ और अशुभ कर्मों का अशुभ फल पाता है।

❑❑❑

जैसा बोए बीज, वैसा पाए फल— यह कहावत खेती में पूर्णतः चरितार्थ होती है। यही स्थिति कर्मवाद में भी मान्य है। जैसा कर्म रूपी बीज बोएंगें, वैसा ही सुख-दुःख आदि फल प्राप्त होंगें। कर्मवाद वैज्ञानिक कार्यकारण सम्बन्ध से जुड़ा है जिसकी व्याख्या वैदिक व जैन— दोनों धर्मों में एक समान वैचारिक दृष्टि के साथ की गई है।
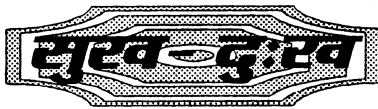
सुख- दुःख सांसारिक जीवन के अंग हैं। किन्तु सुख सब को प्रिय है और दुःख नितान्त अप्रिय। ये सुख-दुःख क्या हैं? स्वयंकृत हैं। प्रशस्त भावों से भावी सुखमय जीवन का और अप्रशस्त भावों से दुःखमय जीवन का निर्माण होता है। श्रेष्ठ आत्मा वह होती है जो सुख-दुःख दोनों ही स्थितियों में समभाव से रहती है। न सुख में मदमत्त और न ही दुःख में विषादग्रस्त। ऐसी आत्मा ही परम योगी है। इस विचारधारा को वैदिक व जैन– दोनों धर्मों में समर्थन मिला है।

(1)

सव्वे पाणा सुहसाया, दुहपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो।

(आचारांग सूत्र- 1/2/3)

— सभी प्राणियों को सुख अच्छा लगता है, दुःख बुरा, जीवन प्रिय है, मृत्यु अप्रिय।

(2)

दुःखादुद्विजते सर्वः, सर्वस्य सुखमीप्सितम्।

(महाभारत- 12/139/62)

— सब जीव सुख चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं।

(3)

किंभया पाणा ? दुक्खभया पाणा।

(स्थानांग सूत्र- 3)

— प्राणियों को किसका भय है ? दुःख का।

(4)

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 20/37)

— दुःख और सुख का करने वाला और न करने वाला स्वयं आत्मा ही है।

(5)

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्।

(महाभारत- 12/181/14)

— दुःख और सुख आत्मा का ही किया हुआ है।

(6)

का अरई के आणंदे।

(आचारांग सूत्र- 1/4/3)

— ज्ञानी के लिए अरति क्या है और आनन्द क्या है ? (अर्थात् ज्ञानी विषाद या आनन्द के क्षणों में एक जैसा रहता है।)

(7)

सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः।

(गीता- 6/32)

— सुख हो या दुःख, दोनों को जो समान समझता है, वह परम-उत्कृष्ट योगी माना गया है। ❑❑❑

सुख-दुःख के विषय में वैदिक व जैन- दोनों धर्मों में पर्याप्त चिन्तन हुआ है। उसमें निहित विचार-साम्य को उपर्युक्त उद्धरणों में स्पष्ट पढा जा सकता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिकता मनुष्य को परस्पर-संगठित होने के लिए प्रेरित करती है। मैत्री भावना सामाजिकता को नया आयाम देती है। किन्तु वैर भावना सामाजिकता की विघातक है। यह व्यक्ति-व्यक्ति में दूरी को बढ़ाती है और समाज के ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करती है। इस चिन्तन के आलोक में वैदिक व जैन— दोनों धर्मों में कल्याणकारी उद्बोधन दिए गए हैं।

(1)

मित्ती मे सव्वभूएसु।

(आवश्यक सूत्र- वंदित्तु, 50)

— प्राणी मात्र से मेरी मैत्री हो।

(2)

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

(यजुर्वेद-36/18)

— हम सबको मित्र की दृष्टि से देखें।

(3)

मेत्तिं भूएसु कप्पए।

(उत्तराध्ययन सूत्र-6/2)

- सब जीवों पर मित्र भाव रखें।

(4)

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।

(अथर्ववेद, 19/15/6)

–सब दिशाएं मेरी मित्र हों।

(वैर)

(5)

वेरं मज्झं न केणइ।

(आवश्यक सूत्र, वंदित्तु सूत्र)

– मेरा किसी से वैर नहीं है।

(6)

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्।

(मनुस्मृति-6/47)

–इस अनित्य शरीर को लेकर किसी के साथ वैर न करो।

(द्वेष-विरोध)

(7)

न विरुज्झेज्ज केणइ।

(सूत्रकृतांग सूत्र-1/11/12)

–किसी के साथ विरोध नहीं करना चाहिए।

(8)

मा नो द्विक्षत कश्चन।

(अथर्ववेद-12/1/23)

–हम किसी से द्वेष न करें। □□□

[illegible]

मैत्री करणीय है और वैर-विद्वेष-विरोध त्याज्य हैं। भारतीय संस्कृति के इस शाश्वत कल्याणकारी उद्बोधन को वैदिक व जैन– दोनों धर्मों ने पर्याप्त प्रचारित-प्रसारित किया है और मानवता को विनाश से बचाने का सत्प्रयास किया है।

सामाजिक जीवन में देखा गया है कि मध्यस्थ व्यक्ति का सभी आदर करते हैं। परस्पर-विरोधी दल भी उस पर विश्वास व आस्था रखते हैं। इसका कारण यह है कि मध्यस्थ पूर्णतः तटस्थ होता है। वह न किसी के प्रति पक्षपात करता है और न ही विद्वेष। इसी मध्यस्थता को आध्यात्मिक/धार्मिक क्षेत्र में 'समत्व' नाम से अभिहित किया गया है। समत्व भाव से युक्त व्यक्ति की दृष्टि सभी व्यक्तियों, सभी प्राणियों में अपनी जैसी अभिन्न चैतन्य स्वरूप आत्मा को देखती जानती है, उन्हें आत्मीय, परकीय, मित्र या शत्रु के रूप में मानती-समझती नहीं है। इसी समत्व-दृष्टि के विकसित होने पर वीतरागता की या परमयोगी व गीता के स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त होती है। जैन व वैदिक धर्मों में इस समत्व/समभाव को समान रूप से अत्यन्त आदर दिया गया है।

(1)

अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए।

(दशवैकालिक सूत्र-10/5)

- छहों कायों के (एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक) समस्त जीवों को अपने समान समझो।

(2)

सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथाऽऽत्मनि।

(महाभारत, 12/167/9)

–सभी प्राणियों से आत्म-तुल्य व्यवहार करे।

(3)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता-6/32)

–अर्जुन! परम योगी वह है, जो सर्वत्र आत्मोपम-समता का दर्शन करता है और सुख व दुःख को भी समान भाव से देखता है।

(4)

समयाए समणो होइ।

(उत्तराध्ययन सूत्र-25/32)

– समता का आचरण करने से ही श्रमण होता है।

(5)

समत्वं योग उच्यते।

(गीता-2/48)

–समत्व (समता) ही योग (आध्यात्मिक उच्च स्थिति) है।

(6)

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो णिंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-19/91)

– साधु वह है जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और सम्मान-अपमान में समभाव रखे।

(7)

ये न हृष्यन्ति लाभेषु, नालाभेषु व्यथन्ति च।
निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः॥

(महाभारत, 12/158/33)

– वे महापुरुष समत्वदृष्टि वाले होते हैं जो लाभ में कभी फूले नहीं समाते और हानि में कभी व्यथित नहीं होते, और जो ममत्व-रहित एवं निरभिमानी होते हैं।

(8)

समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

(गीता-12/18-19)

– शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख— इन सब में जो समान रहकर आसक्ति से दूर रहता है, वह मेरा भक्त (साधक है)।

❑❑❑

समत्व श्रमण (जैन) संस्कृति का उत्स है। प्रत्येक जैन श्रमण (साधु) के लिए समत्व-सम्पन्न होना अत्यावश्यक है। वैदिक संस्कृति में भी गीता के स्थितप्रज्ञ की जो अवधारणा है, वह 'समत्व' पर ही आधारित है। इस प्रकार, वैदिक व जैन-इन दोनों धर्मों में किये गये समत्व-सम्बन्धी निरूपणों में उपलब्ध विचार-साम्य के कारण एकसूत्रता व एकस्वरता मुखरित होती है, जिसकी पुष्टि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होती है।

सुख-शान्ति का जीवन जीएं-यह सभी की अभिलाषा रहती है। किन्तु संसार है तो समस्याएं हैं, और समस्याएं सुख व शांति के स्थान पर दुःख व अशान्ति पैदा करती हैं। वास्तव में, यदि सुख-शान्ति पाना है तो दुःख व अशान्ति के मूल कारणों को जानकर उनका निराकरण करना होगा। भारतीय धर्माचार्यों ने दुःख के मूल को पहचाना था। ममत्व, आसक्ति, अहंकार आदि मनोविकार ही दुःख व अशान्ति के मूल कारण हैं। यदि सुख व शान्ति पाना है तो ममत्व आदि विकारों पर विजय पाना तथा उन्हें निर्बल व निर्मूल करना आवश्यक है। प्रायः भौतिक साधनों को सुख-शान्ति का साधन समझा जाता है। किन्तु वे साधन व्यक्ति को संतुष्टि नहीं दे पाते, और दुःख के कारण बनते हैं। उपर्युक्त शाश्वत सत्य की उद्घोषणा में जैन व वैदिक -दोनों धर्मों की सहभागिता रही है।

(1)

निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिनिव्वुइ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-35/21)

-ममत्व व अहंकार से रहित, वीतराग तथा निरास्रव होकर, केवल ज्ञान (सर्वज्ञता) पाकर जीव शाश्वत निर्वृति (सुख) में लीन हो जाता है।

(2)

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः, स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता-2/71)

– जो पुरुष सब कामनाओं का त्याग कर, इच्छा, ममता और अहंकार से रहित होकर विचरता है, वही शान्ति पाता है।

(3)

न कामभोगा समयं उवेंति।

(उत्तराध्ययन सूत्र-32/101)

– काम-भोगों से शान्ति नहीं मिल सकती।

(4)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

(महाभारत-1/65/50)

– घी सींचने से जिस प्रकार अग्नि बढ़ती है, उसी प्रकार उपभोग से आत्म-शान्ति की जगह तृष्णा (और उससे उत्पन्न अशान्ति) और भी अधिक बढ़ती है। ❑❑❑

निष्कामता, निःस्पृहता व निरभिमानता- ये सुख, शान्ति की आधारशिलाएं हैं। कामभोगों के सेवन से शान्ति मिलती है-यह भ्रम है, अज्ञान है। वैदिक व जैन धर्म के उपर्युक्त शास्त्रीय उद्धरणों में उक्त विचारधारा का समान रूप से समर्थन हुआ है।

*व्यवहार में हम देखते हैं कि मात्र ज्ञान से अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती, उसके लिए तदनुरूप आचरण भी आवश्यक होता है। 'अग्नि' सम्बन्धी ज्ञान से रसोई का भोजन नहीं पक सकता है, अपितु अग्नि जलाकर उस पर खाद्य पदार्थ रखने व पकाने की क्रिया सम्पन्न करने से ही भोजन बनाया जा सकता है। इसी तरह, दवा के गुण आदि जानने से रोग नहीं दूर हो सकता, बल्कि दवा को खाने से ही रोग मिट सकता है। धार्मिक क्षेत्र में भी तात्त्विक ज्ञान के साथ-साथ तदनुरूप सदाचार का होना भी जरूरी है। इसीलिए कहा गया है-**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः,** अर्थात् ज्ञान व क्रिया- इनके समन्वय से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। आचरणहीन ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान-निधि का स्वामी होते हुए भी उस गधे के समान है जो चन्दन की लकड़ियों का भार ढोता हुआ भी उसकी शीतलता से लाभान्वित नहीं हो पाता। वैदिक व जैन- दोनों धर्मों ने उक्त चिन्तन को समर्थन दिया है।*

(1)

जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स।
एवं खु णाणी चरणेण हीणो, भारस्स भागी ण हु सुग्गईए॥

(विशेषावश्यक भाष्य-1158)

- जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार का ही भागी होता है, चन्दन की सौरभ व शीतलता उसे नहीं मिलती। उसी प्रकार, आचरणहीन व्यक्ति का ज्ञान भी केवल भार रूप ही है, सुगति का दाता नहीं।

(2)

शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि, नैवाबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम्।
नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी, स्वादं रसस्य सुचिरं न हि वेत्ति किंचित्॥

(*सूत्रकृतांग सूत्र-वृत्ति*)

– मात्र शास्त्रों में डूबे रहने वाला अज्ञानी व्यक्ति वस्तु-तत्त्व से उसी प्रकार अपरिचित रहता है, जिस प्रकार चिरकाल पर्यन्त विविध सरस पदार्थों में डूबी हुई कड़ुछी (चम्मच) उनके स्वाद से अनभिज्ञ रहती है।

(3)

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव॥

(*महाभारत, 2/55/1*)

– जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, केवल रटन्त विद्या से बहुश्रुत हो गया है, वह शास्त्र के मूल तात्पर्य को नहीं समझ सकता, ठीक उसी तरह जैसे कलछी दाल के रस को नहीं जानती।

(4)

हयं नाणं कियाहीणं।

(*विशेषावश्यक भाष्य-1159*)

–क्रियाहीन कोरा ज्ञान विनष्ट (हुए जैसा) हो जाता है।

(5)

वृत्ततस्तु हतो हतः।

(*महाभारत, 5/36/30*)

– चारित्र (सदाचार) से भ्रष्ट होने पर व्यक्ति स्वयं नष्ट हो जाता है।

❑❑❑

ज्ञानी के ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि वह सदाचारी भी हो। इस मान्यता को वैदिक व जैन दोनों धर्मों में स्वीकारा गया है। यह तथ्य उपर्युक्त उद्धरणों में मुखरित हुआ है।

स्नान दो तरह का होता है-शारीरिक व मानसिक या आध्यात्मिक। स्नान इसलिए किया जाता है ताकि शरीर पर संचित मैल को दूर किया जा सके। आध्यात्मिक स्नान भी आत्मा के पाप-मल को दूर कर उसे उज्ज्वलता प्रदान करता है। शारीरिक स्नान की अपेक्षा आत्मा रूपी तीर्थ में किये जाने वाले स्नान की श्रेष्ठता निर्विवाद है क्योंकि इससे बार-बार के देह-धारण से भी मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त होता है। वैदिक व जैन-दोनों धर्मों में इस आध्यात्मिक स्नान की महती उपयोगिता मानी गई है और स्नान की विविध सामग्रियों का विविध तरीकों से निरूपण किया गया है।

(1)

धम्मे हरए बंभे संति तित्थे, अणाविले अत्तपसण्णलेस्से।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-12/46)

-धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्या (उज्ज्वल परिणाम) मेरा निर्मल घाट है, जहाँ स्नान कर मैं मल-रहित और विशुद्ध होकर दोषों का त्याग करता हूँ।

(2)

अगाधे विमले शुद्धे, सत्य-तोये, धृति-ह्रदे।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे, सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम्॥

(महाभारत, 13/108/13)

– सत्य रूपी अगाध, निर्मल और शुद्ध जल से भरे हुए,धैर्य रूपी सरोवर से युक्त मानस (मन रूपी) तीर्थ में सत्व-सद्गुणों का आलम्बन लेकर स्नान करना चाहिए।

(3)

नोदक-क्लिन्न-गात्रस्तु, स्नात इत्यभिधीयते।
स स्नाति यो दम-स्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

(महाभारत, 13/108/9)

– जिसका शरीर जल से केवल भीग गया, वह वस्तुतः स्नात-स्नान किया हुआ नहीं कहा जा सकता। जो दम-संयम में स्नान करता है, वही बाहर से और भीतर से पवित्र है।

(4)

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेन्दियसंजदे निरावेक्खे।
ण्हाऊण मुणी तित्थे।

(बोध प्राभृत, 26)

–व्रत व सम्यक्त्व से शुद्धता को प्राप्त, पंचेन्द्रियजयी व निरासक्त (आत्मा) ही तीर्थ है, उसमें स्नान करें।

(5)

जाजले तीर्थमात्मैव।

(महाभारत, 12/255/36)

– हे महर्षि जाजले ! यह आत्मा ही तीर्थ है।

(6)

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचि।

(महाभारत, 12/186/17)

– समस्त तीर्थों का हृदय (प्राणभूत) तीर्थ है–शुद्धात्माओं का शुद्ध अन्तःकरण।

❑❑❑

[illegible]

दैनिक जीवन में प्रतिदिन स्नान की उपयोगिता सर्वविदित है। किन्तु ज्ञानी-विवेकी मनीषियों की दृष्टि में शारीरिक स्नान की अपेक्षा मानसिक स्नान को अधिक श्रेयस्कर व श्रेष्ठ माना गया है। इस आध्यात्मिक/मानसिक स्नान के द्वारा पवित्र होकर ही साधना के क्षेत्र में अग्रसर हुआ जा सकता है-इस सत्य को वैदिक व जैन –दोनों धर्मों ने समान रूप से एकस्वर से उद्घोषित किया है।

साधुत्व को मात्र एक विशिष्ट वेशभूषा में सीमित करना उचित नहीं है। वेशभूषा तो गौण है, साधुत्व की असली पहचान तो उसके विरक्ति आदि गुण हैं। इसीलिए कहा गया है- ***गुणेहिं साहू, अगुणेहिं असाहू,*** *अर्थात् गुणों से ही साधुत्व होता है, अन्यथा असाधुत्व ही है। वैदिक व जैन-दोनों धर्मों में उक्त सत्य को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है।*

(1)

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-25/31)

– कोई सिर मुंडाने से ही श्रमण नहीं होता और न ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण होता है। उसी प्रकार न वन में वास करने से कोई मुनि और न ही वल्कल-वृक्ष की छाल धारण करने से 'तापस' होता है।

(2)

मौनान्न मुनिर्भवति, नारण्यवसनान्मुनिः।
स्वलक्षणं तु यो वेद, स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते।।

(महाभारत, 5/43/60)

– जंगल में निवास करने से अथवा मौन धारण करने से कोई मुनि नहीं हो जाता, जो मुनि के नियमों को जानकर उनका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ मुनि है।

❑❑❑

साधुत्व आत्मीय गुण है, न कि देह का। भौतिक चिन्हों में भी साधुत्व निहित नहीं होता। वह तो आत्मीय उज्वलता से जुड़ी एक अवस्था है। उपर्युक्त उद्धरणों के माध्यम से वैदिक व जैन – इन दोनों धर्मों में मान्य साधुत्व-सम्बन्धी प्ररूपणा को समझा जा सकता है।

वर्ण व जाति के रूप में सामाजिक विभाजन की परम्परा प्राचीन काल से भारत में प्रवर्तमान है। उस विभाजन का आधार गुण-कर्म या जन्म हो- इस पर विचारकों में कभी-कभी मतभेद भी रहा है। किन्तु अनेक प्रसिद्ध भारतीय मनीषियों के अनुसार जाति का आधार जन्म नहीं होना चाहिए, गुण व कर्म होना चाहिए। वैदिक परम्परा की गीता में स्वयं श्रीकृष्ण का कथन है- ***चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*** *(गीता-) अर्थात् चारों वर्णों की रचना गुण-कर्म के अनुसार की गई है। जैन परम्परा भी प्रारम्भ के अनुसार ही सामाजिक विभाजन की पक्षधर रही है। जन्म से कोई ऊंच या नीच नहीं होता, गुण व कर्म के आधार पर ही कोई श्रेष्ठ या अधम होता है-इस मान्यता को वैदिक व जैन-दोनों धर्मों के साहित्य में रेखांकित किया गया है।*

(1)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-25/33)

– मनुष्य अपने कर्म (आचरण) से ही ब्राह्मण होता है एवं क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र भी कर्म से ही होता है।

(2)

तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्।

(महाभारत)

- (चाण्डाल और मच्छीमार आदि के घर में जन्मे) अधम कहे जाने वाले लोगों ने भी तपस्या से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया, इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है।

(3)

सक्खं खु दीसइ तवो-विसेसो।
न दीसइ जाइ-विसेस कोई॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-12/37)

-जाति की कोई विशेषता नहीं है, तपस्या का ही प्रभाव साक्षात् देखा जाता है।

(4)

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।

(मनुस्मृति-10/65)

-सदाचार के पालन से शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और बुरे आचरण से ब्राह्मण भी शूद्र।

❑❑❑

श्रेष्ठता का निर्धारण सद्गुणों व सदाचारों के आधार पर करणीय है, न कि उस वंश या कुल के आधार पर जहां वह व्यक्ति जन्मा है। यह तथ्य वैदिक व जैन — दोनों धर्मों के आचार्यों द्वारा समान रूप से स्वीकृत है, जिसकी पुष्टि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होती है।

ब्राह्मण जाति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। किन्तु ब्राह्मण कौन- इस विषय में जिज्ञासा स्वाभाविक है। क्या उसे जन्म-आधारित विशेषता माना जाए या गुण-विशेषों के आधार पर इसका निर्धारण किया जाय, इस संबंध में जैन व वैदिक- दोनों धर्मों में जो विशिष्ट चिन्तन हुआ है, वह प्रस्तुत है।

(1)

तवस्सियं किसं दंतं, अवचिय-मंस-सोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-25/22)

- जो तपस्वी, कृश एवं जितेन्द्रिय है, तप, साधना से जिसने अपना रक्त और मांस सुखा दिया है, जो सुव्रती है, जिसने क्रोध, मान, माया तथा लोभ से मुक्ति पा ली है, उसे हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(2)

तसे पाणे वियाणित्ता, संगहेण च थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-25/23)

– त्रस (चलने-फिरने वाले) और स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों को जानकर उनकी (मन, वचन व शरीर से) जो कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(3)

अलोलुयं मुहाजीविं अणगारं अकिंचणं।
असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं।

(उत्तराध्ययन सूत्र-25/28)

– जो लोलुप नहीं है, उदरपूर्ति के लिए संग्रह नहीं करता, घर-बार रहित है, जो अकिंचन/अपरिग्रही है, गृहस्थों में आसक्ति नहीं रखता, उसे हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(4)

जितेन्द्रियो धर्मपरः, स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशे यस्य, तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

(महाभारत 3/206/35)

– जो जितेन्द्रिय है, धर्मपरायण है, स्वाध्यायशील है, पवित्र है, और जिसने काम और क्रोध को वश में कर लिया है, उसे देवता 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(5)

अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
सर्वभूतात्मभूतो यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

(महाभारत-12/269/33)

– जो सब प्राणियों को अभय देता है, किसी से भयभीत नहीं रहता और जो सब प्राणियों को आत्म-तुल्य समझता है, देवता उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(6)

विमुक्तं सर्वसर्वङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम्।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

(महाभारत, 12/245/22)

–जो सभी आसक्तियों से रहित है, आकाश की तरह जिसकी वृत्ति निर्लिप्त है, अपरिग्रही है, एकाकी विचरणशील है और शान्त (स्वभावी) है, उसे देवता ब्राह्मण कहते हैं।

❑❑❑

ब्रह्म का अर्थ है-आत्मा या परमेश्वर। जिसमें आत्मीय श्रेष्ठगुण हों या परमेश्वरत्व की प्राप्ति में सक्षम सद्गुण हों-वहीं ब्राह्मण हो सकता है। वैदिक व जैन धर्म के आचार्यों ने इसी सत्य को अपनी-अपनी भाषा में अभिव्यक्त किया है।

त्याग एक सर्वश्रेष्ठ गुण है। किन्तु उसकी श्रेष्ठता या महनीयता तभी संभव है जब त्याग किसी पराधीनता में नहीं किया गया हो। वृद्धावस्था में जब इन्द्रियां शिथिल हों, तब व्यक्ति विषय-सेवन का त्याग करने को विवश हो जाता है। वह त्याग पराधीनता में किया गया होता है, अतः यथार्थ में वह 'त्याग' नहीं है। एक निर्धन व्यक्ति बहुमूल्य वस्तु नहीं खरीद सकता, अतः उसके द्वारा बहुमूल्य वस्तुओं का त्याग भी यथार्थ में 'त्याग' नहीं है।

जब त्याग में समत्व दृष्टि का आधार हो तो यह सोने में सुहागे की तरह अधिक प्रशंसनीय हो जाता है। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को बहुमूल्य, अधिक उपयोगी आदि समझ कर नहीं, अपितु अन्य वस्तुओं की तरह सामान्य समझ कर त्यागा जाता है। तब, सोने में और पत्थर में भेद-दृष्टि नहीं रहती। ऐसी स्थिति में पहुंचा व्यक्ति पत्थर को जैसे छोड़ता है, वैसे ही सुवर्ण को छोड़ता है।

त्याग व त्यागी के यथार्थ स्वरूप के विषय में जैन व वैदिक - इन दोनों धर्मों में एक जैसी विचारधारा प्रवर्तित है।

(1)

जे य कंते पिये भोये, लद्धे विप्पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोये, से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

(दशवैकालिक सूत्र-2/3)

- जो मिले हुए कान्त एवं प्रिय भोगों को स्वाधीनता से ठुकराता है,वही सच्चा त्यागी है।

(2)

रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा।

(महाभारत, 12/160/17)

– राग व द्वेष से रहित (पूर्ण-वीतरागता-समता से सम्पन्न) व्यक्ति का त्याग ही 'त्याग' है, अन्य का नहीं।

(3)

ते वन्द्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः, साधो ! यौवन-संकटम्॥

(योगवाशिष्ठ-2/88)

– जो आसानी से यौवन के संकट को पार कर जाते हैं, वे ही पुरुष इस धरा पर वन्दनीय हैं, महात्मा हैं।

(4)

समलेट्ठुकंचणो भिक्खू।

(उत्तराध्ययन सूत्र-35/13)

–भिक्षु पत्थर और सोने को समान देखता है।

(5)

समलोष्टाश्मकाञ्चनः।

(गीता-14/24)

–योगी (गुणातीत) वही है, जो पत्थर और सोने में समबुद्धि रखता है। ❑❑❑

जैन व वैदिक- इन दोनों धर्मों में त्याग को समान रूप से, समान वैचारिक पृष्ठभूमि में व्याख्यायित किया गया है। दोनों ही धर्मों में भोगप्रधान प्रवृत्ति की जगह, त्यागप्रधान प्रवृत्ति को महनीयता दी गई है।

भ्रमर का स्वभाव है कि वह किसी एक फूल से बंधकर नहीं रहता। वह रस-ग्रहण अनेक फूलों से करता है। इस भ्रामरी वृत्ति की एक विशेषता उल्लेखनीय है। वह यह है कि वह किसी भी फूल से थोड़ा-थोड़ा रस इतनी ही मात्रा में लेता है जितना लेने से फूल को कोई क्षति नहीं पहुंचती। वैदिक परम्परा में महर्षि दत्तात्रेय के अनेक गुरुओं में 'भ्रमर' की भी गणना की गई है। उन्होंने भ्रमर से यह शिक्षा ली थी कि किसी को बिना कष्ट दिये ही अपनी भिक्षा को प्राप्त किया जाय। (द्रष्टव्यः भागवत पुराण-11/8/9)। इसीलिए वैदिक व जैन-इन दोनों धर्मों में प्रत्येक साधु या मुनि के लिए यह अपेक्षित माना गया है कि वह मधुकरी/भ्रामरी वृत्ति अंगीकार कर भिक्षा ग्रहण करे। इसी तरह, राजा के लिए भी नीतिकारों द्वारा यह निर्देश दिया जाता रहा है कि कर/टैक्स की वसूली में भी यह मधुकरी वृत्ति अपनाई जाये।

(1)

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥

(दशवैकालिक सूत्र-1/2)

- भौंरा जैसे वृक्ष के पुष्पों को संक्लेश नहीं देता हुआ रस ग्रहण करता है, अपने को परितृप्त करता है, वैसे ही साधु अपनी जीवन-यात्रा निभाए, भिक्षा ग्रहण करे।

(2)

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद्, वृत्तिं माधुकरीं मुनिः॥

(भागवत पुराण, 11/8/9)

-संन्यासी को चाहिए कि वह गृहस्थों को किसी प्रकार का कष्ट न देकर भौरों की तरह अपना जीवन निर्वाह करे। वह अपने शरीर के लिए थोड़ा-थोड़ा भोजन कई घरों से ले।

(3)

यथा मधु समादत्ते, रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्यः, आदद्याद् अविहिंसया॥

(महाभारत, 5/34/17)

- भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ जैसे मधु-संग्रह करता है, वैसे ही राजा मधुकरी वृत्ति से किसी को कष्ट नहीं देता हुआ प्रजा से धन-संग्रह करे।

❑❑❑

भारतीय संस्कृति की दोनों धाराओं- वैदिक व जैन परम्परा में अहिंसा को जीवन के विविध प्रसंगों में महनीय स्थान दिया गया है। भिक्षु/मुनि की भिक्षावृत्ति हो या राजा की कर-वसूली, सर्वत्र अहिंसक रीति अपनाने की प्रेरणा दी गई है। मधुकर का रस-ग्रहण अहिंसक वृत्ति के सन्दर्भ में दृष्टान्त के रूप में मान्य किया गया है। यह दृष्टान्त प्रसंग के अनुरूप व सटीक है।

अध्यात्म के क्षेत्र में तात्त्विक ज्ञान की प्राप्ति हेतु श्रवण-मनन-निदिध्यासन की क्रमिक परम्परा है। व्यक्ति गुरु या आचार्य के मुख से धर्मोपदेश व तात्त्विक ज्ञान सुनता है, फिर उस पर चिन्तन-मनन एवं निदिध्यासन (ध्यान-एकाग्रता) करता है। इस प्रकार तत्त्व ज्ञान का प्रारम्भिक उपाय 'श्रवण' है। वैदिक व जैन- इन दोनों धर्मों में 'श्रवण' की महत्ता व उपयोगिता को रेखांकित किया गया है।

(1)

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जे सेयं तं समायरे॥

(दशवैकालिक सूत्र-4/11)

- कल्याण और पाप कर्म का ज्ञान सुनने से ही होता है। सुनकर दोनों को जानो और फिर जो श्रेयस्कर लगे, उसका आचरण करो।

(2)

सवणे नाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे।

(भगवती सूत्र-2/5)

- धर्म-श्रवण से तत्त्वज्ञान होता है, तत्त्वज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान से संयम की प्राप्ति होती है।

(3)

बोधाम्भःस्त्रोतसश्चैषा सिरा तुल्या सतां मता।
अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थमसिरावनिकूपवत्॥

(योगदृष्टिसमुच्चय, 53)

–निरन्तर धर्मश्रवण की इच्छा (सुश्रूषा) बोध रूपी जल के स्रोत की सिरा/भूमिवर्ती जलनालिका के समान है। इसके अभाव में सारा पूर्व–ज्ञान उस कूएं की तरह व्यर्थ है, जो जलनालिका–रहित भूमि में बना हुआ है।

(4)

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव, मृत्युं श्रुति–परायणाः॥

(गीता–13/25)

–जो नहीं जानते हैं, वे जानने वालों से सुनकर तत्त्व का विचार करते हैं। जो सुनने (धर्मश्रवण) में तत्पर रहते हैं, वे मृत्यु को तर जाते हैं।

(5)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।

(पंचतंत्र–3/104)

–धर्म के सार को सुनें और सुनकर उसे निश्चित करें।

(6)

श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम्।

(महाभारत,5/168/26)

– वृद्ध (ज्ञानी) व्यक्तियों को सुनना चाहिए, –ऐसा शास्त्र का निर्देश है।

❑❑❑

आत्म-कल्याण के भवन में प्रविष्ट होने के लिए प्रथम द्वार धर्म-श्रवण का है- इस मान्यता को वैदिक व जैन- दोनों धर्मों ने समान रूप से स्वीकारा है।

भारतीय संस्कृति में जीवन का प्रारम्भिक भाग विशेषतः अध्ययन के लिए समर्पित माना गया है। वैसे तो समस्त जीवन ही विद्या-अर्जन करते रहने की प्रेरणा शास्त्रों में दी गई है। ज्ञानार्जन का प्रमुख साधन अध्ययन/स्वाध्याय है। चाहे सामाजिक जीवन हो या चाहे आध्यात्मिक जीवन, स्वाध्याय की उपयोगिता सर्वदा बनी रहती है। वैदिक व जैन-दोनों धर्मों में स्वाध्याय की प्रेरणा दी गई है।

(1)

सज्झायम्मि रओ सआ।

(दशवैकालिक सूत्र-8/41)

– सदा स्वाध्याय में रत रहना चाहिए।

(2)

स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

(तैत्तिरीयोपनिषद्-1/11/1)

–शिष्य! स्वाध्याय में प्रमाद मत कर।

❑❑❑

जैन या वैदिक - दोनों धर्मों ने स्वाध्याय की उपयोगिता को स्वीकार कर प्रत्येक व्यक्ति को स्वाध्यायशील बनने की प्रेरणा दी है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति-व्यक्ति से समाज का गठन होता है और समाज के अनुरूप व्यक्ति को ढलना होता है। समाज में अच्छे-बुरे सभी तरह के लोग रहते हैं। अच्छे या सज्जन लोग वे होते हैं जो अपना हित कम, दूसरे के हित का अधिक ध्यान रखते हैं। कभी-कभी तो वे अपना अहित भी करके दूसरे का हित करते हैं। इसके विपरीत, दुर्जन लोग होते हैं जिनसे किसी दूसरे के हित या कल्याण किये जाने की सम्भावना नहीं होती। कभी कभी तो वे अपना अहित करके भी दूसरे का अहित करते हैं। सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति स्थापित रखने के लिए जैन व वैदिक- इन दोनों धर्मों में सज्जनों की संगति करने तथा दुर्जनों की संगति से बचने की प्रेरणा दी गई है। प्रेरक उपदेश में यह भी समझाया गया है कि संगति का प्रभाव पड़ता है। दुर्जन-संगति से पापमय जीवन-चर्या बन जाती है और वह अपने व अन्य व्यक्तियों के लिए अहितकारी सिद्ध होती है। इसके विपरीत, सज्जन की संगति से व्यक्ति में सज्जनता का संचार होता है और मंगलमय मार्ग प्रशस्त होता है।

(संगति फल) (1)

जो जारिसी य मेत्ती करेइ सो होइ तारिसो चेव।
वासिज्ज इच्छुरिया सारिया वि कणयादिसंगेण॥

(भगवती-आराधना, 343)

- जैसे लोहे की छुरी सुवर्णादिक का झाल देने पर सोने की

जैसी दिखाई देती है, वैसे ही मनुष्य जिसकी संगति या मैत्री करेगा, वैसा ही हो जाएगा (अर्थात् सज्जनों की संगति से सज्जन और दुर्जनों के संसर्ग से दुर्जन)।

(2)

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात्।
मध्यैर्मध्यमतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥

(महाभारत, 3/1/30)

– पुरुषों की बुद्धि नीचों की संगति से हीन (क्षीण) हो जाती है, मध्यम कोटि के लोगों के साथ संगति करने से मध्यम स्तर की हो जाती है, और उत्तम कोटि के लोगों के साथ संगति करने से उत्तम हो जाती है।

(3)

प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते।

(नीतिशतक, 63)

– प्रायः संसर्ग (संगति) के अनुरूप, अधम-मध्यम व उत्तम गुण हो जाते हैं।

(सत्संगति)

(4)

कुज्जा साहूहि संथवं।

(दशवैकालिक सूत्र-5/53)

– मुनि साधु-सभ्य जनों के साथ ही परिचय करें।

(5)

वसेव सज्जणे जणे।

(बृहत्कल्पभाष्य, 5719)

– सज्जनों की संगति में रहना चाहिए।

(6)

सद्भिरेव सहासीत, सद्भिः कुर्वीत संगतिम्।

(सुभाषित रत्नभाण्डागार, 336/3)

–सत्पुरुषों के साथ बैठना चाहिए। उन्हीं की संगति करनी चाहिए।

(7)

किं न स्यात् साधु-संगमात्।

(उत्तरपुराण, 62/250)

– सज्जनों की संगति से क्या-क्या (हितकारी कार्य) नहीं होते।

(8)

सतां सद्भिर्नाफलः संगमोऽस्ति।

(महाभारत, 3/297/47)

– सज्जनों की संगति कभी विफल नहीं जाती।

(9)

सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।

(नीतिशतक, 23)

– सज्जनों की संगति करने से ऐसा कौन-सा सुफल है जो व्यक्ति को नहीं प्राप्त होता?

(दुर्जन-संसर्ग)

(10)

खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए।

(उत्तराध्ययन सूत्र-1/9)

– क्षुद्र प्रकृति के (मूर्ख, दुर्जन) लोगों के साथ किसी प्रकार का संपर्क, हंसी-मजाक, क्रीड़ा आदि नहीं करना चाहिए।

(11)

न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथंचित्।

(महाभारत, 12/73/23)

– दुर्जनों/पापी लोगों के साथ किसी भी तरह मेलजोल नहीं बढ़ाना चाहिए।

(12)

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।

(नीतिशतक, 47)

– दुर्जन व्यक्ति भले ही विद्यावान् हो, उससे दूर रहना चाहिए। क्या मणि से शोभित सर्प भयावह नहीं होता?

❑❑❑

समाज में सुख-शान्ति बढ़े- इसके लिए अपेक्षित है कि सज्जनों की वृद्धि हो, दुर्जनों की कमी हो। इस दिशा में अग्रसर होने के लिए सत्संगति की उपयोगिता निर्विवाद है। सत्संगति में वृद्धि होने से सज्जनों की संख्या में स्वतः वृद्धि होती जाएगी। इस वैचारिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में वैदिक व जैन- दोनों धर्मों में सत्संगति करने व दुर्जन-संग न करने की समानतया प्रेरणा दी गई है।

इन्द्रिय-निग्रह

व्यक्ति जब जन्म लेता है तो उसकी जीवन-यात्रा उसी समय से प्रारम्भ हो जाती है जब इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यापार प्रारम्भ करती हैं। इन्द्रियों द्वारा विषयों के सेवन से व्यक्ति को संतुष्टि कभी मिलती नहीं, और व्यक्ति अमर्यादित उच्छृंखल रूप से विषय-सेवन में लीन हो जाता है। वह व्यक्ति इन्द्रियों का दास बन कर अस्वस्थता, विविध रोग, अशान्ति एवं विरोधपूर्ण प्रतिकूल परिस्थिति आदि में स्वयं को दु:खग्रस्त कर लेता है। तप:पूत ऋषियों-मुनियों ने उक्त दु:ख से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय बताया है-संयम व इन्द्रियजय। जितेन्द्रिय होने के लिए मन को अनुशासित करना जरूरी है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों का प्रेरक है। मनोजय होने पर इन्द्रियां स्वत: निष्क्रिय- शान्त हो जाती है। अभ्यास व वैराग्य के बल पर ही मन को वश में करना संभव हो पाता है। वस्तुत: व्यक्ति के भावी जीवन का मूल मन की विविध अवस्थाओं/परिणामों में ही निहित है। मन के प्रशस्त भाव सुखमय जीवन का और अप्रशस्त भाव दु:खमय जीवन का निर्माण करते हैं। मनोजयी व जितेन्द्रिय व्यक्ति ही योगसाधना का पात्र बनता है। वह जल में कमल की तरह निस्संग होकर सर्वत्र निर्लिप्त रहता हुआ क्रमश: दु:खमयी परम्परा का अंत करने में सफल होता है। इस वैचारिक मान्यता को वैदिक व जैन - दोनों धर्मों में स्वीकारा गया है।

(इन्द्रिय-वश्यता)

(1)

एवं वियारे अमियप्पयारे, आवज्जई इंदियचोरवस्से।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 32/104)

- इन्द्रिय रूपी चोरों के वशीभूत आत्मा को अनेक प्रकार के विकार (दोष) घेर लेते हैं।

(2)

हरन्ति दोषजातानि नरमिन्द्रियकिंकरम्।

(महाभारत, 13/51/16)

– जो व्यक्ति इन्द्रियों का दास (वशीभूत) है, उसे दोष (विकार) अपनी ओर खींच लेते हैं (दोषग्रस्त कर लेते हैं)।

(इन्द्रिय-गोपन)

(3)

यथा संहरते चायं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता- 2/158)

– कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को सर्वथा सिमिटा लेता है, उसी प्रकार अपने आपको इन्द्रिय-विषयों से जो हटा लेता है, उसी की प्रज्ञा बुद्धि-ज्ञान वास्तव में उत्तम है।

(4)

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे।

(सूत्रकृतांगसूत्र-1/8/16)

– जिस प्रकार कछुआ अपना अहित होता देखकर अपने अंगों को अपनी ही देह में समेट लेता है, उसी प्रकार विद्वान् (मुनि) ज्ञानपूर्वक अपनी आत्मा को पाप से बचाता रहे।

(5)

जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं...

(उत्तराध्ययन सूत्र-25/27)

– जिस प्रकार जल में कमल निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार, श्रेष्ठ व्यक्ति (ब्राह्मण) काम-भोगों से निर्लिप्त रहता है।

(6)

(संगंत्यक्त्वा) *लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।*

(गीता-5/10)

– जिस प्रकार पानी में कमल निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार निरासक्त व्यक्ति पाप-लिप्त नहीं होता।

(मनोनिग्रह)

(7)

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्म-सिक्खाइ कन्थगं॥

(उत्तराध्ययन सूत्र-23/58)

–मन साहसिक और भयंकर है, दुष्ट घोड़े की तरह इधर-उधर दौड़ लगाता है। धर्म-शिक्षा की लगाम डालकर मैं उसे अच्छे घोड़े की तरह वश में लाता हूँ।

(8)

मणुस्साहिदयं पुणिणं गहणं दुव्वियाणकं।

(इसिभासियाइं 1/8)

– मनुष्य का हृदय (मन) बड़ा गहरा होता है, इसे नियंत्रित कर पाना बड़ा कठिन होता है।

(9)

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव व सुदुष्करम्॥

(गीता-6/35)

– हे कृष्ण! मन बहुत चंचल है, मनुष्य को मथ डालता है, बड़ा बलवान् है। जैसे वायु को दबाना कठिन है, वैसे ही मैं मन को वश में करना बहुत कठिन मानता हूं।

(10)

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥

(गीता-6/35)

- (भगवान श्रीकृष्ण ने कहा)- हे महाबाहु अर्जुन! मन चंचल है, निःसंदेह उसे रोकना बड़ा कठिन है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य से उसको वश में किया जा सकता है।

(मानसिक चिन्तन)

(11)

परिणामादो बंधो।

(प्रवचनसार-2/88)

-परिणामों (विचारों) से ही बन्ध होता है।

(12)

रागी बंधइ कम्मं मुंचइ जीवो विरागसंपण्णो।

(मूलाचार-247)

-राग (परिणाम) से बन्ध होता है और वीतरागता से मुक्ति मिलती है।

(13)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।

(मैत्रायणी उपनिषद्-4/11)

- मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है।

(मनोजेताः)

(14)

जे एगं नामे से बहुं नामे।

(आचारांग सूत्र-1/3/4)

-जो एक (मन) को नत करता है-जीतता है, वह अनेक को जीतता है।

(15)

जितं जगत् केन ? मनो हि येन।

(शंकर प्रश्नोत्तरी-11)

–सारे जगत् को किसने जीता ? जिसने अपने को जीत लिया।

❑❑❑

जितेन्द्रिय व मनोजयी व्यक्ति की विषय-भोगों में प्रवृत्ति नहीं होती। वैराग्य व अनासक्ति के साथ-साथ समत्व-दृष्टि को विकसित करते हुए वह 'मोक्ष' की यात्रा में सतत अग्रसर रहता है– इस शाश्वत सत्य को वैदिक व जैन– इन दोनों धर्मों ने अपने-अपने तरीके से व्याख्यायित किया है।

काल बड़ा बलवान् है। कितने ही बड़े-बड़े शूरवीर, राजे-महाराजे, विशाल राजपाट कालकवलित होकर नष्ट हो गए, आज उनका नामों निशान भी नहीं है। काल की गति को कोई आज तक नहीं रोक पाया है। व्यक्ति के जीवन में जवानी, बुढ़ापा या मृत्यु की स्थितियां गतिशील काल के पदचिन्ह हैं। जीवन में अक्षमता, अस्वस्थता या मृत्यु की काली छाया मंडराए, उसके पूर्व ही धर्माराधना कर आत्मकल्याण कर लेना श्रेयस्कर है। वैदिक व जैन-इन दोनों धर्मों के आचार्यों/गुरुओं ने उक्त सत्य को एकस्वर से उद्घोषित किया है-

(1)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र- 14/25)

(2)

अत्येति रजनी या तु, सा न प्रतिनिवर्तते।

(वाल्मीकि रामायण-2/106/19)

- जो रात गुजर जाती है, वह फिर लौटकर नहीं आती।

(3)

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥

(दशवैकालिक सूत्र-8/36)

–जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, रोग नहीं बढ़ते, इन्द्रियां हीन-अशक्त नहीं हो जाती, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

(4)

न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत्॥

(महाभारत-2/56/10)

– रोग और यम (मृत्यु) इस बात की प्रतीक्षा नहीं करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया है या नहीं। अतः जब तक अपने में सामर्थ्य हो, बस, तभी तक अपने हित का साधन कर लेना चाहिए।

❑❑❑

काल की गति को रोक पाना तो सम्भव नहीं, किन्तु धर्माराधना से इसका सदुपयोग कर आत्मकल्याण किया जा सकता है। आत्मकल्याण कर सिद्ध - बुद्ध-मुक्त होने वाले व्यक्ति कालजयी होते हैं– यह सत्य वैदिक व जैन-इन दोनों धर्मों के साहित्य में मुखरित हुआ है।

स्वप्न देखना काल्पनिक लोक में विचरण करना है। नींद खुलते ही वह 'अयथार्थ' में बदल जाता है। स्वप्न में खाए हुए भोजन से पेट नहीं भरता। वस्तुतः जागृति की अवस्था ही यथार्थ है, इसी में किया गया प्रयास सार्थक होता है। मिथ्या धारणाओं, अन्धविश्वासों, मोह-अज्ञानग्रस्त विचारधाराओं से युक्त व्यक्ति जागृत अवस्था में नहीं कहा जा सकता। आत्म-कल्याण के मार्ग में वैसा व्यक्ति कभी अग्रसर नहीं हो पाता, उन्मार्ग में ही भटकता रहता है। वैदिक व जैन —इन धर्मों ने इस सत्य से परिचित कराकर अज्ञानी व्यक्ति को जगाने का सतत प्रयास किया है।

(1)

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी।

(उत्तराध्ययन सूत्र-4/6)

– इस ऊँघते हुए संसार में जागते रहना श्रेष्ठ है।

(2)

भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै स्वपनम्।

(यजुर्वेद-30/17)

–जागना ऐश्वर्यप्रद है, सोना दरिद्रता का मूल है।

(3)

सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरन्ति।

(आचारांग सूत्र-3/10)

-अमुनि (असंयमी) सदा सोते हैं, मुनि सदा जागते रहते हैं।

(4)

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।

(गीता-2/69)

- जो अन्य प्राणियों के लिये रात्रि है, आत्म-दृष्टि संयमी के लिये वही जागरण-वेला है।

❑❑❑

अज्ञान व असंयम निद्रा है, सम्यक् ज्ञान व संयम में अप्रमाद ही जागृति है। निद्रा छोड़ने और जाग कर आत्म-कल्याण में यथाशीघ्र तत्पर हो जाने के लिए वैदिक व जैन- इन दोनों धर्मों के आचार्यों ने समान रूप से तथा एक स्वर से उपयोगी उद्‌बोधन दिया है।

अज्ञान यानी अन्धकार। ज्ञान यानी प्रकाश। बिना प्रकाश के आध्यात्मिक यात्रा तो क्या, जीवन-यात्रा भी सुचारु रूप से निर्विघ्न सम्पन्न नहीं कर सकते। अन्धकार में व्यक्ति के पतन की संभावना रहती है, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति के भी पतित होने की सम्भावना रहती है। ज्ञानी व्यक्ति ही भले-बुरे की पहचान करने में सक्षम हो पाता है और उन आचरणों से बचता है जिनसे आत्म-अहित होता हो।इस दृष्टि से सदाचार की अपेक्षा ज्ञान की श्रेष्ठता व पूर्ववर्तिता मानी जाती है। संसार की समस्त वस्तुओं की अपेक्षा यदि आत्मतत्त्व को पूर्णतया जान लिया जाय तो अन्य वस्तुओंका ज्ञान स्वत: हो जाएगा, क्योंकि आत्मा के ज्ञान हेतु आत्मेतर पदार्थों के ज्ञान का होना स्वत: अपेक्षित है। वैदिक व जैन- इन दोनों धर्मों में की गई ज्ञान-विषयक चर्चा प्रस्तुत है-

(1)

पढमं नाणं तओ दया।

(दशवैकालिक सूत्र 4/10)

-पहले ज्ञान है, उसके बाद आचरण है।

(2)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

(गीता-4/38)

- इस लोक में ज्ञान के समान कुछ भी पवित्र नहीं है।

(3)

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।

(आचारांग सूत्र-1/3/4/124)

– जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।

(4)

आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

(बृहदारण्यकोपनिषद्-4/5/6)

–आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है।

(अज्ञान)

(5)

अन्नाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि।

(आवश्यक सूत्र-प्रतिक्रमण पाठ)

– मैं अज्ञान का परित्याग करता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।

(6)

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

(बृहदारण्यकोपनिषद्-1/3/28)

– मुझे अन्धकार से प्रकाश में ले चलो।

❑❑❑

ज्ञान की जीवन में क्या महत्ता है, सदाचार के क्षेत्र में ज्ञान की क्या उपयोगिता है और सर्वश्रेष्ठ ज्ञान क्या है-इस संबंध में वैदिक व जैन-इन दोनों धर्मों की चिन्तनधारा प्रायः समान है।

क्रोध महाविनाशक मनोविकार है। क्रोधाविष्ट व्यक्ति अपने आपे में नहीं रहता। वह उचित-अनुचित का भान भी खो बैठता है। फलस्वरूप, वह हिंसक पाप-कर्म में प्रवृत्त हो जाता है जिसका दुष्परिणाम दुःखदायी होता है। क्रोध को अपने अन्दर रखने का अर्थ है-एक शत्रु को अपने पास रखना।

क्रोध को जीतने के लिए शान्ति व क्षमा भाव को धारण करना जरूरी है। क्षमा से मन में प्रसन्नता का संचार होता है और पाप-कर्म के बंधन का भय भी नहीं रहता।

(1)

उवसमेण हणे कोहं।

(दशवैकालिक सूत्र- 8/39)

-शान्ति से क्रोध को जीतो।

(2)

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्।

(महाभारत, 5/39/72)

-अक्रोध से क्रोध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

(3)

कोहं च माणं च तहेव मायां लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।

एयाणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव ण कारवेइ॥

(सूत्रकृतांगसूत्र- 1/6/26)

-क्रोध, मान, माया और लोभ- ये चारों ही अन्तरात्मा के दोष हैं। महर्षि-समदर्शी साधक इन दोषों को हटा दे। इनके वश होकर पाप कार्य न करे, न कराए।

(4)

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा, विद्धयेनमिह वैरिणम्॥

(गीता- 3/37)

-रजोगुण से उत्पन्न हुए काम एवं क्रोध महाभक्षी-'सद्गुणों को निगल जाने वाले,' महापाप्मा-'बड़े-बड़े पाप-कार्यों में प्रवृत्त करने वाले' हैं। इन्हें अपना शत्रु समझो।

(क्षमा के सुपरिणाम)

(5)

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ।

(उत्तराध्ययन सूत्र-29/18)

- क्षमा करने से व्यक्ति को मानसिक प्रल्हाद (प्रसन्नता) की उपलब्धि होती है।

(6)

क्षमा गुणो हि जन्तूनाम्, इहामुत्र सुखप्रदः।

(आपस्तम्ब स्मृति, -10/5)

- क्षमा प्राणियों का एक ऐसा गुण है जो इस संसार में और परलोक में भी सुख प्रदान करता है।

(7)

पावं खमइ असेसं, खमाय पडिमंडिओ य मुणिपवरो।

(भावप्राभृत, 108,

– जो मुनिप्रवर क्षमा से सुशोभित है, वह समस्त पाप-कर्मों का क्षय करता है।

❑❑❑

क्रोध विनाशकारी व हिंसक वातावरण का जनक होता है। इसके विपरीत, क्षमा सुख व शान्ति का संवर्धन करती है। क्रोध की हेयता और क्षमा की उपादेयता के सम्बन्ध में वैदिक व जैन- ये दोनों धर्म एकस्वर से पूर्ण सहमत हैं।

किसी का तिरस्कार करना उसका अपमान करना होता है। अपमानित व्यक्ति अपने सम्मान पर चोट से अशान्ति व दुःख से ग्रस्त हो जाता है। अतः किसी का तिरस्कार करना एक हिंसक व पाप कार्य सिद्ध होता है। वैदिक व जैन- इन दोनों धर्मों ने इस कार्य को त्याज्य माना है।

(1)

न बाहिरं परिभवे।

(दशवैकालिक सूत्र- 8/30)

-किसी का भी अपमान नहीं करना चाहिए।

(2)

नावमन्येत कञ्चन।

(मनुस्मृति- 6/47)

-किसी की भी अवमानना-तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

❑❑❑

सभी आत्माएं एक समान हैं। अन्य का तिरस्कार करने वाला व्यक्ति स्वयं को श्रेष्ठ मानता है और अहंकार से ग्रस्त होता है। अतः किसी का तिरस्कार नहीं करना चाहिए-यह वैदिक व जैन- दोनों धर्मों द्वारा एकस्वर से किया गया उपयोगी उद्बोधन है।

जो मनोविकार आत्मा को अपवित्र बनाते हैं, उसकी ज्योति को धूमिल करते हैं, वे अधर्म हैं। इसके विपरीत, धर्म वह है जो आत्मा की पवित्रता व शुद्धता व निर्विकारता का संवर्धन करता है। इसी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में सरलता, निष्कपटता 'धर्म' हैं तो कुटिलता, माया व कपटता से भरा आचरण 'अधर्म' है। वैदिक व जैन- इन दोनों धर्मों ने उक्त सत्य पर अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त की है।

(1)

सोही उज्जुयूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 3/12)

-ऋजु/सरल आत्मा शुद्धि की ओर बढ़ता है। धर्म शुद्ध आत्मा में ही ठहरता है।

(2)

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते।

(महाभारत- 13/142/30)

- आर्जव-सरलता धर्म है और कुटिलता अधर्म। ❑❑❑

धार्मिक होने की प्राथमिक योग्यता निष्कपटता व सरलता है-इस तथ्य को वैदिक व जैन, दोनों धर्मों ने समान रूप से स्वीकार किया है।

परिवार में माता का असीम मधुर स्नेह तथा पिता का कठोर शिक्षाप्रद अनुशासन-इन दोनों से बालक के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। परिवार ही बालक का प्रथम विद्यालय होता है। कुछ बड़ा होने पर बालक जब विद्यालय जाता है तो योग्य गुरु-जनों के सान्निध्य में रह कर विद्याध्ययन व ज्ञानार्जन करता है। बालक को जन्म देने और उसके लालन-पालन में माता-पिता को जो क्लेश उठाना पड़ता है, उससे उऋण होना कभी संभव नहीं। किन्तु गुरु की महत्ता भी माता-पिता से कम नहीं होती। गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर एवं परब्रह्म के समकक्ष मान कर, उसे वन्दनीय व सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। वैदिक व जैन- इन दोनों धर्मों में भी इन तीनों की पूज्यता व महनीयता को समान रूप से निरूपित किया गया है।

(1)

अम्मापिऊ-सुस्सूसगा... ।

(औपपातिक सूत्र- 71)

-माता-पिता की सेवा करने वाले (भद्रप्रकृति के) सुपुत्र हैं।

(2)

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि सुश्रूषा तस्य वा वचन-क्रिया॥

(वाल्मीकि रामायण-2/19/22)

– (राम का कैकेयी को कथन)–पिता की सेवा करना या उसकी आज्ञा का पालन करना–इससे बढ़कर कोई अन्य धर्माचरण नहीं है।

(3)

नास्ति मातृसमो गुरुः।

(महाभारत, 12/108/18)

–माता के समान कोई 'गुरु' नहीं है।

(4)

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

(तैत्तिरीय उपनिषद्–1/11)

–माता, पिता और गुरु–आचार्य को देवता के समान समझो।

(5)

माता पिता कलाचार्यः एतेषां ज्ञातयस्तथा।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारः, गुरुवर्गः सतां मतः॥

(आ.हरिभद्र–कृत योगबिन्दु, 110)

–माता, पिता, कला–शिक्षक,इनके निकट सम्बन्धी जन, वृद्ध धर्मोपदेशक इन सभी को सज्जन 'गुरु' के रूप में (वन्दनीय) मानते हैं।

(6)

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।

(महाभारत–12/108/3)

(भीष्म का कथन–) माता–पिता और गुरु–जनों की पूजा करने को मैं बहुत सम्मान देता हूँ।

(7)

लद्धे वि मणुअजम्मे, अइदुल्लहा सुगुरूसामग्गी।

(गुरुप्रदक्षिणाकुलक-9)

– मनुष्य-जन्म मिलने पर भी सद्गुरु रूपी सामग्री का मिलना अतिदुर्लभ है।

(8)

गुरूर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः॥

(महाभारत-12/108/106)

–पिता व माता से भी अधिक श्रेष्ठ 'गुरु' होता है–ऐसा मेरा विचार है।

❑❑❑

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में माता-पिता-गुरु- इन तीनों का समान महत्त्व है। प्रत्येक का अपनी उपयोगिता की दृष्टि से अनुपम महत्त्व है। जैन व वैदिक- इन दोनों धर्मों में माता-पिता- गुरु,इन तीनोंकी महनीयता की स्वीकृति के साथ-साथ, इन्हें सर्वाधिक आदर दिया गया है।

माता, पिता, गुरुजन, वृद्ध व श्रद्धेय व्यक्तियों के प्रति आदर व सम्मान भाव को प्रदर्शित करने का साधन है— विनय। विनय श्रद्धालु व श्रद्धेय के मध्य आन्तरिक निकटता स्थापित करता है और फलस्वरूप श्रद्धेय के शुभाशीर्वाद प्राप्त कराने में सहायक होता है। ज्ञानार्जन के क्षेत्र में तो विनय की विशिष्ट उपयोगिता मानी गई है। विनय के द्वारा जितनी अधिक समीपता गुरु व शिष्य के मध्य स्थापित होती है, उतनी ही अधिक ज्ञानार्जन की सम्भावना शिष्य के लिए हो जाती है। विनयी शिष्य गुरु से मानसिक स्तर पर इतनी अधिक निकटता या तादात्म्य स्थापित कर लेता है कि गुरु के बिना बोले ही, उसके शारीरिक चेष्टा या संकेत से ही उनके मनोभाव को समझ लेता है और तदनुरूप आचरण करता है। श्रद्धा-भक्ति के कारण विनीत शिष्य नम्रता, सेवापरायणता आदि सद्गुणों से सम्पन्न होकर विद्यार्जन का उत्तम पात्र बनता है। भारतीय संस्कृति की सभी विचारधाराओं में, विशेषकर वैदिक व जैन— इन धर्म-परम्पराओं में, एकस्वर से ज्ञान की महत्ता को स्वीकार किया गया है।

(1)

जस्संतिए धम्म-पयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे।

(दशवैकालिक सूत्र- 9/1/12)

— जिनके पास धर्म का पाठ सीखे, उनके प्रति विनय करे।

(2)

आददीत यतो ज्ञानं, तं पूर्वमभिवादयेत्।

(मनुस्मृति- 2/117)

— जिनसे ज्ञान सीखे, उनका अभिवादन-वन्दन करना चाहिए।

(3)

जे आयरिय-उवज्झायाणं, सुस्सूसा वयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा॥

(दशवैकालिक सूत्र- 9/3/12)

— जो शिष्य आचार्यों और उपाध्यायों की सेवा करते हैं, उनकी आज्ञानुसार चलते हैं, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार जल से सींचे हुए वृक्ष।

(4)

अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनुस्मृति- 2/121)

— पूज्य जनों का सदा अभिवादन और वृद्ध जनों की सेवा करने वाले की आयु, विद्या, यश और बल बढ़ता है।

(5)

इंगियागार-संपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चइ।

(उत्तराध्ययन सूत्र-1/2)

— गुरु के इंगित तथा आकार-मनोभावों को जानकर कार्य करने वाला विनीत कहलाता है।

(6)

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः।

(गीता- 12/14)

— जिसने मुझे (परमेश्वर को) अपनी बुद्धि और मन अर्पित कर दिया, वही मेरा (परमेश्वर का) प्रिय भक्त है।

□□□

खेती के लिए या वृक्षों, पेड़-पौधों के अत्यधिक फलने-फूलने के लिए जल-वृष्टि या जल से सींचने की जो महत्ता है, वही महत्ता ज्ञानार्जन में 'विनय' की मानी गई है। सभी ज्ञानार्थियों को तथा श्रद्धेय से कृपा-प्रसाद के अभ्यर्थियों को 'विनय' का आश्रयण करना चाहिए— इस तथ्य को वैदिक व जैन— दोनों धर्म-परम्पराएं समान रूप से रेखांकित करती हैं।

संसार शब्द के दो अर्थ हैं— (1) जीव का विविध गतियों में संसरण, और (2) द्रव्यात्मक लोक। जीव की सांसारिक यात्रा का मूल या आधार है— उसकी कामनाएं व इन्द्रिय-विषय सेवन। संयम के मार्ग पर ज्योंही कोई जीव चल पड़ता है तो वह अपनी सांसारिक यात्रा की समाप्ति हेतु प्राथमिक प्रयास करता है।

द्रव्यात्मक लोक का यथार्थ स्वरूप यह है कि वह अनादि है, अनन्त है, शाश्वत-अविनशी है और उसका कोई कर्ता-रचयिता या स्रष्टा नहीं है। वैदिक व जैन धर्म-परम्पराएं भी उक्त तथ्य पर अपनी सहमति व्यक्ति करती हैं।

(संसरण)

(1)

एवं जं संसरणं णाणादेहेसु होदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि मिच्छाकसाएहिं जुत्तस्स॥

(द्वादशानुप्रेक्षा-33)

— मिथ्यात्व (अज्ञान) और कषाय (रागादि) से युक्त जीव का नाना शरीरों (क्रमशः) को ग्रहण करना व छोड़ना— यही संसार है।

(2)

सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम्॥

(महाभारत-12/28/50)

— यह अस्थिर जीवन वाला प्राणी विवश होकर एक लम्बे रास्ते (संसार) पर चला जा रहा है, जिस पर सभी चलते आए हैं।

(3)

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्य निर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु॥

(भागवत पुराण- 3/27/3)

— (कर्तृत्वाभिमानी जीव अपने) देह के संसर्ग से किये हुए (पुण्य-पापादि) दोष के कारण अपनी स्वाधीनता व शान्ति खो कर, उत्तम, मध्यम-नीच योनियों में उत्पन्न होता हुआ, संसार-चक्र में घूमता रहता है।

(4)

जे गुणे से आवट्टे।

(आचारांग सूत्र- 2/1)

— इन्द्रियों का विषय ही संसार है। (अर्थात् इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति ही संसार है, संसार का मूल है।)

(5)

काम ! जानामि ते मूलं, सङ्कल्पात् किल जायसे।
न ते सङ्कल्पयिष्यामि, समूलो न भविष्यसि॥

(महाभारत- 2/177/25)

— हे काम ! मैं तेरे मूल को जानता हूं। तुम मन के संकल्प से उत्पन्न होते हो। मैं तुम्हारा संकल्प नहीं करूंगा तो तुम समूल नष्ट हो जाओगे।

(6)

कामः संसारहेतुश्च।

(महाभारत- 3/313/98)

— कामनाएं संसार की हेतु हैं अर्थात् वे मनुष्य को संसार (जन्म-मरण चक्र) में बांधती हैं।

(7)

सयेहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडे त्ति य।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइ वि॥

(सूत्रकृतांग- 1/1/3/9)

जो अपनी अपनी युक्तियों से लोक को कृत, किया हुआ (बनाया हुआ) कहते हैं, वे वस्तु- स्वरूप को नहीं जानते। क्योंकि लोक कभी भी विनाशी नहीं है। (यदि कृत होता तो विनाशी होता।)

(8)

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म-फल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

(गीता- 5/14-15)

ईश्वर जीव को न कर्त्ता बनाता है, न उनके लिए कर्म या कर्म-फल की सृष्टि करता है। यह सब स्वभाव से होता है। ❑❑❑

संसार या लोक ईश्वररचित नहीं। यह त्रिकाली शाश्वत है। जहां तक जीव व संसार के मध्य भोक्ता व भोग्य के सम्बन्ध रूप 'संसार' (जीव-संसरण) की बात है, उसमें भी कोई ईश्वर कारण नहीं, जीव की कामभोग-तृष्णा व विषयसेवन की लालसा ही उक्त संसरण में मूल कारण है। वीतराग आत्मा रहता तो संसार में ही है, पर उसके लिए संसार भोग्य नहीं रह जाता— ये कुछ दार्शनिक विचार-बिन्दु हैं जिन पर वैदिक व जैन धर्म-परम्परा में सहमति दृष्टिगोचर होती है।

आत्मा अविनाशी है। तब फिर मृत्यु के बाद वह कहां रहती है? वह अपने कर्मों के अनुरूप, नया जन्म व नया शरीर धारण करती है। नये शरीर का धारण करना ही पुनर्जन्म है। यह पूर्व शरीर रूपी पुराने वस्त्र को छोड़कर भावी शरीर रूपी नये वस्त्र को धारण करने जैसा है। पुनर्जन्म लेकर, पुराने कर्मों का कुफल-सुफल भोगता हुआ जीवन नये कर्म भी बांधता है और परिणामस्वरूप पुनर्जन्म की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है, बशर्ते पुराने कर्मों के क्षय तथा नवीन कर्मों के न बंधने के लिए संयम व तप का मार्ग अपनाया न जाय।

जैन व वैदिक— दोनों धर्म-परम्पराओं की पुनर्जन्म के सम्बन्ध में एक समान वैचारिक चिन्तन-प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है।

(1)

सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवारं॥

(द्वादशानुप्रेक्षा- 68)

— समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं बचा है जहां ये सभी संसारी जीव कई बार उत्पन्न नहीं हुए हों तथा नहीं मरे हों।

(2)

न सा जाइ न सा जोणि, न तं ठ्ठाणं न तं कुलं।
न जाया न मुवा तत्थ, सव्वे जीवा अणन्तसो॥

(प्रकीर्णक)

—ऐसी कोई जाति, योनि, स्थान और कुल नहीं, जहां जीव अनेक बार न जन्में हों और न मरे हों।

(3)

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं॥

(द्वादशानुप्रेक्षा- 32)

— जीव एक शरीर को छोड़ता है और फिर नये शरीर को ग्रहण करता है, इस प्रकार फिर अन्य-अन्य नये-नये शरीरों को कई बार ग्रहण करता और छोड़ता है।

(4)

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइ मरिओसि।

(भावप्राभृत, 32)

— हे जीव! इस संसार में तूं अनेक जन्मान्तरों में कुमरण से मृत्यु को प्राप्त होता रहा है।

(5)

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चाऽर्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परन्तप॥

(गीता- 4/5)

शत्रु-विजेता अर्जुन! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म व्यतीत हुए हैं। (ज्ञान के निरतिशय उद्भास से) मैं उन्हें जानता हूं, तुम (अज्ञान आवृत होने के कारण) उन्हें नहीं जान पाते।

(6)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

(गीता- 2/22)

— जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर का त्याग कर दूसरे नये शरीर धारण करता है।

□□□

आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है– यह आत्मवाद का निस्कर्ष है। कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है, भले ही इस जन्म में या अगले जन्मों में– यह कर्मवाद का उत्स है। भारतीय संस्कृति के उक्त दोनों वादों को समन्वित करने वाला एक तीसरा फलितवाद है– पुनर्जन्मवाद। आत्मवाद, कर्मवाद व पुनर्जन्म के सम्बन्ध में वैदिक व जैन– दोनों धर्मों का दृष्टिकोण समान है।

मृत्यु प्रत्येक देहधारियों के लिए अवश्यम्भावी है। देह का संयोग 'जन्म' है तो देह का वियोग मृत्यु है। प्रत्येक संयोग का अन्त होता है, अतः जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी होती है। जन्मधारियों का मृत्युग्रस्त होना किसी सीमित प्रदेश में नहीं, अपितु समस्त लोक में दृष्टिगोचर होता है। देवता व उनके इन्द्र तक की आयु का कहीं न कहीं अन्त होता ही है। मृत्यु बड़ी निर्दय होती है। यह व्यक्ति को उसी प्रकार अचानक खींच कर ले जाती है, जिस प्रकार सिंह हिरण को एक झपट्टे में मुंह में दबोच कर ले जाता है।

जैन व वैदिक— दोनों धर्म-परम्पराएं धार्मिक उद्बोधन के प्रसंग में प्रत्येक व्यक्ति को मृत्यु की अनिवार्यता से परिचित कराना अपेक्षित समझती हैं ताकि वह व्यक्ति आत्म-कल्याण यथाशीघ्र कर ले।

(1)

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 14/23)

—यह लोक मृत्यु से अभ्याहत-आक्रान्त है, जरा-बुढापे से परिवारित-घिरा हुआ है।

(2)

मृत्युनाऽभ्याहतो लोको, जरया परिवारितः।

(महाभारत- 12/277/9)

— यह लोक मृत्यु से अभ्याहत-आक्रान्त है, जरा-बुढापे से परिवारित-घिरा हुआ है।

(3)

जहेह सीहोव मियं गहाय मच्चू णरं णेइ हु अंतकाले ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र- 13/22)

— जिस प्रकार सिंह मृग को पकड़ कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तिम समय में मृत्यु मनुष्य को उठाकर ले जाती है।

(4)

सुप्तव्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति।

(महाभारत- 12/175/18)

—सोये हुए मृग को सिंह की तरह मृत्यु प्राणी को ले जाती है।

❑❑❑

संसार में बहुत से पापों का कारण यह होता है कि पापी व्यक्ति अपनी मृत्यु के बारे में सचेत नहीं होता। मृत्यु की अवश्यम्भाविता तथा अनियतकालता को हृदयंगम करते ही व्यक्ति का पाप-कर्म में उत्साह कम हो जाता है, क्योंकि वह तब सोच रहा होता है कि जिन शरीर, परियार, धन-सम्पत्ति आदि के लिए वह पाप कर्म कर रहा है, उन्हें मृत्यु किसी भी समय छीन ही लेगी। इसी दृष्टि से, वैदिक व जैन- इन दोनों धर्म-परम्पराओं में मृत्यु की अवश्यम्भाविता को यत्र-तत्र रेखांकित किया गया है।

वैदिक व जैन— इन दोनों धर्मों में 'कर्मसिद्धान्त' को स्वीकारा गया है। कर्म सिद्धान्त पुरुषार्थवाद को साथ लेकर चलता है। अज्ञान व प्रमाद की अवस्था में किया गया असंयममय पुरुषार्थ कर्म-बन्धन व दुःख-परम्परा का कारण होता है, तो सम्यग्ज्ञान व अप्रमाद के साथ किया गया संयममय पुरुषार्थ मोक्ष व शाश्वत सुख का कारण होता है। इस प्रकार, बन्धन व मोक्ष— इन दोनों के पीछे व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ ही होता है।

उक्त दोनों पुरुषार्थों में मोक्ष के लिए किया गया पुरुषार्थ श्रेयस्कर होता है, क्योंकि मोक्ष का अर्थ है— सदा-सर्वदा के लिए सांसारिक बन्धनों से छूट जाना। मुक्ति प्राप्त होने के बाद, पुनः दुःखदायी बन्धन की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। उपर्युक्त चिन्तन-प्रक्रिया में वैदिक व जैन, दोनों ही धर्म-परम्पराएं सहभागिता रखती हैं।

(1)

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 32/7)

— राग-द्वेष (आन्तरिक परिणाम) ही कर्म-बन्धन के बीज (हेतु) हैं।

(2)

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।

(महाभारत- 12/251/7)

— काम (राग) का बन्धन ही बन्धन है, अन्य कुछ बन्धन नहीं है।

(3)

अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो।

(उत्तराध्ययन सूत्र- 14/19)

— तुम्हारा अपना बन्धन तुम्हारे आन्तरिक परिणामों पर निर्भर है।

(4)

बंधप्पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थे व।

(आचारांग सूत्र- 1/5/2)

— बन्धन से मुक्ति तुम्हारे ही हाथ में है।

(5)

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता- 6/5)

— आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करे, उसे गिराए नहीं।

(6)

अपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं।

(आवश्यकसूत्र, प्रतिक्रमण)

मुक्तात्माओं का स्थान वह है, जिसे सिद्धगति नाम से पुकारते हैं और जहां जाकर वापिस नहीं आते।

(7)

यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद् धाम परमं मम।

(गीता- 15/6)

— जहां जाकर (जीव) वापिस नहीं आते, वही मेरा परम स्थान है।

❑❑❑

बन्धन के लिए किसी अन्य को दोष देना तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसी अन्य परमेश्वर की कृपा पर आश्रित होना— ये दोनों ही मान्यताएं पुरुषार्थवाद के प्रतिकूल हैं। जैसे बन्धन हमारे अपने कर्मों का कुफल है, वैसे ही मोक्ष भी अपने पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। मुक्त होने का अर्थ है— आत्मीय शुद्ध स्वरूप 'परमेश्वरत्व' की प्राप्ति और संसार से पूर्णतः निवृत्ति। इस शाश्वत सत्य का वैदिक व जैन— दोनों धर्मों ने समर्थन किया है।

परमात्मा

जीवात्मा और परमात्मा— दोनों आत्मतत्त्व दृष्टि से समान हैं, किन्तु दोनों का स्वरूप एक दूसरे से विशिष्ट है। 'परमात्मा' शब्द ही यह संकेत करता है कि वह साधारण आत्माओं से 'परम' यानी श्रेष्ठतम है। वैदिक परम्परा के विविध दर्शनों में परमात्मा के स्वरूप को लेकर विविध मत-मतान्तर हैं, अतः उनमें एकमत्य नहीं है। फिर भी, उन सब में समानता के कुछ सूत्रों की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। वैदिक परम्परा के योग दर्शन में ईश्वर या परमात्मा को एक ऐसा विशिष्ट आत्मा (पुरुष-विशेष) माना गया है जो अविद्या, कर्म-बन्धन के शुभाशुभ फलों आदि से अस्पृष्ट होता है। साधक साधना में ईश्वर/परमात्मा को अपनी ध्यान-साधना का विषय या आलम्बन बनाता है। वैदिक परम्परा में यह भी मान्यता है कि परमेश्वर/परमात्मा लोकहित की दृष्टि से पृथ्वी पर अवतरित होता है, अतः वह लोकत्राता, जगन्नाथ, दीनबन्धु व भक्तवत्सल आदि विशेषणों के साथ पुकारा जाता है।

जैन परम्परा की मान्यता के अनुसार, सांसारिक बन्धनों से ग्रस्त एवं रागादिलिप्त आत्माएं 'जीवात्मा' हैं जब कि वीतराग एवं सांसारिक बन्धनों से अस्पृष्ट आत्माएं परमात्मा हैं। परमात्मा के भी दो भेद हैं— (1) विकल (विदेह) परमात्मा, और (2) सकल (जीवन्मुक्त) परमात्मा।

विकल (सिद्ध) परमात्मा अदृश्य होता है और इसलिए मित्र-शत्रु, हितकारी-अहितकारी आदि रूपों से परे होता है। किन्तु सकल (जीवन्मुक्त, अर्हत्) परमात्मा देहधारी एवं दिव्य तेज व अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न होता हुआ

ज्ञान-ज्योति का प्रचार-प्रसार करता हुआ लोककल्याणकारी, दीनबन्धु आदि के रूप में जन-जन का वन्दनीय बनता है। सभी मोक्षार्थियों के लिए उसका स्वरूप एक आदर्श होता है और उसकी शरण में गए अनेक प्राणी सज्ज्ञान प्राप्त कर, आत्म-कल्याण करने में सक्षम होते हैं।

उपर्युक्त विचार-बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में जैन व वैदिक— इन दोनों धर्मों की परम्परा में समानता के कुछ सूत्र प्रस्तुत उद्धरणों में मुखरित हुए हैं:—

(1)

जोई झाएउ णिय-आदं।

(नयचक्र- 348)

— योगी निज (परम) आत्मा का ध्यान करता है।

(2)

तत्थ परो झाइज्जइ।

(मोक्षप्राभृत- 4)

— परम आत्मा (परमात्मा-परमेष्ठी) ध्यान करने योग्य है।

(3)

ध्यायथ आत्मानम्।

(मुण्डक उपनिषद्- 2/2/6)

— (परम) आत्मा का ध्यान करें।

(4)

सर्वेन्द्रि[illegible]य, स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं प[illegible], तत्तत्त्वं परमात्मनः॥

(समाधिशतक-30)

—समस्त इन्द्रियों का निग्रह करके, स्थिर अन्तरात्मा द्वारा (ध्यान में) जो अनुभूति में आता है, वह परमात्मा तत्त्व है।

(5)

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येद् निगूढवत्।

(श्वेताश्वतर उपनिषद्- 1/4)

—ध्यान के अभ्यास द्वारा अन्तर्निहित-निगूढ (परमात्मा) देव का साक्षात्कार करे।

(6)

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।

(गीता- 15/11)

—योगी प्रयत्नशील होकर अपनी आत्मा में ही अवस्थित इस (परमात्मा) को देखते हैं- साक्षात्कार करते हैं।

(7)

जगणाहो, जगबंधू जयइ जगप्पियामहो भयवं।

(नन्दी सूत्र- 1)

—भगवान् महावीर जगत् के नाथ, जगत् के बंधु और जगत् के पितामह हैं।

(8)

सर्वलोकमहेश्वरं सुहृदं सर्वभूतानाम्।

(गीता- 5/29)

—परमात्मा सर्वलोक के महेश्वर और भूतमात्र के सुहृद्-बन्धु हैं।

(9)

लोगस्स उज्जोयगरे चंदेसु निम्मलयरा,
आइच्चेसु अहियं पयासयरा।

(आवश्यक सूत्र, चतुर्विंशतिस्तव)

—लोक में उद्योत करने वाले वे प्रभु चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल और सूर्य से भी अधिक प्रकाश करने वाले हैं।

(10)

प्रभाऽस्मि शशि-सूर्ययोः।

(गीता- 7/8)

— सूर्य और चन्द्रमा में उनकी प्रभा मैं ही हूं।

(11)

तेजस्तेजस्विनामहम्।

(गीता-7/10)

— तेजस्वियों का तेज मैं हूं।

(12)

अरिहंते सरणं पवज्जामि।

(आवश्यक सूत्र, सामायिक)

— मैं अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूं।

(13)

सिद्धे सरणं पवजजामि।

(आवश्यक सूत्र, सामायिक)

— मैं सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूं।

(14)

साहू सरणं पवज्जामि।

(आवश्यक सूत्र, सामायिक)

— मैं साधुओं की शरण स्वीकार करता हूं।

(15)

केवलि-पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

(आवश्यक सूत्र, सामायिक)

— मैं केवली-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूं।

(16)

तमेव शरणं गच्छ।

(गीता- 18/62)

— उस ईश्वर की ही शरण लो।

(17)

मामेकं शरणं व्रज।

(गीता- 18/66)

— तूं एक मेरी ही शरण में आ जा।

❑❑❑

परमात्मा समस्त लोक का नाथ व जगद्बन्धु है। सांसारिक दुःख से छूटने के लिए 'धर्म' एकमात्र उपाय है और धर्म के मूल उपदेष्टा के रूप में सर्वज्ञ परमात्मा की शरण जाना श्रेयस्कर होगा ही— इस वैचारिक प्रक्रिया में वैदिक व जैन— दोनों परम्पराएं सहभागी हैं।
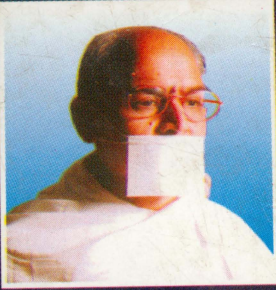
अभिमत

धर्म और संस्कृति का मतेक्य सदियों से रहा है। विचारकों के शब्द पृथक हो सकते हैं, किन्तु मानव कल्याण की भावना और जीवन का परितोष कभी नहीं बदलता। प्रत्येक युगीन विचारक ने इसे एक नया मुहावरा कुछ नये शब्द देकर आगे बढ़ाया है।

प्रस्तुत पुस्तक में भी समन्वयी धर्म प्रभावक आचार्य श्री सुभद्र मुनि जी म. ने भारतीय मनीषा की वैदिक एंव जैन संस्कृतियो के इन्हीं समन्वयी बिन्दुओं को रेखांकित किया है जिनका मूल कहीं न कहीं एक ही है। इस शोध आचार्य श्री जी ने में उदाहरणों के साथ विस्तार से एक एक विषय को समझाते हुए ऐसा सेतु बनाने की कोशिश की है जिसकी आवश्यकता सदैव रहती है। इन विचारों के हार्द में आचार्य श्री जी का प्रयास यह है कि इन विचारों को विचारक जब भी चिन्तन करें तो उसके आधार बिन्दुओं को अनदेखा न करें।

हमें आशा है कि आचार्य श्री द्वारा प्रस्तुत यह [illegible] केवल समन्वय की धारा को, [illegible] एकता को भी मजबूत [illegible]

-प्रकाशक

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन

4637/20, अंसारी रोड, दरियागंज

नई दिल्ली -110002